सरल श्रीमद्भगवद्गीता अनुशीलन

(संपूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता को आसानी से समझने
पर बांग्ला भाषा में एक ग्रंथ)

संपादना :

सेवन्ती सिन्हा

वि. ए. अनार्स (फार्स्ट क्लास), एम. ए. (फार्स्ट क्लास),
एम. फिल. (कलकाता विश्वविद्यालय), वि. एड (फार्स्ट क्लास)
पि. एच. डि. स्कलार (यादवपुर विश्वविद्यालय)
सहकारी अध्यापिका :
महाराणी काशीश्वरी कालेज
कलकाता।

बंगाली भाषा से हिंदी में अनुवाद :

आशिस् सिन्हा

संस्कृत बुक डिपो
२८/१, विधान सरणी
कलकाता-७००००६

Sales Counter কলেজ স্ট্রীটে
দি সংস্কৃত বুক ডিপো
৯০/৬এ, মহাত্মা গান্ধী রোড দোতলায়
কলকাতা-৭০০ ০০৭

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical including photocopying, recording or any information storage or retrieval system, without prior permission in writing from the holder of the Translator as well as copyright holders of this book.

प्रकाशक :

अभय वर्मन

संस्कृत बुक डिपो

२८/१, विधान सरणी

कलकाता-७०० ००६

डाक द्वारा पुस्तकों की डिलीवरी पाने के लिए संपर्क नंबर - 8017929233, 9433903734, 033-25294957.

© सर्वाधिकार संरक्षित : आशिस् सिन्हा एवं निवेदिता सिन्हा।

पहला प्रकाशन : ३.५. २०२४

दूसरा प्रकाशन : २०२४

ISBN No : 978-81-19611-93-4

मूल्य: मात्र 400 रुपया

अक्षर विन्यास तथा मुद्रण :

दि निउ जयकाली प्रेस

१/१, दीनबंधु लेन,

कलकाता - ७००००६

नम्र निवेदन

यह किताब हमारी स्वर्गवासी बेटी की बंगाली भाषा में लिखी किताब का शब्दश: हिंदी अनुवाद है। हम एक हतभाग्य पिता-माता हूँ जिनका एकमात्र संतान इस पुस्तक की लेखिका सेवन्ती सिन्हा कलकत्ता के बेथून कॉलेज से संस्कृत में प्रथम श्रेणी में ऑनर्स और कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम. ए. और एम. फिल तथा यादवपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत के शोधकर्ता और श्यामबाजार, कलकत्ता में महाराणी काशीश्वरी कॉलेज में सहकारी प्रोफेसर थी जो केवल ३३+की उम्र में कोविड से संक्रमित होने के कारण 03. 05. 2021 के दिन अचानक सुबह-सुबह संसार की माया त्यागकर अपने स्वर्गीय निवास विष्णुलोक के लिए प्रस्थान की। अपने बहुत ही छोटे जीवनकाल में उन्होंने बांग्ला भाषा में चार पुस्तकें लिखीं जिनमें से एक है 'सरल श्रीमद्भगवद्गीता अनुशीलन'। उनकी सपना था कि श्रीमद्भगवद्गीता को इस तरह प्रस्तुत किया जाए कि केवल वर्णमाला जानने वाला कम पढ़े लिखे लोग भी गीता को आसानी से पढ़ और समझ सके। इसी उद्देश्य से उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता के इस संस्करण को बहुत ही सरल तरीके से लिखी।

उनकी सपने को दूर तक फैलाने के लिए मैंने उनकी किताब का हिंदी में अनुवाद करने का दु:साहस किया। मेरा जन्म और पालन-पोषण पश्चिम बंगाल के एक छोटे से गाँव में हुआ। इसलिए मुझे हिंदी का अच्छा ज्ञान नहीं है। इसके बावजूद मैंने हृदय की अंतहीन और अथाह दर्द और पीड़ा के साथ अपनी बेटी की किताब का हिंदी में अनुवाद करने का दु:साहस किया। मैंने बंगाली से हिंदी में अनुवाद के लिए इंटरनेट के Apps की मदद से और साथ ही हिंदी के अपने कामकाजी ज्ञान की मदद से यह अनुवाद करने का प्रयास किया है। मैं अच्छी

तरह जानता हूँ कि हिंदी कोई आसान भाषा नहीं है। इसकी गहराई और आयाम बहुत विशाल है और इस भाषा में रचना करने की क्षमता हासिल करने के लिए काफी मेहनत करनी पड़ती है। परंतु मेरे पास इस प्रयोजन के लिए न तो कोई गुंजाइश है और न ही क्षमता। लेकिन मुझे लगा कि अगर मैं इस अथाह सागर में डुबकी लगाने का प्रयास नहीं करूंगा, तो मेरी दिवंगत बेटी द्वारा सम्पादित सबसे पवित्र ग्रंथ श्रीमद्भगवद्गीता को आम लोगों तक पहुँचाने का सपना पूरा नहीं हो पाएगा। इसी एकमात्र उद्देश्य से मैंने यह अत्यधिक कठिन कार्य को करने का दु:साहस किया। मुझे आशंका है कि मेरे अनुवाद में व्याकरण, लिंग, वचन, काल, सर्वनाम, वर्तनी आदि के संबंध में कई त्रुटियां हैं। इसके अलावा यह बड़े अफसोस की बात है कि मैं यहां सभी आदरसूचक शब्दों (Honorofics) का चयन ठीक से नहीं कर पाया क्योंकि यह मेरी जानकारी से बाहर है । मैं अपनी इस अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण विफलता के लिए सभी अनुभवी पाठकों से क्षमा चाहता हूँ।

मैं सुधीजन से हार्दिक प्रार्थना करूंगा कि वे इस पुस्तक में मेरी इस गलती के लिए मुझे क्षमा करें। यदि कोई सहानुभूतिशील पाठक इस पुस्तक में हिंदी भाषा की त्रुटियों को सुधारने में मेरी सहायता करें तो मैं सदैव उनका आभारी रहूँगा। इसके अलावा, गीता में कहा गया है कि जीव का शरीर जो आत्मा का वस्त्र है, उनका कोई मूल्य नहीं है। उसी प्रकार भाषा भी गीता जैसे परम पवित्र ग्रंथ के अंतर्निहित सत्य का वस्त्र है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि इस्तेमाल की गई भाषा में कुछ गलतियाँ हैं। वास्तविक सत्य तो गीता का तत्त्व है और इसका कितनी सरलता से वर्णन किया गया है, इसका निर्णय किया जाना चाहिए।

हालाँकि इस तथ्य में कोई दो राय नहीं है कि अनुवादित रूप में मूल पुस्तक का सार सटीक रूप से समाहित नहीं हो सकता है। इसलिए मैं सुधीजनों का सदैव आभारी रहूँगा यदि वे मेरे इस अनुवादित संस्करण को पढ़ने के बाद कुछ दिव्य आनंद प्राप्त कर सकें। इस संदर्भ में मैं सभी पाठकों से अनुरोध करना चाहूँगा कि वे मुझ पर दया करें और मेरी दुर्भाग्यपूर्ण मृत बेटी की इस पुस्तक की

गुणवत्ता के बारे में मुझे प्रतिक्रिया दें ताकि मुझे इस बुढ़ापे में मानसिक शांति मिल सके और साथ ही मेरी बेटी की दिवंगत आत्मा को भी मानसिक शांति मिल सके।

यदि किसी प्रकाशक को हमारी बेटी की यह पुस्तक या तो इसके बांग्ला संस्करण या हिंदी अनुवाद का या दोनों पसंद आती है और वे अपनी ओर से इस पुस्तक को प्रकाशित करना चाहते हैं, तो वे कृपया इस उद्देश्य के लिए हमसे संपर्क कर सकते हैं। हम इस प्रयोजन के लिए सहर्ष उन्हे अनुमति दे सकता हूँ ताकि मेरी पुत्री सहृदय पाठकों के हृदय में दीर्घकाल तक जीवित रहे।

अंत में, मैं यह बात आप सभी के ध्यान में लाना चाहता हूँ कि इस पुस्तक की प्रुफ-चेकिंग का कार्य मुझे ही करना पड़ा। मेरे पास इस काम को करने का बिल्कुल भी अनुभव और दक्षता नहीं है। फिर भी मुझे ७० साल की उम्र में मेरे खराब स्वास्थ्य और कमजोर दृष्टि के बावजूद मुझे इसे व्यक्तिगत रूप से करना पड़ा। इस कारण इस पुस्तक में कुछ मुद्रण संबंधी गलतियाँ रह सकती हैं जिनके लिए मैं सभी पाठकों से क्षमा चाहता हूँ। यदि भविष्य में इस पुस्तक का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ तो मैं इस क्षेत्र के कुछ अनुभवी व्यक्तियों की सहायता से सभी गलतियों को सुधारने का प्रयास करूँगा।

विनीत—

आशिस सिन्हा
निवेदिता सिन्हा
दमदम, कलि-७०००२८,
दूरभाष- 033-25294957,
8017929233,
9433903734.

मगंलाचरण

छत्रारिध्वजवल्लिपुष्पवलयान् पद्मोर्द्धरेखांकुशा-
नर्द्धेन्दुञ्च यवञ्च बाममनु या शक्तिं गदां स्यन्दनम्।
वेदीकुण्डलमत्स्यपर्व्वतदरं धत्तेऽन्वसव्यं पदं
तां राधां चिरमूनविंशतिमहालक्ष्म्याच्चार्ताऽङ्घ्रिं भजे।।

जो श्रीराधा अपने बाएं पैर में छत्र, चक्र, ध्वजा, लता पुष्प, वलय, पद्म, ऊर्ध्वरेखा, अंकुश, अर्धचंद्र और यव तथा दाहिने पैर में शक्ति, गदा, रथ, वेदी, कुंडल, मत्स, पर्वत और शंख धारण करती हैं और उन्नीस महालक्ष्मी सदैव समान रूप से जिनके चरणों की सदैव अर्चना करती रहती, मैं उन वृषभानुनन्दिनी श्यामसुहागिनी वृन्दावनविहारिणी सारदा वृन्दावनेश्वरी कमलासुन्दरी कृष्णाङ्गवासिनी जीवप्रदा त्रैलक्य सुन्दरी भवदु:खहन्त्रि कान्तारवासिनी वेदपरा क्षीरोदशायिनी कृष्णानन्दप्रदायिनी वृन्दावनविलासिनी परात्परा वेदगर्भा शैलवासिनी कृष्णचन्द्रप्रिया मति लज्जा कान्ति पुष्टि स्मृति नित्यगेहिनी धृति माधवसङ्गिनी निधुवननिवासिनी नारी-शिरोमणि जया-प्रदा भवसागर-तरणी महाभाव-शिरोमणि सर्व-जीवेश्वरी गति-प्रदा रासवासिनी कृष्णस्वरूपिनी परमानन्दरूपिनि रसिका दुर्गति-नाशिनी मदनमोहिनी जीवानन्द प्रदायिनी श्रीराधिका की भजना कर रहा हूँ।

सेवन्ती सिन्हा

कृष्ण-प्रणाम

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

हरिः पिता हरिः माता हरिः भ्राता हरिः सुहृत्।
हरिं सर्वत्र पश्यामि हरेः अन्य न भाति मे।।

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घ्ययते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्।।

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतः क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः।।

नमस्ते देवतानाथ नमस्ते गरुड़ध्वज ।
शङ्खचक्रगदापाणे वासुदेव नमोऽस्तुते ।।

नमस्ते निर्गुणानन्त अप्रतकर्याय वेधसे ।
ज्ञानाज्ञान निरालम्ब सर्वालम्ब नमोऽस्तुते ।।

रजोयुक्त नमस्तेऽस्तु ब्रह्ममूर्ते सनातन ।
त्वया सर्वमिदं नाथ जगत्सृष्टं चराचरम् ।।

सत्त्वाधिष्ठित लोकेश विष्णुमूर्ते अधोक्षज ।
प्रजापाल महाबाहो जनार्दन नमोऽस्तुते।।

भूरियं त्वं जगन्नाथ जलाम्बरहुताशनः ।
वायुर्बुद्धिर्मनश्चापि शर्वरी त्वं नमोऽस्तुते ।।

धर्मो यज्ञस्तपः सत्यमहिंसा शौचमार्जवम् ।
क्षमा दानं दया लक्ष्मीर्ब्रह्मचर्यं त्वमीश्वरः ।।

त्वं साङ्गाश्चतुर्वेदास्त्वं वेद्यो वेदपारगः ।
उपवेदो भवानीश सर्वोऽसि त्वं नमोऽस्तु ते ।।

लेखिका सेवन्ती सिन्हा की अन्य पुस्तकें :-

(1) VIDUṢAKA-BHĀSA AND KĀLIDĀSA-A COMPARATIVE STUDY,

(2) **भारतेर कृष्णभावना,**
(Krishna Consciousness of India)

(3) **छोटदेर बइ – छड़ार तोड़ा,**
(A Book of Rhymes for the kids – Garland of Rhymes.)

(4) **सरल श्रीमद्भगवद्गीता अनुशीलन (बंगाली भाषा में),**

(5) **आचार्य जयदेव विरचित चन्द्रालोक – एकटि समीक्षात्मक विश्लेषण।**
(A Critical Analysis of 'Chandraloka' written by Acarya Jayadeva.)

भूमिका (संक्षेप में)

सर्वोपनिषदो गावो # दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता # दुग्धं गीता-अमृतं महत्।।
सारथ्यम् अर्जुनस्य आदौ # कुर्वन् गीता-अमृतं ददौ ।
लोकत्रयः उपकाराय # तस्मै कृष्णात्मने नमः।।

(**अर्थः-** संपूर्ण उपनिषद एक गोमाता हैं, गोपालनंदन भगवान् श्रीकृष्ण दूध दुहनेवाला हैं, अर्जुन उन्हीं गोमाता के बछड़ा हैं और श्रीमद्भगवद्गीता उन्हीं गोमाता का अमृतोपम दूध है। सुधीजन उन्हीं अमृतोपम दूध को पीते हैं।

पहले जिन्होंने अर्जुन के रथ के सारथ्य स्वीकार करके त्रिलोक के कल्याण के लिए इस गीतारूप अमृत प्रदान किया, उन परम दयालु भगवान् श्रीकृष्ण को प्रणाम।)

संस्कृत मेरी पसंदीदा भाषा है, संस्कृत शास्त्र मेरा पसंदीदा शास्त्र हैं। इसीलिए मैंने अलग-अलग समय पर संस्कृत शास्त्रों के बारे में कुछ लिखने का प्रयास की। लेकिन शंकराचार्य, श्रीधरस्वामी, रामानुजाचार्य, लोकमान्य तिलक, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, ऋषि अरविंद, जगदीश चंद्र घोष, प्रभुपाद ए. सी. भक्तिवेदांतस्वामी जैसे महात्माओं ने जिस मैदान पर कदम रखा, मेरे जैसी अति साधारण मनुष्य के लिए उस महासागर जैसे श्रीमद्भगवद्गीता को संपादित करने का प्रयास करना सरासर दु:साहस के अलावा और कुछ नहीं है। इसीलिए मैंने यहां श्रीमद्भगवद्गीता का सही मायने में संपादन नहीं किया है। मैंने श्लोकों और उनके अर्थों को सहज और सरल भाषा में लिखने का प्रयास की ताकि कोई भी आम आदमी इसे पढ़कर उसके अर्थ को आसानी से समझ सके। वास्तव में श्रीमद्भगवद्गीता एक अपूर्व, अद्भुत एवं अतुलनीय

ग्रंथ है। कई हजार वर्ष पहले लिखी गई इस पुस्तक में कोई प्राचीन अंध संस्कार, ग्राम्यता-कुछ भी नहीं है। क्या आपने कभी यहां धृतराष्ट्र और संजय तथा कृष्ण और अर्जुन के बीच की बातचीत को सुना है और सोचा है कि यह सभ्यता के किसी प्राचीन, अज्ञानी काल का काम है? क्या आपको लगता है कि सभ्यता की रोशनी से वंचित अविकसित समाज में कुछ ग्राम्य भावना वाले लोगों ने असंगत, अवास्तविक और काल्पनिक कथनों को व्यवस्थित करके इस पुस्तक की रचना किया है? वस्तुतः श्रीमद्भगवद्गीता जैसी आधुनिक दृष्टि वाली कोई अन्य पुस्तक नहीं है। इस महान ग्रन्थ को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे आज २१वीं सदी में कोई खड़ा होकर बोल रहा है। वस्तुतः श्रीमद्भगवद्गीता की आधुनिकता असंदिग्ध है। पूर्णिमा रजनी के दौरान जब चंद्रमा मध्य गगन में होता है, तो चंद्रमा हमेशा सिर के ऊपर ही दिखाई देता है, जहाँ तक कोई जा सकता है, कोई भी चंद्रमा को पार नहीं कर सकता है। इसी तरह चाहे कितना भी समय बीत जाए, चाहे तथाकथित आधुनिक सभ्यता कितनी भी प्रगति कर ले, कोई भी गीता की आधुनिकता को पार नहीं कर सकता है। वस्तुतः श्रीमद्भगवद्गीता की आधुनिकता असंदिग्ध है।

चर्चा के आरंभ में श्रीमद्भगवद्गीता नाम के अर्थ पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। हमारे सामने दो महान ग्रंथ है— एक श्रीमद्भगवद्गीता और दूसरा श्रीमद्भागवत-महापुराण। एक में 'भगवत्' और दूसरे में 'भागवत'। पाठक के मन में यह सवाल उठता है कि आखिर एक में भगवत् और दूसरे में 'भागवत्' क्यों लिखें और अक्सर वर्तनी और उच्चारण में गलतियां हो जाती हैं। इसलिए मैं सोचता हूँ कि अगर इस बात को समझा दिया जाए तो उनका संदेह दूर हो जाएगा।

'श्री' शब्द का अर्थ है ऐश्वर्यशाली और 'भगवत्' शब्द का अर्थ है परम पूजनीय। अतः 'श्रीमद्भगवद्गीता' शब्द का अर्थ है परम ऐश्वर्यशाली परम

पूजनीय गीता। और 'भागवत' शब्द का अर्थ है भगवान् का भक्त, उपासक या पूजक। फिर 'श्रीमद्भागवत-महापुराण' शब्द का अर्थ है भगवान् की आराधना या उपासना करने वाला परम ऐश्वर्यशाली पुराण। इसलिए गीता परम भगवत् अर्थात् परम पूजनीय स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण है। गीता कोई किताब नहीं है, वे भगवान् कृष्ण का दूसरा रूप हैं, वे भगवान् कृष्ण की तरह विष्णु के पूर्ण अवतार हैं। परंतु वे श्रीकृष्ण की तरह हमारी मायावी प्रत्यक्ष दृष्टि में दिखने वाला हाड़-मांस का अवतार नहीं हैं, वे अक्षर के रूप में श्रीकृष्ण अवतार हैं (इसकी चर्चा मेरी दूसरी पुस्तक 'भारत की कृष्णभावना' में विस्तार से है)। तो जैसे श्रीकृष्ण परम पूजनीय हैं, वैसे ही श्रीमद्भगवद्गीता भी हमारे लिए परम पूजनीय हैं, परम वंदनीय हैं। इसीलिए गीता को भगवत् अर्थात् परम पूज्य गीता कहा जाता हैं। इसलिए जब भी हम 'श्रीमद्भदवद्गीता' कहते हैं तब हम स्वचालित रूप से परम पूजनीय 'श्रीकृष्ण' ही कहते हैं। इसलिए, जिस प्रकार एक भक्त जो एकनिष्ठ भाव से भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करता है, उन्हें कृष्ण के दर्शन, कृपा और आनुकूल्य मिलेगी, उसी प्रकार यदि वह प्रतिदिन श्रीमद्भदवद्गीता का पाठ और अभ्यास करता है, तो उन्हें भी कृष्ण के दर्शन, कृपा और आनुकूल्य मिलेगी।

गी: या गीरा शब्द का अर्थ है वाक्य, वचन, वाणी, भाषा। इसीलिए बाग्देवी अर्थात् वाणी की देवी सरस्वती का दूसरा नाम गिर्देवी है। अत: जिसमें भगवान् के वचनों का भली-भांति वर्णन है उन्हें श्रीमद्भगवद्गीता कहते हैं। इस महान पवित्र ग्रंथ श्रीमद्भगवद्गीता को भगवान् ने स्वयं कैसे देखा, उन्होंने स्वयं श्रीवैष्णवतंत्रसार में घोषित किया हैं–

गीता मे हृदयं पार्थ # गीता मे सारम् उत्तमम्।
गीता मे ज्ञानम् अत्युग्रं # गीता मे ज्ञानम् अव्ययम्।।
गीता मे च उत्तमं स्थानं # गीता मे परमं पदम्।
गीता मे परमं गुह्यं # गीता मे परमो गुरु:।।

गीता आश्रये अहं तिष्ठामि # गीता मे परमं गृहम्।
गीताज्ञानं समाश्रित्य # त्रिलोकीं पालयामि अहम्।।

अर्थात् गीता मेरे हृदय है, गीता ही मेरे सारसर्वस्व है, गीता ही मेरे परम एवं शाश्वत ज्ञान है, गीता ही मेरे सर्वोत्तम स्थान है, गीता ही मेरे परम पद है, गीता ही मेरे परम गुप्त ग्रन्थ है, गीता ही मेरे परम गुरु है। मैं गीता का आश्रय लेकर स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों लोकों को पालन करता हूँ।

संक्षेप में 'श्रीमद्भगवद्गीता' स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं और 'श्रीमद्भागवत-महापुराण' भगवान् श्रीकृष्ण के परम भक्त, उपासक या पूजक हैं। इसलिए पाठक को 'भगवत्' 'और 'भागवत' दोनों शब्दों का अर्थ जानना आवश्यक है।

हर राष्ट्र का एक संविधान होता है। संविधान राष्ट्र के कार्यों को निर्दिष्ट और निर्देशित करता है। किसी भी राष्ट्र के लिए संविधान का उल्लंघन करके कोई भी कार्य करना कदापि संभव नहीं है। यदि संविधान की अनदेखी करके कोई भी कार्य किया जाएगा तो उस राष्ट्र का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा।

उसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता सम्पूर्ण मानव जीवन का संविधान हैं। बेहतर मानव जीवन पाने के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इसके हर पहलू का उल्लेख इस महान ग्रन्थ में किया गया है। यदि कोई इन सभी उपदेशों और निषेधों का पालन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करे तो मनुष्य का जीवन स्वर्गीय हो जायेगा। लेकिन यदि कोई इसके विपरीत करने का प्रयास करे तो मानव जीवन और समाज अनिवार्य रूप से नष्ट हो जायेगा। संस्कृत के विद्यार्थी के रूप में मैंने यह देखकर प्रसन्नता महसूस की है कि समाज में बहुत से लोग गीता पढ़कर आनंद और ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। लेकिन मुझे बड़े दुख के साथ यह देखना पड़ा है कि समाज में बड़ी संख्या में लोग गीता का पाठ नहीं कर पाते। कुछ सामान्य पाठक बड़े

उत्साह के साथ गीता का पाठ करने में आगे बढ़ते हैं, लेकिन एक-दो श्लोक पढ़ने के बाद उन्हें पाठ अधूरा छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ता है क्योंकि गीता के कई श्लोकों में एक से अधिक पद जुड़े हुए हैं जो पाठक की मातृभाषा की लिपि में लिखे जाने पर भी आम पाठक द्वारा नहीं समझे जा सकते। इसीलिए उन्हें श्रीमद्भगवद्गीता जैसे महान ग्रंथ पढ़ने के आनंद से वंचित रहना पड़ता है। परंतु मैंने देखा है कि यदि उन जुड़े हुए पदों को अलग कर दिया जाए तो ही पाठक उन्हें आसानी से पढ़ सकता है और उन सभी श्लोकों का अर्थ भी कुछ हद तक समझ सकता है। उदाहरण के लिए, तीसरे अध्याय के २५वें श्लोक का भाग 'कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोक-संग्रहम्', पांचवें अध्याय के सत्रहवें श्लोक का भाग 'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः', छठे अध्याय के नौवें श्लोक का भाग 'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु', नौवें अध्याय के सोलहवें श्लोक का भाग 'मन्त्रोहमहमेवाज्यमहमग्निरहम्', आदि पदों यहां उद्धृत की गई हैं। जब ये श्लोक आम पाठक के सामने आते हैं तो पहले तो वह इन्हें आसानी से नहीं पढ़ सकते। यदि वह किसी प्रकार उनका पाठ भी कर ले तो वह उनका अर्थ नहीं समझ पाएगा और यदि ऐसे श्लोक एक के बाद एक उनके सामने आते जाएंगे तो उनका गीता पढ़ने का धैर्य समाप्त हो जाएगा। परंतु यदि 'कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्' को संधिविच्छेद करके 'कुर्यात् विद्वान् तथा असक्तः चिकीर्षुः लोकसंग्रहम्' किया जाए अथवा 'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः' को संधिविच्छेद करके 'तत् बुद्धयः तत् आत्मानः तत् निष्ठाः तत् परायणाः' किया जाए अथवा 'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु' श्लोक को संधिविच्छेद करके 'सुहृद्-मित्र-अरि-उदासीन-मध्यस्थ-द्वेश्य-बन्धुषु' के रूप में या 'मन्त्रोहमहमेवाज्यमहमग्निरहम्', श्लोक को संधिविच्छेद करके 'मन्त्रः अहम् अहम् एव आज्यम् अहम् अग्निः अहम्' इत्यादि लिखित रूप में प्रस्तुत किया जाए तो उस पाठक इन श्लोकों को बहुत आसानी से पढ़ सकेंगे और इन्हें

पढ़ते समय इनका अर्थ का भी कुछ अंदाजा लगा सकेंगे। इसलिए, इस पुस्तक में, मैंने संधिबद्ध पदों को संधिविच्छेद करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। नि:संदेह, मैंने सभी संधिको नहीं तोड़ा है। मैंने उन संधियों को अलग नहीं किया जिनके पढ़ने या समझने में सामान्य पाठकों को कोई कठिनाई नहीं होती है या जिन्हें वे सुनने के बहुत आदी हैं, या जहां संधियों तोड़ने से पढ़ने का प्रवाह या लय बाधित होती है। मैंने लुप्त 'अ'कार के प्रयोग से पूरी तरह परहेज किया है क्योंकि आम पाठक इससे परिचित नहीं हैं। कभी-कभी बड़े शब्दों के बीच हाइफन का उपयोग किया है ताकि सामान्य पाठक उन्हें आसानी से पढ़ सके। इसके अलावा, कई स्थानों पर छंदों के पादों को विभाजित करने के लिए संधि को विभाजित करना आवश्यक हो गया है। हालाँकि, कुछ किताबें ऐसी हैं जहां हमें श्लोकों के अन्वय मिलते हैं जहां संधियों को अलग करने के बाद पदोंको प्रस्तुत किया जाता हैं। लेकिन जब एक आम पाठक गीता पढ़ना चाहता है तो उसके लिए हर कदम पर अन्वय को देखकर गीता का पाठ करके उनका रस निकालना संभव नहीं है। और यही मेरी इस छोटी सी कोशिश का कारण है।

मेरी मुख्य उद्देश्य है आम पाठक को गीता आसानी से पढ़ने में मदद करना। हालाँकि, मेरी इस प्रयास के कारण मुझे कहीं न कहीं व्याकरण से समझौता करना पड़ सकता है। दूसरी ओर, संरक्षनवादी कह सकते हैं कि यह पुस्तक गीता का उपस्थापित करने की पारंपरिक प्रथा का उल्लंघन करती है। परंतु जो भी हो, यदि संस्कृत का ज्ञान न रखने वाले इच्छुक पाठक इस पुस्तक की सहायता से आसानी से गीता पढ़ने का आनंद ले सकें, तो मैं अपने प्रयास को सार्थक मानूंगी । मेरी कहना यह है कि एक भूखे आदमी को पहले खाना चाहिए और अपनी जान बचानी चाहिए, उसके शरीर के पोषण के बारे में बाद में सोचा जा सकता है। गीता के श्लोकों का अर्थ लिखना कोई नई बात नहीं है। बाजार में गीता की अनेक पुस्तकें हैं जिनका अनुवाद लगभग एक जैसा है। लेकिन कई ग्रंथों की भाषा बेहद गंभीर है और

अनुवाद में गीता का तत्त्व के कई शब्दों का इस्तेमाल किया गया है जिनका थोड़ा सा विश्लेषण किए बिना आम पाठक के लिए इनका अर्थ समझना मुश्किल है। इसलिए, मैंने यहां मूल श्लोकों का बहुत ही सरल भाषा में अनुवाद किया है और यथासंभव अनुवाद में विशेष अर्थ रखने वाले पदों के अर्थ का विश्लेषण करने का प्रयास किया है ताकि कोई भी पाठक इसके अर्थ को समझ सके। संपूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता ग्रंथ मूल रूप से व्यासदेव द्वारा अनुष्टुप् छंद में प्रति पाद ८ अक्षरों के साथ रचित है। हालाँकि, प्रति पाद ११ अक्षरों वाले त्रिस्तुप् छंद के कुछ श्लोक भी हैं। यदि श्लोकों को आरंभ से अंत तक लगातार पढ़ा जाए तो श्लोकों के अर्थ और रस को ठीक से समझने में बाधाएं आएंगी। इसलिए जिस छंद में जिस श्लोक रचा गया है, यदि उस श्लोक को उसी छंद के नियमों का अनुसरण करते हुए वह श्लोक का पाठ किया जाए, तो तभी श्लोक का अर्थ और सार समझ में आएगा। श्लोकों की प्रत्येक पंक्ति में दो चरण होते हैं और प्रत्येक चरण के अंत में एक छोटी यति या विराम के साथ पढ़ना होता है। परंतु सामान्य पाठक के लिए यह समझना संभव नहीं है कि पिछला चरण कहाँ समाप्त होता है और अगला चरण कहाँ से शुरू होता है, और यह छंदों के नियम सिखाने का स्थान नहीं है। और सामान्य पाठक के लिए मूल पाठ को पढ़कर प्रत्येक पाद के ८ या ११ अक्षर वास्तव में कहाँ है यह समझना संभव नहीं होगा। लेकिन बहुत संक्षेप में हम बताते हैं कि वर्णों की गिनती करते समय, जोड़े गए वर्णों को एक वर्ण के रूप में गिना जाना चाहिए और हल्-अन्त वाले वर्णों को इस गिनती में शामिल नहीं किया जाएगा। फिर, इस पुस्तक में सामान्य पाठकों की सुविधा के लिए, मैंने श्लोक के अधिकांश संधियों को अलग कर दिया है और इसे समझने में आसान बनाने के लिए प्रत्येक पंक्ति के पहले चरण यानी पाद के अंत में जहां विराम होगा वहां मैंने एक '#' चिह्न लगाया है जिससे यह समझना आसान हो जाता है कि यति या विराम कहाँ होगा। मुझे उम्मीद है कि इसके बाद पाठकों के लिए यह आसानी से समझना मुश्किल नहीं होगा

कि छंद के नियमों के अनुसार यति या विराम कहाँ होगी और उसी के अनुसार गीता पढ़ने से पाठक को गीता का अर्थ समझने में मदद मिलेगी।

प्रसंगवश, संस्कृत में अनुनासिक अक्षर अनुस्वार और 'म्' की लिखावट और उच्चारण के बारे में कुछ कहा जाना जरूरी है।

(१) आम पाठक देखते हैं कि कभी-कभी दो शब्दों के अंत में एक साथ एक स्थिति में अनुस्वार और दूसरी स्थिति में 'म्' लिखा होता है। उनके मन में सवाल उठता है कि इतने अंतर का कारण क्या है और अगर वह खुद लिखेंगे तो अनुस्वार कब लिखेंगे और 'म्' कब लिखेंगे। उनमें से कई लोगों ने मुझसे इस बारे में सवाल पूछे हैं। अत: सामान्य पाठक के मन से इस शंका को दूर करने के लिए मैं नीचे संक्षेप में इस पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयास कर रही हूँ –

(क) जिस शब्द के अंत में अनुस्वार या 'म्' लिखने की बात आती है, यदि उस शब्द के बाद आने वाला शब्द व्यंजन वर्ण से प्रारंभ होता है तो पूर्ववर्ती शब्द के अंत में अनुस्वार लगाया जायेगा, अर्थात् बहुत संक्षेप में— यदि बाद में व्यंजन वर्ण है तो पूर्ववर्ती वर्ण अनुस्वार आएगा जैसे – ग्रामं गच्छति। यहाँ चूँकि 'गच्छति' शब्द व्यंजन अक्षर 'ग' से शुरू होता है, इसलिए इसके पिछले शब्द 'ग्राम' के अंत में अनुस्वार लगाया जाता है। दूसरा उदाहरण—उत्तरस्यां दिशि। यहाँ अगला शब्द 'दिशि' व्यंजन अक्षर 'द' से शुरू होता है इसलिए पूर्ववर्ती शब्द 'उत्तरस्यां' के अंत में अनुस्वार है।

पुन:, यदि देखा जाए कि किसी शब्द के अंत में अनुस्वार या 'म्' लिखने का प्रश्न है तो यदि उस शब्द के बाद में आने वाला शब्द स्वर से शुरू होता है, तो उसके पहले शब्द के अंत में 'म्' लगेगा, यानी संक्षेप में— यदि उसके बाद कोई स्वर है, तो पिछला अक्षर 'म्' होगा जैसे – अहम् अस्मि। यहां 'अहम्' शब्द के बाद 'अस्मि' शब्द स्वर 'अ' से शुरू होता है। इसीलिए 'अहम्' शब्द के अंत में 'म्' है। दूसरा उदाहरण-बीजम्

अव्ययम्। यहाँ 'बीजम्' शब्द के बाद 'अव्ययम्' शब्द स्वर 'अ' से प्रारम्भ होता है। इसीलिए 'बीज' शब्द के अंत में 'म्' लगाया जाता है। ध्यान दें कि यदि किसी शब्द के बाद कोई शब्द नहीं है (उदाहरण के लिए किसी श्लोक की प्रत्येक पंक्ति के अंत में) तो उस अंतिम शब्द के अंत में (जहां भी यह आवश्यक है) हमेशा 'म्' होगा।

अब अनुस्वार और 'म्' की अगल-बगल स्थिति का एक उदाहरण देते हैं— 'अहं स्वधा अहम् औषधम्'। यहाँ 'स्वधा' शब्द व्यंजन अक्षर 'स' से शुरू होता है। इसीलिए इसके पूर्ववर्ती शब्द 'अहं' के अंत में अनुस्वार हो गया है। पुनः 'औषधम्' शब्द 'अ' स्वर से प्रारंभ होता है। इसीलिए इसके पूर्ववर्ती शब्द 'अहम्' के अंत में 'म्' हो गया है।

संस्कृत में अनुस्वार का उच्चारण हर जगह एक जैसा नहीं होगा।

वर्णमाला में पाँच अनुनासिक अक्षर होते हैं — ङ, ञ, ण, न और म। प्रयोग की स्थिति के अनुसार अनुस्वार का उच्चारण इनमें से कोई एक जैसा होगा—

अनुस्वार के बाद यदि—

(१) क से ङ तक कोई अक्षर हो तो अनुस्वार का उच्चारण किया जाएगा— ङ जैसे कि अं + ग = अंग बंग आदि;

(२) च से ञ तक कोई अक्षर है तो अनुस्वार का उच्चारण होगा- ञ जैसे कि चञ्चु (चंचु), चञ्चल (चंचल) आदि;

(३) ट से ण तक कोई अक्षर है तो अनुस्वारका उच्चारण होगा- ण अर्थात् मण्डन (मंडन), गण्ड (गंड) आदि।

(४) त से न तक कोई अक्षर है तो अनुस्वारका का उच्चारण होगा— न अर्थात् दन्त (दंत), अन्त (अंत) आदि।

(५) प से म तक कोई अक्षर है तो अनुस्वार का उच्चारण होगा - म अर्थात् पम्पा (पंपा), बिम्ब (बिंब) आदि।

(६) कोई अवर्गीय वर्ण (यानी क से म तक वर्णों को छोड़कर बाकी सभी व्यंजन वर्णों) है तो उसके पूर्ववर्ती अनुस्वार का उच्चारण 'म्' होगा।

हालाँकि, स्थान के आधार पर अनुस्वार का उच्चारण कैसा होगा, इसकी पूरी गणना कर पाना सामान्य पाठक के लिए संभव नहीं है। इसलिए आम पाठकों को मेरी सलाह है कि पढ़ते समय इतनी सारी गणनाएं दिमाग में रखने की जरूरत नहीं है। इससे उन्हें गीता के सार का आनंद लेने में कोई समस्या नहीं होगी। इतना सूक्ष्म निर्णय वे लोग करेंगे जो संस्कृत का अभ्यास करते हैं, जो संस्कृत भाषा के छात्रों को संस्कृत का पाठ पढ़ाते हैं। हालाँकि, यदि कोई जिज्ञासु पाठक इसके बारे में जानना चाहता है तो इसलिए मैंने इसे यहाँ प्रस्तुत की है। सामान्य पाठक का उद्देश्य है गीता को आसानी से पढ़ना और सामान्य रूप से समझना। उनके लिए, यदि इस नियम से थोड़ा भी परहेज किया जाए, तो ऐसा कोई भी गंभीर नुकसान नहीं होगा, लेकिन यथासंभव शुद्ध उच्चारण करने का प्रयास करना आवश्यक है।

भुमिका समाप्त करने से पहले मैं मन का एक खेद व्यक्त करना उचित समझती हूँ। यह बहुत स्वाभाविक है कि हमारे देश के अधिकांश लोग संस्कृत भाषा नहीं जानते। लेकिन फिर भी बड़ी संख्या में लोग संस्कृत ग्रंथों के बारे में जानने में रुचि रखते हैं क्योंकि संस्कृत ग्रंथों के भीतर जो संपूर्ण ज्ञान संग्रहीत है, वह दुनिया में कहीं भी नहीं है। परंतु अधिकांश लोगों को संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण इसका वास्तविक अर्थ क्या है, यह जानने की सुविधा ही नहीं होती, इसलिए वे अपनी भाषा में अनुवादित कुछ ग्रन्थों से ही थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और गलत मत प्रस्तुत करते हैं। परिणामस्वरूप समग्र रूप से शास्त्रों का उद्देश्य गहराई से नष्ट हो जाता है। ये बड़े अफसोस की बात है। इन अज्ञानी लोगों का अधूरा ज्ञान कैसे सही अर्थ को विकृत कर देता है, इसका एक उदाहरण मैं यहां उद्धृत कर रही हूँ। एक बार एक स्कूल अध्यापक ने कक्षा के विद्यार्थियों से एक कविता का अर्थ जानना चाहा—

सरोवरे भासितेछे कमल-सुन्दर।
कि आश्चर्य धरियाछे शोभा मनोहर।

इसका वास्तव में अर्थ है – तालाब पर एक कमल तैर रहा है और उन्होंने

असाधारण सौंदर्य धारण कर लिया है।

लेकिन एक अत्यंत उत्साही छात्र ने तुरंत उत्तर दिया - कमल और सुंदर नाम के दो युवक झील में तैर रहे हैं और क्या आश्चर्य है कि मनोहर नाम का एक अन्य युवक शोभा नाम की एक लड़की को पकड़ लिया।

आज-कल सड़कों पर, सभाओं में, संघों में, मीडिया में आम लोगों द्वारा शास्त्रों की यही व्याख्या की जाती है। इसलिए इन सभी लोगों से मेरा विनम्र अनुरोध है कि पहले शास्त्रों को अच्छी तरह से पढ़ें और उनके सही अर्थ को समझें और उसके बाद ही उनके बारे में अपनी राय समझाने का प्रयास करें। कृपया शास्त्रों की विकृत, काल्पनिक व्याख्या करके शस्त्रों को बदनाम न करें।

एक और बात। गीता परम वस्तु हैं, श्रीकृष्ण परम तत्त्व हैं। उन्हें जानने और समझने की एकमात्र आवश्यक शर्त है उस शाश्वत, निष्कलंक, अजर, अमर, अव्यय, अनंत तत्त्व परमेश्वर भगवान् के प्रति अनन्यभक्ति और उनके उपदेशों पर बिना शर्त विश्वास, पूर्णहृदय सम्मान और अनन्य श्रद्धा। श्रीमद्भगवद्गीता उन लोगों के लिए नहीं है जिनमें यह दिव्य गुण नहीं है, जिनके हृदय उनके प्रति घृणा, संदेह, अनादर से भरे हुए हैं। इस महाग्रन्थ और परम तत्त्व से दूर रहना ही उनके लिए बेहतर है। इस ग्रंथ के अठारहवें अध्याय के ६७वें श्लोक में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने यही कहा है। 'श्रीरामचरितमानस' (उत्तरकाण्ड—२२१) में हम गोस्वामी तुलसीदास के मुख से सुनते हैं—

यह न कही जो सठ हठसीलहिँ।
जो मन लाइ न सुन हरिलीलहिँ।।
कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि।
जो न भजइ सचराचर स्वामिहि।।

अर्थात् जो दुष्ट, हठी है, जिसका हरिकथा सुनने में कोई रुचि नहीं है, जो लोभी, कामी, क्रोधी हैं, जो भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा नहीं करते उन्हें यह ग्रन्थ नहीं सुनाना चाहिए।

—सेवन्ती सिन्हा

गीतापाठ विधि

गीता हमारे लिए कोई दूर की वस्तु नहीं है, गीता हमारी आत्मा हैं, जीवन का खजाना है। इसलिए गीता पढ़ने के लिए शास्त्रों में कोई सख्त नियम नहीं हैं। लेकिन निश्चित रूप से श्रीमद्भगवद्गीता जैसे महान पवित्र, संसार में अतुल महाग्रंथ को पढ़ते समय पाठक को कुछ विधि का पालन करना चाहिए। गीता पाठ करने वाले को पवित्र मन, पवित्र शरीर, पवित्र वसन, पवित्र स्थान और पवित्र आसन पर उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके बैठकर गीता का पाठ करना चाहिए। गीता पाठ के आरंभ में निम्नलिखित गुरुप्रणाम मंत्र का उच्चारण करना चाहिए -

अखन्डमन्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुदेवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।
अज्ञान तिमिरांधस्य ज्ञानांजन शलाकया।
चक्षुः उन्मिलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

फिर माता-पिता को प्रणाम करें-

पिता स्वर्ग पिता धर्म पिताहि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रियन्ते सर्वदेवता।।
माता जननी धरित्री दयाद्र हृदया सती।
देवीभ्यो रमणी श्रेष्ठा निर्दोषा सर्व दुःख हरा।

फिर हाथ जोड़कर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र का तीन बार जाप करें और फिर गीता पर फूल माला चढ़ाएं।

फिर हाथ जोड़कर निम्नलिखित मंत्रों का उच्चारण करें -

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीता माला मंत्रस्य श्रीभगवान् वेदव्यास ऋषि: अनुष्टुप् छंद: श्रीकृष्ण परामात्मा देवता।

"अशोच्यान् अन्वशोच: त्वं प्रज्ञावादान् च भाषसे" (२।११) इति बीजम्।

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (१८।६६) इति शक्ति:।

"अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:" (१८।६६) इति कीलकम्।

इसके बाद करन्यास और अंगन्यास करना चाहिए। 'न्यास' शब्द का अर्थ है शुद्धि। इसलिए करन्यास और अंगन्यास का अर्थ है हाथ और अंग की शुद्धि। न्यास का उद्देश्य है हमारे शरीर के अंदर में देवी-देवताओं का आह्वान करना । हमारे शरीर में ७२००० नाड़ियाँ हैं लेकिन शुद्धि के लिए सभी नाड़ियो को छूना संभव नहीं है। इसलिए, केवल उंगली की नोक का उपयोग करके हमारे शरीर के अंदर देवी-देवताओं का आह्वान किया जाता है।

करण्यास की विधि:-

(क) दोनों हाथों की तर्जनी उंगलियों के सिरे से अंगूठे के मध्य को छूते हुए इस मंत्र का जाप करना चाहिए - न एनं छिन्दन्ति शस्त्राणि न एनं दहति पावक:' (२।२३) इति अङ्गुष्ठाभ्यां नम:;

(ख) इस मंत्र का जाप दोनों हाथों के अंगूठों के अग्रभाग से तर्जनी के मध्य भाग को छूकर करना चाहिए - 'न च एनं क्लेदयन्ति आपो न शोषयति मारुत:' (२।२३) इति तर्जनीभ्यां नम:;

(ग) दोनों हाथों के अंगूठों के अग्रभाग से मध्यमा उंगली का मध्य भाग को छूकर इस मंत्र का जाप करें - अच्छेद्य: अयम् अदाह्य अयम् अक्लेद्य: अशोष्य एव च' (२।२४) इति मध्यमाभ्यां नम:;

(घ) दोनों हाथों के अंगूठों के अग्रभाग से अनामिका के मध्य भाग को छूकर इस मंत्र का जाप करें - 'नित्य: सर्वगत: स्थाणु: अचल: अयं सनातन:' (२।२४) इति अनामिकाभ्यां नम:;

(ङ) दोनों हाथों के अंगूठों के अग्रभाग से कनिष्ठ उंगली के मध्य भाग को स्पर्श करते हुए इस मंत्र का जाप करना चाहिए - 'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतश: अथ सहस्रश:' (११।५) इति कनिष्ठिकाभ्यां नम:।

फिर दाहिने हाथ के अंगूठे और छोटी उंगली को छोड़कर बाकी तीन उंगलियों को बाएं हाथ की हथेली के निचले हिस्से पर रखकर इस मंत्र का जाप करना चाहिए – 'नानाविधानि दिव्यानि नाना-वर्ण-आकृतीनि च' (११।५) इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नम:' और जैसे ही यह मंत्र समाप्त हो जाए तो दाएं हाथ को बाएं हाथ के नीचे से हटाकर बाएं हाथ के चारों ओर एक बार गोलाकार घुमाएं और दाएं हाथ के अंगूठे और छोटी उंगली को छोड़कर बाकी तीन अंगुलियों से बाएं हाथ की ताली बजाएं। अब करन्यास समाप्त होता है।

फिर हृदय, सिर, चोटी, कंधे और आंखों जैसे विभिन्न अंगों को छूकर अंगन्यास करना चाहिए -

(१) दाहिने हाथ की अंगूठे के अग्र भाग से मध्यमा अंगुली के मध्य को स्पर्श करके मध्यमा अंगुली से हृदय को स्पर्श करते हूए इस मंत्र का जाप करना चाहिए- 'न एनं छिन्दन्ति शस्त्राणि न एनं दहति पावक:' इति हृदयाय नम:। 'न च एनं क्लेदयन्ति आपो न शोषयति मारुत:' (२।२३) इति शिरसे स्वाहा;

(ग) इसी प्रकार दाहिने हाथ से सिर की शिखा को स्पर्श करते हुए इस मंत्र का जाप करें—'अच्छेद्य: अयम् अदाह्य अयम् अक्लेद्य: अशोष्य एव च' (२।२४) इति शिखायै वषट्;

(घ) इसी प्रकार दायां हाथ बाएं कंधे पर और बायां हाथ दाएं कंधे पर रखकर यह मंत्र पढ़ें-'नित्य: सर्वगत: स्थाणु: अचल: अयं सनातन:' (२।२४) इति कवचाय हुम्;

(ङ) अब त्रिनेत्र न्यास। माना जाता है कि हमारी दोनों आंखे के अलावा माथे में एक और आंख होती है। इसे त्रिनेत्र कहा जाता है। त्रिनेत्र न्यास के मामले में उगलियों की स्थिति अलग होगी, इस न्यास में तर्जनी और छोटी उंगलियों का उपयोग नहीं किया जाएगा। त्रिनेत्र न्यास करने के लिए दाहिना अंगूठा दाहिनी आंख पर, अनामिका उंगली बायां आंख पर और मध्यमा उंगली माथे पर रखनी चाहिए और इस मंत्र का जाप करना चाहिए- 'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतश: अथ सहस्रश:' (११।५) इति नेत्रत्रयाय वौषट्। 'नानाविधानि दिव्यानि नाना वर्णाकृतीनि च इति अस्त्राय फट्'।

इस प्रकार करन्यास और अंगन्यास समाप्त होते हैं।

अब हाथ जोड़कर दो मंत्र 'हरि ॐ तत् सत्' और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' का जाप करने के बाद गीता मंगलाचरण या गीताध्यान का पाठ करना चाहिए।

गीताध्यान

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयम्।
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्।।
अद्वैताम् अमृत-बर्षिणीं भगवतीम् अष्टादश अध्यायिनीम्।
अम्ब त्वाम् अनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।।
नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दार-आयत-पत्र-नेत्र।
येन त्वया भारत-तैलपूर्ण: प्रज्वालितो ज्ञानमय: प्रदीप:।।
प्रपन्न-पारिजाताय तोत्रवेत्रैक-पाणये।
ज्ञान-मुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नम:।।
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन:।
पार्थो वत्स: सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।
वसुदेवसुतं देवं कंस-चाणूर-मर्दनम्।
देवकी-परमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।
भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धार-नीलोत्पलाय।
शल्यग्राहवती कृपेन वहनी कर्णेन वेलाकुला।।
अश्वत्थाम-विकर्ण-घोर-मकरा दुर्योधन आवर्तिनी।
सा उत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तक: केशव:।।
पाराशर्य-वच:-सरोजम् अमलं गीतार्थ-गन्ध-उत्कटं।
नाना आख्यानक केशरं हरिकथा-सम्बोधन अबोधितम्।।

लोके सज्जन-षट पदैः अहरहः पेपीयमानं मुदा।

भूयात् भारतपङ्कजं कलिमल प्रध्वंसि नः श्रेयसे।।

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।

यत् कृपा तम् अहं वन्दे परमानन्द माधवम्।।

यं ब्रह्मा वरुण-इन्द्र-रुद्र-मरुतः स्तुवन्ति दिव्यैः स्तवैः।

वेदैः साङ्ग-पदक्रम-उपनिषदैः गायन्ति यं सामगाः।।

ध्यान-अवस्थित-तद्‌गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो।

यस्य अन्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः।।

मंगलाचरण या गीताध्यान पूरा करने के बाद, व्यक्ति को कहना चाहिए—

'ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः मङ्गलाचरणम् समाप्तम्।'

फिर गीता पाठ शुरू करने से पहले उन्हें दोनों हाथों जोड़कर इस मंत्र का उच्चारण करना चाहिए—

ॐ तत् सत्

अथ श्रीमद्भगवद्गीता अमुक् अध्याय अमुक योग अमुक उवाच।

इसके बाद गीता पाठ प्रारंभ होगा।

गीतापाठ समाप्त होने के बाद कहना है—

ॐ तत् सत् इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अमुक योगो नाम अमुक अध्याय।

फिर श्रीमद्भगवद्गीता-माहात्म्य (जो इस पुस्तक के अंत में दिया गया है) का पाठ करना चाहिए।

फिर कृष्ण महानाम मंत्र का तीन बार जाप करना चाहिए—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे।।

गीतापाठ पूरा होने पर शांतिपाठ करना चाहिए—

ॐ द्यौ शान्तिः अन्तरिक्ष शान्तिः।
पृथ्वी शान्तिः अपः शान्तिः औषधयः शान्तिः।।
वनस्पतयः शान्तिः विश्वे देवाः शान्तिः ब्रह्मः शान्तिः।
सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।।
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाक् भवेत्।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

लेखिका अध्यापिका सेवन्ती सिन्हा

वि. ए. अनार्स (फार्स्ट क्लास), एम. ए. (फार्स्ट क्लास),
एम. फिल. (कलकाता विश्वविद्यालय), वि. एड (फार्स्ट क्लास)
पि. एच. डि. स्कलार (यादवपुर विश्वविद्यालय)

पहला अध्याय

अर्जुन-विषाद-योग

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे # समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव # किम् अकुर्वत सञ्जय।।१।।

अनुवाद :- हे संजय! मुझे बताओ, मेरे युद्धप्रिय पुत्रों और अपने सहयोगियों के साथ पांडु के पुत्रों ने धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एकत्रित होकर क्या किया?।।१।।

व्याख्याः- श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक के प्रथम पद में कुरूक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा जाता है। सवाल उठ सकता है कि जिस भूमि पर इतना खून-खराबा, प्राणहानि, रोना-धोना हुआ हो, उस मैदान को धार्मिक मैदान के रूप में चिह्नित करने की क्या वजह है?

इसके पीछे दो कारण हैं। सबसे पहले, इस क्षेत्र को कुरूक्षेत्र नाम से बहुत पहले पुण्यभूमि यानी धर्मक्षेत्र के नाम से जाना जाता था। उस स्थान का दूसरा नाम समन्तपंचक था। जाबाल उपनिषद और शतपथ ब्राह्मण में इस स्थान को देवयजन, यानी देवताओं के यज्ञ का स्थान कहा गया है— ''इदं बै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्।'' (जाबाल उपनिषद, श्रुति १)

वामन पुराण में कहा गया है कि एक बार पुरुवंश के राजा कुरु ने इस स्थान पर तपस्या की थी और भगवान् से वरदान प्राप्त किया था कि यदि कोई इस क्षेत्र में तपस्या करेंगे या युद्ध में बीरगति प्राप्त हो जायेंगे तो उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी। उसी समय से इस पवित्र स्थान को कुरुक्षेत्र के नाम से जाना

जाता है। तो एक अर्थ में धर्मक्षेत्र शब्द इस श्लोक में कुरुक्षेत्र के दूसरे नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। धृतराष्ट्र ने कौरव-पांडव युद्ध होने से पहले इस भूमि को धर्मक्षेत्र के रूप में उल्लेख किया था। और यदि इस युद्ध में हुए रक्तपात, जीवन की हानि आदि को पाप कहा जाए तो कहा जा सकता है कि वह पाप युद्ध शुरू होने के बाद हुआ। तो इस मामले में इसे सिर्फ इसलिए धर्मक्षेत्र नहीं कहा गया क्योंकि यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार धर्म्ययुद्ध हुआ था।

दूसरे, युद्ध के मैदान में इकट्ठे हुए योद्धा तो निश्चित रूप से लड़ेंगे ही। उस स्थिति में, धृतराष्ट्र के पास यह पूछने का कोई कारण नहीं था कि कौरवों और पांडवों ने कुरुक्षेत्र में एकत्रित होकर क्या किया। धृतराष्ट्र अच्छी तरह जानते थे कि उनके पुत्रों अधर्म के अनुसारी थे। वे युद्ध का मार्ग कभी नहीं छोड़ेंगे। परंतु यदि युद्ध होता है तो उनका पतन अवश्यम्भावी है क्योंकि पाण्डुपुत्रों के सहायक जगत् के रक्षक स्वयं धर्मरूपी भगवान् श्रीकृष्ण हैं। फलस्वरूप युद्ध में पांडवों की विजय तथा कौरवों का विनाश निश्चित है। लेकिन पांडवों धार्मिक हैं। वे अपने हितों की रक्षा के लिए इतना रक्तपात और जीवन की हानि को स्वीकार नहीं कर पाएंगे। इसलिए वे युद्ध के उद्देश्य से इस धर्मक्षेत्र में आए और निश्चित रूप से वे युद्ध की भयानक तबाही की कल्पना की। इस कारण से यदि वे युद्ध के उद्देश्य से इस धार्मिक स्थान पर पहुँचकर युद्ध की भयानक तबाही की कल्पना करने के कारण युद्ध के परिणामों को अधार्मिक मानते हैं, तो वे युद्ध के मैदान को छोड़कर युद्ध के मार्ग को त्याग सकते हैं। उस स्थिति में, उनके पुत्रों बिना लड़े राज्य प्राप्त करेंगे और इसलिए वे युद्ध के मैदान में आनंदित होंगे। इन्हीं कारणों से धृतराष्ट्र ने सबसे पहले 'धर्मक्षेत्र' शब्द का प्रयोग किया था और वे यह जानने के लिए उत्सुक थे कि वास्तव में युद्ध के मैदान में क्या हुआ था। इसलिए उन्होंने पहले संजय को ये शब्द बोले।

इसलिए यहाँ धर्मक्षेत्र शब्द का उल्लेख कुरुक्षेत्र की महिमामंडन के लिए नहीं किया गया है, यहाँ धर्मक्षेत्र शब्द का विशेष प्रतीकात्मक महत्त्व है।

कुछ टिप्पणीकारों का यह भी कहना है कि संस्कृत में किसी रचना की शुरुआत मंगलाचरण से करने की प्रथा है ताकि रचना अच्छे से पूरी हो सके। इसीलिए गीता का पहला श्लोक शुभ शब्द 'धर्मक्षेत्र' से प्रारंभ हुआ है।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं # व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यम् उपसङ्गम्य # राजा वचनम् अब्रवीत्।।२।।

★ पाण्डवानीकं = पाण्डव - अनीकं;
दुर्योधनस्तदा = दुर्योधन: तदा

अनुवाद :- संजय ने (राजा धृतराष्ट्र से) कहा – पांडवों को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास गए और कहा।।२।।

पश्य एतां पाण्डुपुत्राणाम् # आचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण # तव शिष्येण धीमता।।३।।

अनुवाद :- हे आचार्य! अपने प्रिय बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा व्यूहों से सुसज्जित पांडवों की विशाल सेनाओं को देखें।।३।।

व्याख्या:- इस श्लोक में दुर्योधन की धूर्तता दृष्टिगोचर होती है। राजा द्रुपद और भरद्वाज-पुत्र गुरु द्रोण दोनों एक ही गुरु के शिष्य थे और कभी वे एक-दूसरे के सबसे अच्छे दोस्त थे, लेकिन बाद में राजा द्रुपद द्वारा द्रोण का अपमान किए जाने पर वे कट्टर दुश्मन बन गए। दुर्योधन जानता है कि गुरु द्रोण स्वेच्छा से पांडवों के साथ युद्ध में शामिल नहीं होना चाहते हैं।

इसलिए वह द्रोण के दिल में कमजोर बिंदु पर चोट पहुँचाने के उद्देश्य से धृष्टद्युम्न के नाम उच्चारण करने के बजाय द्रुपदपुत्र कहता है, द्रोण के दिल में बदला लेने की भावना जगाता है और उन्हें युद्ध के लिए उकसाने की कोशिश करता है।। ३।।

अत्र शूरा महेष्वासा # भीम-अर्जुन-समा युधि।
युयुधानो विराटश्च # द्रुपदश्च महारथः ।।४।।

★ विराटश्च = विराटः च; द्रुपदश्च = द्रुपदः च

अनुवाद :- इस युद्ध क्षेत्र में भीम और अर्जुन के समान महान धनुर्धर सात्यकि, विराट, महारथी द्रुपद आदि अनेक वीर धनुर्धर हैं।।४।।

★महारथी = (जो अकेले ही दस हजार धनुर्धरों से लड़ सकते हैं और जो शस्त्र विद्या में अत्यधिक कुशल हैं)

धृष्टकेतुः चेकितानः # काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च # शैब्यश्च नरपुङ्गवः।।५।।

★ काशीराजश्च = काशीराजः च; कुन्तिभोजश्च = कुन्तिभोजः च; शैब्यश्च = शैब्यः च।

अनुवाद :- (इस युद्ध में उनके अलावा उपस्थित हैं) धृष्टकेतु, चेकितान, पराक्रमी काशीराज, पुरुजित् कुन्तिभोज तथा नरश्रेष्ठ शैब्य जैसे पराक्रमी वीर ।।५।।

युधामन्युश्च विक्रान्त # उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च # सर्व एव महारथाः।।६।।

★ युधामन्युश्च = युधामन्युः च; उत्तमौजाश्च = उत्तमौजाः च; द्रौपदेयाश्च = द्रौपदेयाः च।

अनुवाद :- (अन्य जो इस युद्ध में उपस्थित हैं वे हैं) पराक्रमी युधामन्यु, पराक्रमी उत्तमौजा, सुभद्रा और द्रौपदी के पुत्रों आदि महारथीगण।।६।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये # तान् निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य # संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ।।७।।

अनुवाद :- हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! मेरी सेना के जितने भी वीर सेनापति यहां उपस्थित हैं, उन सब के बारे में जान लीजिये, मैं आपकी जानकारी के लिए उनका वर्णन कर रहा हूँ ।।७।।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च # कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च # सौमदत्तिः जयद्रथः ।।८।।

अनुवाद :- आप स्वयं हैं और पितामह भीष्म, कर्ण, सदा विजयी कृपाचार्य और अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा, जयद्रथ आदि अनेक वीर हैं ।।८।।

व्याख्या :- यहाँ देखने में आता है कि दुर्योधन ने अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेना में सात प्रमुख योद्धाओं का वर्णन किया है। यद्यपि उन्होंने उनमें से छह के नामों का उच्चारण किया, लेकिन आचार्य द्रोण के नाम का उच्चारण नहीं किया। बस 'भवान्' कहा। यहाँ दुर्योधन ने शास्त्र की स्थिति को बनाए रखने के लिए आचार्य द्रोण का नाम नहीं लिया। स्मृति शास्त्र कहते हैं कि जो लोग अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें स्वयं की जन्म राशि पर दिया गया नाम, गुरु का नाम, सबसे कंजूस का नाम, ज्येष्ठ पुत्र का नाम और अपनी पत्नी के नाम का उच्चारण नहीं करना चाहिए—

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयात ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः।। (स्मृति)

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि गीता ने लोगों को सामाजिक

जीवन में इस शिष्टाचार का पालन की आवश्यकता का स्मरण कराया है, परंतु आधुनिक मनुष्य ने इसके विपरीत आचरण करना आधुनिकता मान लिया है।।८।।

अन्ये च बहवः शूरा # मदर्थे त्यक्त-जीविताः।
नानाशस्त्र-प्रहरणाः # सर्वे युद्ध-विशारदाः ।।९।।

अनुवाद :- इसके अतिरिक्त हमारे पक्षमें युद्ध कला में निपुण और भी बहुत से वीर योद्धा हैं जो मेरे लिए युद्ध में अपने प्राणों की आहुति देने के लिए सदैव तैयार रहते हैं ।।९।।

अपर्याप्तं तत् अस्माकं # बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं तु इदम् एतेषां # बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।

अनुवाद :- पितामह भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना अपर्याप्त है परंतु भीम द्वारा रक्षित पाण्डवों की सेना पर्याप्त है ।।१०।।

व्याख्या:- इस श्लोक में दुर्योधन द्वारा प्रयुक्त 'अपर्याप्त' और 'पर्याप्त' शब्दों के दो भिन्न अर्थ हैं। 'अपर्याप्त' शब्द का एक अर्थ है अमाप्य अर्थात् जिसे मापा नहीं जा सकता अर्थात् प्रचुर और दूसरा अर्थ आवश्यकता से कम है। फिर से 'पर्याप्त' शब्द का एक अर्थ सीमित और दूसरा अर्थ प्रचुर मात्रा में है। नतीजतन, यहां सवाल उठता है कि दुर्योधन ने किस अर्थ में दो शब्दों का इस्तेमाल किया था। दुर्योधन को महाभारत में जिस तरह से चित्रित किया गया है, उससे उसे एक अति अवसरवादी के रूप में देखा जाता है। शायद इसीलिए उसने सीमित अर्थ में अपर्याप्त और व्यापक अर्थ में पर्याप्त शब्द का प्रयोग की। क्योंकि दुर्योधन को पता था कि वह अधर्म के मार्ग का

अनुसारी था लेकिन पांडवों सही रास्ते पर थे और स्वयं असीमित शक्ति वाले वासुदेव उनकी मदद कर रहे थे। तो उसके पास जितने भी सैनिक हैं, वे बिल्कुल अपर्याप्त हैं और कृष्ण के पक्षवाले निश्चित रूप से अजेय हैं, चाहे सैनिकों की संख्या कितनी ही कम क्यों न हो। लेकिन वह गुरु द्रोण को खुले तौर पर सच्चाई बताकर गुरु द्रोण के सामने अपनी कमजोरी प्रकट नहीं करना चाहता था। इसलिए उसने द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग किया। उसकी आशा थी कि द्रोणाचार्य ने जो भी अर्थ लेंगे, वे उसके उद्देश्य की पूर्ति करेगा। यदि वे अपर्याप्त शब्द को प्रचुर अर्थ में लेते हैं, और पर्याप्त शब्द को सीमित अर्थ में लेते हैं, तो वे अधिक साहस और आत्मविश्वास के साथ युद्ध में जायेंगे, क्योंकि उनके पास अधिक संख्या में सैनिक हैं। दूसरी ओर, यदि वे अपर्याप्त शब्द का अर्थ आवश्यकता से कम और पर्याप्त शब्द का अर्थ प्रचुरता से लेते हैं, तो चूँकि उनके अधीन सेना कम है और चूँकि वे कौरवों की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध हैं, इसलिए वे अपने वचन को निभाने के लिए अधिक जिम्मेदारी से युद्ध छेड़ने के लिए प्रवृत्त होंगे। अन्यथा वे वचन के उल्लंघन के रूप में घोर अनैतिकता में लिप्त होंगे जो आचार्य द्रोण कभी नहीं चाहेंगे। फलस्वरूप दुर्योधन ने जानबूझ कर एक विशेष प्रयोजन से द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग किया ।।१०।।

अयनेषु च सर्वेषु # यथा-भागम् अवस्थिताः।
भीष्मम् एव अभिरक्षन्तु # भवन्तः सर्व एव हि ।।११।।

अनुवाद :- अब आप सब अपने-अपने नियत स्थान के अनुसार व्यूह के विशिष्ट प्रवेश मार्ग में रहकर पितामह भीष्म की समुचित रूप से रक्षा करें।।११।।

व्याख्या:- यहाँ देखने में आता है कि दुर्योधन अपने पितामह भीष्म की रक्षा के लिए अत्यन्त व्याकुल है। लेकिन दुर्योधन सम्यक जानता है कि पितामह भीष्म अकेले ही अर्जुन सहित पांडव पक्ष के सभी सैनिकों को हरा सकते हैं— ''हन्याद् गुप्तो ह्यसौ पार्थान् सोमोकांश्च संसृजयान्'' (महाभारत, भीष्मपर्व १५/१४)। लेकिन दुर्योधन अपने पितामह भीष्म की रक्षा के लिए इतना चिंतित क्यों है? इसके पीछे क्या रहस्य है? रहस्य है द्रुपदपुत्र शिखंडी। हम संजय के मुंह से सुनते हैं कि भीष्म ने शिखंडी को न मारने की कसम खाई क्योंकि उन्होंने सुना कि शिखंडी एक महिला के रूप में पैदा हुई थी और बाद में एक पुरुष में बदल गई और इसलिए भीष्म अभी भी उसे एक महिला मानते हैं और वे युद्धक्षेत्र में स्त्रीयों से युद्ध करने से बचते हैं—

अब्रवीच्च विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम्।
श्रूयते स्त्री ह्यसौ पुर्वं तस्माद् वर्ज्यो रणे मम।।

(महाभारत, भीष्मपर्व १५/१५)।

इसीलिए भीष्म की सुरक्षा को लेकर दुर्योधन बहुत चिंतित रहता है। वह जानता है कि यदि शिखंडी पितामह के सामने सशस्त्र प्रकट हो सकता है, तो भीष्म शिखंडी को देखते ही हथियार डाल देंगे। तो शिखंडी ही पितामह की मृत्यु का कारण होगा। इसीलिए दुर्योधन कहता है—

संरक्षमाण: पार्थेन भीष्मेण च बिवर्जित:।
यथा न हन्याद् गाङ्गेयं दु:शासन तथा कुरु।।

(महाभारत, भीष्मपर्व १५/२०)

अर्थात् आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और भूरिश्रवा व्यूह के द्वार पर हमेशा भीष्म की रक्षा करें ताकि शिखंडी पितामह भीष्म को न मार सके।।११।।

तस्य संजनयन् हर्षं # कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्य उच्चैः # शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।।१२।।

अनुवाद :- तब कुरु कुल के ज्येष्ठ प्रतापी पितामह भीष्म ने सिंह की दहाड़ के समान बड़ी भारी ध्वनि से अपना शंख बजाया और फलस्वरूप दुर्योधन का ह्रदय हर्ष से भर उठा ।।१२।।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च # पणव-आनक-गोमुखाः ।
सहसा एव अभि-अहन्यन्त # स शब्दः तुमुलः अभवत् ।।१३।।

अनुवाद :- तत्पश्चात् सहसा बहुतसे रणशंख, नगारे, मृदंग, ढोल आदि बज उठे और उन सब संयुक्त नादों के साथ बड़ा भारी कोलाहल हुआ ।।१३।।

ततः श्वेतैः हयैः युक्ते # महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवः च एव # दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।।१४।।

अनुवाद :- तत्पश्चात् सफेद घोड़ों वाले महारथ आरूढ़ श्रीकृष्ण तथा अर्जुन ने दिव्य शंख बजाया।।१४।।

व्याख्याः- यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि युद्ध शुरू करने के लिए उस समय के प्रचलित नियमानुसार सेनापति प्रथम शंख ध्वनि करने वाले हैं। पितामह भीष्म कौरव पक्ष के सेनापति हैं। इसलिए उन्होंने नियमानुसार युद्ध प्रारंभ करने के लिए कौरवों की ओर से शंख ध्वनि से युद्ध प्रारंभ किया। लेकिन कृष्ण पांडवों में से एक योद्धा यानी अर्जुन के सारथी हैं। उन्हें तो युद्ध शुरू करने के संकेत के रूप में शंख नहीं बजाना था। शंख तो पांडवों के सेनापति धृष्टदुम्न को बजाना था! तब यह कहा जा सकता है कि जिस युद्ध को श्रीकृष्ण ने धर्म्ययुद्ध कहा था, उसके प्रारम्भ में उन्होंने स्वयं ही उस

समय समाज की रणनीति को तोड़ा था। लेकिन इस मामले को थोड़ा अलग नजरिया से देखना होगा। भले ही श्रीकृष्ण रणक्षेत्र के नेता यानी सेनापति नहीं हैं, वे सामान्य दृष्टि से केवल एक सारथी हैं, फिर भी विरोधी पक्ष का भीष्म और द्रोण से लेकर सभी पांडव उनको सबसे परे मानते हैं। इसलिए श्रीकृष्ण के ऐसे कृत्य को कोई भी किसी पक्ष के अधिकारों का हनन नहीं मान सकता। दूसरे, हमने देखा है कि जैसे ही भीष्म ने शंख बजाया, तुरंत कौरवों की ओर से जोर का शोर होता है। अंतर्यामी श्रीकृष्ण अच्छी तरह जानते हैं कि पितामह भीष्म ने वास्तव में युद्ध शुरू करने के आदेश के रूप में शंख नहीं बजाया क्योंकि वे यह युद्ध नहीं चाहते थे। वे दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए ही शंख बजा रहे थे। लेकिन उनके शंख ध्वनि के जवाब में जब पांडव पक्ष से तेज ध्वनि शुरु नहीं हुआ, तो आम सैनिकों मैं मनोबल गिर सकता था। पितामह भीष्म, जो कौरव पक्ष के सेनापति हैं वे सम्मान, सामाजिक स्थिति, अधिकार और प्रतिष्ठा की दृष्टि से कौरव पक्षों में सर्वश्रेष्ठ हैं। नतीजतन, कोई भी उनकी उपस्थिति में युद्ध में अग्रणी भूमिका निभाने वाला नहीं है। लेकिन भले ही पांडव गुट का सेनापति धृष्टद्युम्न है, पांडवों के लिए युद्ध के मैदान में अर्जुन जैसे महान बुद्धिमान और पराक्रमी व्यक्तित्व हैं, स्थिर बुद्धि और बुद्धिमान बड़े पांडव युधिष्ठिर हैं, और कौरव गुट के भीष्म, द्रोण और पांडव हर कोई जिन्हें बहुत सम्मान करते हैं और उनकी पूजा करते हैं, जो सबका आदरणीय, सबके प्रिय वे श्रीकृष्ण हैं। इसलिए, जब कौरव पक्ष से विभिन्न ऊँची आवाजें गूँज उठीं, तो शायद एक पल के लिए धृष्टद्युम्न भ्रमित हो गए कि क्या कृष्ण युद्ध शुरू करने का आदेश देने वाले होंगे! परिणामस्वरूप, उनसे युद्ध की अनुमति देना कुछ समय के लिए देर हो चुकी थी। इस तथ्य को महसूस करके अतुलनीय चतुर श्रीकृष्ण ने पांडव पक्ष के सेनापति सहित सभी

सैनिकों को प्रेरित करने के लिए धृष्टद्युम्न की प्रतीक्षा किए बिना शंखनाद का भार अपने कंधों पर ले लिया।।१४।।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो # देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं # भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

अनुवाद :- ऋषिकेश श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया, अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया, दूसरे पांडव भीम ने पौंड्र नामक महाशंख बजाया।।१५।।

अनन्तविजयं राजा # कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च # सुघोष-मणिपुष्पकौ।।१६।।

अनुवाद :- कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनंतविजय नाम का अपना शंख बजाया और नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक अपना शंख बजाया ।।१६।।

काश्यश्च परमेष्वासः # शिखण्डी च महारथः।।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च # सात्यकिः च अपराजितः।।१७।।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च # सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः # शङ्खान् दध्मु पृथक् पृथक् ।।१८।।

अनुवाद :- हे महाराज! महाधनुर्धर काशीराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदी के पुत्रों, सुभद्रापुत्र, महान पराक्रमी अभिमन्यु आदि वीर योद्धा सभी दिशाओं से अलग-अलग तरह से शंख बजाने लगे ।।१७-१८।।

व्याख्या:- यहाँ अभिमन्यु को महाबाहु कहा गया है। लेकिन वास्तव में अभिमन्यु महाबाहु नहीं थे। महाबाहु भगवान् कृष्ण का नाम है। महाभारत

में कहा गया है कि भगवान् कृष्ण अपने दोनों हाथों से पृथ्वी और आकाश को धारण करते हैं। इसलिए इनका नाम 'महाबाहु' पड़ा - 'बाहुभ्यां रोदसी विभ्रन्महाबाहु: इति स्मृत:' उद्योग पर्व (७०/९)। भगवान् कृष्ण ने यह उपाधि अपने प्रिय मित्र अर्जुन को प्रदान की थी। इसलिए अर्जुन का नाम भी महाबाहु रखा गया और अभिमन्यु भी महाबाहु के नाम से जाने गए क्योंकि वे उन महाबाहु पिता के पुत्र थे। जिस प्रकार चारों वेदों को समान रूप से जानने वाला चतुर्वेदी की उपाधि प्राप्त करता है और उनके पुत्र चतुर्वेद को न जानते हुए भी अपने पिता के चतुर्वेदी की उपाधि प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार अभिमन्यु को भी 'महाबाहु' की उपाधि मिली ।।१७-१८।।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां # हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं च एव # तुमुलो अव्यनुनादयन् ।।१९।।

अनुवाद :- उस गड़गड़ाहट की ध्वनि ने आकाश और पृथ्वी को कंपा दिया और धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को चीर डाला ।।१९।।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा # धार्तराष्ट्रान् कपिध्वज:।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते # धनुरुद्यम्य पाण्डव:।
हृषीकेशं तदा वाक्यम् # इदम् आह महीपते ।।२०।।

★धनुरुद्यम्य = धनु: उद्यम्य।

अनुवाद :- हे राजन! जब कपिध्वज अर्जुन ने देखा कि आपके पुत्रों युद्ध करने वाले हैं, तो उन्होंने शस्त्र फेंकने के लिए धनुष उठाया और कृष्ण से ये शब्द कहे ।।२०।।

व्याख्या:- कपिध्वज तीसरे पांडव अर्जुन का नाम है। कपि यानी वैराग्य के प्रतीक हनुमान अर्जुन की मदद के लिए युद्ध के दौरान अर्जुन के विशाल ध्वज पर खड़े थे। इसीलिए अर्जुन को कपिध्वज अर्जुन कहा जाता है।

अर्जुन का झंडा इंगित करता है कि वे दिल से वैराग्यपूर्ण थे और उन्होंने किसी भी संकीर्ण व्यक्तिगत हितों का पीछा नहीं किया। उन्होंने इस तरह की मानसिकता से कभी युद्ध में शामिल नहीं थे। दूसरे पांडव भीम और श्री हनुमान दो भाई थे क्योंकि दोनों पवन के पुत्र थे। श्री हनुमान ने भीमसेन को वचन दिया कि वे अर्जुन की सहायता के लिए युद्ध के दौरान अर्जुन की पताका पर खड़े रहेंगे। श्रीहनुमान के विषय को सामने लाकर, संजय ने अप्रत्यक्ष रूप से धृतराष्ट्र को सूचित किया कि अजेय महावीर, श्रीहनुमान के समान धर्मात्मा, इस युद्ध में पांडवों की सहायता कर रहे हैं।।२०।।

अर्जुन उवाच

सेनयोः उभयोः मध्ये # रथं स्थापय मे अच्युत।।२१।।

अनुवाद :- अर्जुन ने कहा-हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए।।२१।।

यावत् एतान् निरीक्षे अहं # योद्धुकामान् अवस्थितान्।
कैः मया सह योद्धव्यम् # अस्मिन् रणसमुद्यमे ।। २२।।

अनुवाद :- (इस समय) मैं देख लुँ कि इस रणक्षेत्र में कौन कौन युद्ध करने को तैयार है और मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना है।।२२।।

व्याख्या:- यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि अर्जुन विरोधियों से युद्ध करने का निश्चय करके युद्धभूमि में आये हैं और उन पर बाण चलाने के लिए तैयार धनुष उठा रखा है और ठीक-ठीक जानते है कि उन्हें किन-किनसे युद्ध करना है। फिर वे क्यों देखना चाहते थे जिनसे उन्हें लड़ना था। संपूर्ण मानव समाज के कल्याण के लिए, श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् की महान लोक शिक्षाओं का समावेश है। यहाँ भगवान् ने मनुष्य को जो महान शिक्षा दी है, वह यह है कि किसी भी मनुष्य को बिना सोचे-समझे हठीलापन

नहीं करना चाहिए। क्योंकि उनकी ज़िद्दी हरकतें भविष्य में उसे और दूसरों को बहुत नुकसान पहुँचा सकती हैं। इसलिए विशेष रूप से किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य को करने से पहले बार-बार विचार करना चाहिए ताकि उस कार्य में कोई हानिकारक पहलू न छिपा हो, जिससे उसके कार्य से अपना और दूसरों का सम्मान, धन, सुरक्षा, जीवन आदि नष्ट न हो। इसलिए प्रज्ञावान अर्जुन ने युद्ध शुरू करने से पहले एक बार फिर जानना चाहा कि कहीं उनके निर्णय में कोई त्रुटि तो नहीं है।।२२।।

योत्स्यमानान् अवेक्षे अहं # य एते अत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः # युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

अनुवाद :- युद्धमे धृतराष्ट्रके दुर्बुद्धि पुत्र दुर्योधन का हित चाहनेवाले जो ये सब लोग यहां एकत्रित हुये हैं, उन युद्ध करनेवालों को मैं देख लुँ।।२३।।

व्याख्या :- इस श्लोक में अर्जुन ने दुर्योधन को दुर्बुद्धि कहा है। गीता ने बहुत ही सुंदर वर्णन के माध्यम से उस स्थिति की सीख दी है जिसमें व्यक्ति को दुर्बुद्धि कहा जा सकता है। दुर्योधन पापी है। उसने अपने पिता से अपने शब्दों में कहा कि वह स्वयं यह अच्छी तरह जानता है कि कृष्ण न केवल इस लोक में बल्कि तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ पुरुष और पूजनीय हैं—

स हि पूज्यतमो लोके कृष्णः पृथुललोचनः।
त्रयाणामपि लोकानां विदितं मम सर्वथा।।

(महाभारत, उद्योगपर्व ८८।५)

फिर भी जब वे भगवान् श्रीकृष्ण पांडवों के उपयोग के लिए केवल पांच

गाँवों की पेशकश करने वाले शांति प्रस्ताव के साथ कौरवों की सभा में आए, तो वह दुर्योधन ही था जिसने उन्हें बताया कि वह पांडवों को बिना युद्ध के कोई भी भूमि नहीं देगा जो सूई के पैने सिर पर भी होगी—

घ्रियमानो महाबाहौ मयि सम्प्रति केशव।
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।।
तावद् अपि परित्याज्यं भूमेर्ण पाण्डवान् प्रति।।

(महाभारत, उद्योगपर्व १२७।२५)

यह ही दुर्बुद्धि है। दुर्योधन सब कुछ ठीक-ठीक जानते हुए भी गलत दिशा में आगे बढ़ा। तो महाज्ञानी अर्जुन के शब्दों में वह दुर्बुद्धि है। भगवान् कृष्ण ने बहुत सोच-समझकर आम लोगों को संदेश दिया है कि उन्हें इस तरह के नासमझी भरे काम कभी नहीं करना चाहिए। अन्यथा अपरिहार्य विनाश उनके जीवन पर उतर आएगा।।२३।।

संजय उवाच

एवम् उक्तो हृषीकेशो # गुड़ाकेशेन भारत ।
सेनयोः उभयोः मध्ये # स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।२४।।

(इस श्लोक में क्रिया नहीं होने के कारण अगले श्लोक से क्रिया लेकर वाक्य पूरा होगा)

★ गुडाकेश = गुडाका यानी नींद या आलस्य का जो ईश अर्थात् प्रभु हैं अर्थात् जिसने गुडाका यानी नींद या आलस्य को जीत लिया वे गुडाकेश हैं। यहाँ अर्जुन को गुडाकेश पद द्वारा संदर्भित किया गया है क्योंकि उन्होंने नींद या आलस्य पर विजय प्राप्त कर ली हैं।

अनुवाद :- संजय ने कहा— हे भारत! गुडाकेश अर्जुन ने ऐसा कहा और कृष्ण ने अपना सर्वश्रेष्ठ रथ दोनों सेनाओं के बीच रख दिया ।।२४।।

व्याख्या:- यहाँ कृष्ण को हृषिकेश कहा गया है। महाभारत में हृषिकेश शब्द का अर्थ इस प्रकार बताया गया है— 'हृषिकेशो महेशानो वरदो लोकभावन:'। अर्थात् ऋषिकेश सभी को शुभ वरदान देते हैं। इसलिए उन्हें हृषिकेश कहा जाता है। श्रीकृष्ण एक ऐसे भगवान् हैं जो कभी किसी को श्राप नहीं देते, वे सदैव सबके कल्याण के लिए वरदान देते हैं।

इसलिए शास्त्रों के अनुसार भक्त को केवल कृष्ण की ही पूजा करनी चाहिए। पांडव गीता के १७ वें श्लोक में, उद्धव कहते हैं कि जो कृष्ण को त्यागता है और अन्य देवताओं की पूजा करता है वह गंगा के तट पर बैठता है और अपनी प्यास बुझाने के लिए एक कुआँ खोदता है—

वासुदेवं परित्यज्य य: अन्य देवम् उपासते।
तृषित-जाह्नवीतीरे कुपं खनंति दुर्मति।।

यहाँ देखने में आता है कि भक्त अर्जुन भगवान् कृष्ण से दोनों सेनाओं के बीच रथ खड़ा करने के लिए कह रहे हैं और भगवान् कृष्ण भक्त अर्जुन की इच्छा पूरी कर रहे हैं। इस घटना से सिद्ध होता है कि भगवान् कृष्ण हमेशा भक्त की इच्छाओं को पूरा करने के लिए उत्सुक रहते हैं, अर्जुन के शब्दों का पालन करने से उनका स्पष्ट अर्थ था कि वे स्वतंत्र हैं लेकिन हमेशा परतंत्र यानी भक्त के अधीन रहते हैं ।।२४।।

भीष्म-द्रोण-प्रमुखत: # सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्य एतान् # समवेतान् कुरून् इति।।२५।।

अनुवाद :- (इस प्रकार उत्तम रथको दोनों सेनाओं के बीच में रखकर)

पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य तथा समस्त नृपतियों के सामने भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा- पार्थ! इन एकत्रित कौरवों को ध्यान से देखें।।२५।।

तत्र अपश्यत् स्थितान् पार्थः # पितॄन् अथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् # पुत्रान् पौत्रान् सखीं तथा ।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव # सेनयोः उभयोः अपि ।।२६।।

अनुवाद :- तब अर्जुन ने वहाँ दोनों सेनाओं में विद्यमान पिताओं, दादाओं, गुरुओं, मातुलों, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों तथा ससुराल वालों और शुभचिंतकों को भी देखा ।।२६।।

व्याख्याः- यहाँ दो शब्दों 'पिता' और 'आचार्य' की व्याख्या आवश्यक है। पिता और आचार्य एक होते हैं। तो दो शब्द का बहुवचन क्यों है? शास्त्रों में कहा गया है कि ब्राह्मण और क्षत्रियों के पांच प्रकार के पिता हो सकते हैं - (१) जन्म देने वाला पिता, (२) बच्चा जिसकी गोद में चला जाता है, (३) जो लड़के का यज्ञोपवीत संस्कार कराता है, (४) वह जो भोजन से पालन करता है और, (५) वे जो भय से रक्षा करता है। अर्जुन ने युद्ध के मैदान में इन सभी प्रकार के पिताओं को देखा। इसलिए यहाँ 'पिता' शब्द बहुवचन में आया है।

दूसरे, आचार्य शब्द की व्याख्या करते हुए अद्वैतारकोकोष कहते हैं –

आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः।
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः।।

अर्थात् जिन्होने वेदों का अध्ययन किया हैं, जो विष्णु का भक्त हैं और ईर्ष्या से मुक्त हैं, जो योग को जानते हैं और हमेशा योग से जुड़ा हुआ हैं,

जो शुद्ध हैं, जो अपने गुरु की पूजा करते हैं और जो परमात्मा को सम्यक जानते हैं वे आचार्य हैं। अर्जुन ने युद्ध के मैदान में ऐसे कई लोगों को देखा। साथ ही शास्त्रों में कहा गया है कि गुरु को जो सम्मान दिया जाए वही सम्मान गुरु के पुत्र को भी देना चाहिए— 'समागुरौ यथा वृत्तिः तत्पुत्रे च तथा कुर्वन्' (महाभारत, उद्योगपर्व ४४/१३)। यूँ तो आचार्य द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा भी अर्जुन के गुरु के समान हैं। इसलिए यहां गुरु शब्द का बहुवचन किया गया है।।२६।।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः # सर्वान् बन्धून् अवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो # विषीदन् इदम् अब्रवीत् ।।२७।।

★ परयाविष्टो = परया आविष्टः

अनुवाद :- उन सब स्वजन और मित्रों को वहाँ उपस्थित देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुन का हृदय उन पर बड़ी करुणा से द्रवित हो उठा और उन्होंने बड़े विषाद से भगवान् श्रीकृष्ण से ये (निम्नलिखित) वचन कहे ।।२७।।

अर्जुन उवाचः

दृष्ट्वा इमं स्वजनं कृष्ण # युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि # मुखं च परिशुष्यति ।।२८।।

अनुवाद :- अर्जुन ने कहा - हे कृष्ण! इन सब युद्धप्रिय सम्बन्धियों को सामने देखकर मेरे सारे अंग शिथिल हो गए हैं और मेरा मुँह सूख गया है।।२८।।

व्याख्याः- इस स्थान के कुछ श्लोकों से पता चलता है कि अर्जुन एक महान धर्म संकट में हैं। वे युद्ध के मैदान में जिस किसी को भी देखते हैं,

वे उनके प्रिय होते हैं। उनके मन में उनके प्रति न ईर्ष्या, न वैर, न राग, न द्वेष, न बदला लेने की इच्छा है, उन्हें मारकर उनके हृदय में हर्ष की संभावना नहीं है, उन्हें मार कर अपने निजी स्वार्थों को पूरा करने की कोई इच्छा नहीं है। उनके मन में उन्हें मारने का कोई इरादा नहीं है। अपनी कल्पना शक्ति से भविष्य में अपने लोगों की भयानक हानि, अपने परिजनों की दर्दनाक चीखों का दृश्य देखकर उनका हृदय तीव्र दर्द से भर गया। एक ओर उनका अपने मित्र श्रीकृष्ण पर अटूट विश्वास तो दूसरी ओर उनकी अतुलनीय उदारता, देशभक्ति और धर्म की भावना। यह उनके भाग्य की कैसी विडम्बना! बास्तव में ऐसा होता नहीं है! कोई भी व्यक्ति कितना भी बुरा क्यों न हो, वह कभी भी बिना उद्देश्य के रक्तपात या जीवन की हानि नहीं करता है। एक ओर उन्हें लगता है कि कौरवों को मारना, चाहे वे उसे कितना भी नुकसान पहुँचाएँ, अधर्म का कार्य होगा और दूसरी ओर उनके दृढ़ विश्वास है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध में उनके सहायक हैं तो कोई अधर्म या असत्य नहीं हो सकता क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण सत्य और धर्म का परम प्रतीक हैं, वे कमल के पत्ते पर नीर के समान हैं - पाप, असत्य, भ्रष्टाचार उन्हें छू नहीं सकते। विरोधी कौरव सेना के परम सत्यवादी और धर्मपरायण पितामह भीष्म हमेशा श्रद्धा, भक्ति और विश्वास से भगवान् श्रीकृष्ण के सामने घुटने टेकते हैं। माता कुंती, चाचा विदुर ने हमेशा उन्हें स्वयं भगवान् के ज्ञान में पूजा करते हैं। वही श्रीकृष्ण उन्हें युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं! ऐसे में आज अर्जुन असमंजस में है। एक ओर स्वजनों के प्रति उनके मन में अतुलनीय स्नेह, आदर और प्रेम है, वे उनके आसन्न वियोग की कल्पना करके अपने हृदय की तीव्र वेदना को रोक नहीं पा रहे हैं, दूसरी ओर अपने मित्र श्रीकृष्ण के धर्म्ययुद्ध के आह्वान को प्रबलता से अस्वीकार करने में असमर्थ हैं। अत: उन्होंने अंत में भारी मन से अपने हृदय के सभी तर्कों और भावनाओं को श्रीकृष्ण के समक्ष प्रकट करने का निर्णय लिया।।२८।।

वेपथुश्च शरीरे मे # रोमहर्षश्च जायते ।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् # त्वक् चैव परिदह्यते ।।२९।।

अनुवाद :- मेरे शरीर कांपता है और रोमांचित होता है, मेरे गांडीव धनुष मेरे हाथ से गिर रहा है और मुझे अपनी त्वचा पर जलन महसूस हो रही है ।।२९।।

न च शक्नोमि अवस्थातुं # भ्रमति इव च मे मनः ।
निमित्तानि च पश्यामि # विपरीतानि केशव ।।३०।।

अनुवाद :- हे कृष्ण! मैं अब खड़ा नहीं हो सकता। मन बेचैन हो रहा है, मुझे कई अशुभ संकेत दर्शन हो रहे हैं।।३०।।

न च श्रेयः अनुपश्यामि # हत्वा स्वजनम् आहवे।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण # न च राज्यं सुखानि च।।३१।।

अनुवाद :- हे कृष्ण! युद्ध में अपने ही लोगों को मारने में मुझे कोई भलाई नहीं दिखाई देती। मुझे विजय, राज्य, खुशी कुछ भी नहीं चाहिए ।।३१।।

किं नो राज्येन गोविन्द # किं भोगैः जीवितेन वा।
येषाम् अर्थे काङ्क्षितं नो # राज्यं भोगाः सुखानि च।।३२।।

(यह एक संयुक्त श्लोक होने के कारण इस श्लोक का अर्थ अगले ३३ वें श्लोक से 'त इमे अवस्थिताः युद्धे प्राणान् त्यक्ता धनानि च' भाग की सहायता से पूरा हो जाएगा)

अनुवाद :– हे गोविन्द! हमें राज्य, भोग अथवा जीवनसे क्या प्रयोजन है? जिनके लिए हम राज्य, भोग, सुख चाहते हैं (वे सब इस युद्ध में जीवन और धन को त्याग कर उपस्थित हैं) ।।३२।।

त इमे अवस्थिता युद्धे # प्राणान् त्यक्ता धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्राः # तथा एव च पितामहाः।।३३।।

(यह संयुक्त श्लोक होने के कारण इस श्लोक का अर्थ अधूरा है, इस श्लोक का अर्थ पिछले ३२वें श्लोक से 'येषाम् अर्थे काङक्षितं नः राज्यं भोगाः सुखानि च' की सहायता से पूरा हो जाएगा)

अनुवाद :– (जिनके लिए हम राज्य, भोग, सुख चाहते हैं) वे आचार्य, पितृव्य (पिता के भाई), पुत्र, पितामह भी सब अपना जीवन, धन छोड़कर युद्ध की अभिलाषा में इस रणक्षेत्र में उपस्थित हैं।।३३।।

व्याख्या:– इस श्लोक में 'प्राण' शब्द का प्रयोग 'जीवन' के परम्परागत अर्थ में नहीं अपितु 'शरीर में दस प्रकार के प्राणवायु' के रूप में हुआ है। श्रीमद्भागवत-महापुराण के १०वें स्कंध के २७वें श्लोक में इस 'प्राण' का वर्णन 'दशच्छदी' अर्थात् जीवन वृक्ष के दस पत्तों के रूप में किया गया है। ये वायु हैं - प्राण, अपान, बान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय।

ये जीवनवायु शरीर के विभिन्न अंगों जैसे शिराओं, धमनियों आदि में फैले रहते हैं और शरीर की रक्षा करते हैं - ''एते नाड़ीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः।'' यदि शरीर में इन दस वायुओं में से किसी एक की भी कमी हो तो संबंधित अंग विकल हो जाएगा और मानव जीवन संकट में

आ जाएगी। यहाँ धन का अर्थ है भूधन, गोधन, हयधन, गजधन, स्त्रीधन आदि। अर्जुन कहते हैं कि जो लोग युद्ध के उद्देश्य से उनके सामने प्रकट हुआ हैं वे इन दस प्रकार के प्राणवायु और उपरोक्त विभिन्न प्रकार के धन के मोह को छोड़कर युद्ध के मैदान में आ गये हैं।।३३।।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः # श्यालाः संबन्धिनः तथा।
एतान् न हन्तुम् इच्छामि # घ्नतः अपि मधुसूदन ।।३४।।

(यह संयुक्त श्लोक होने के कारण इस श्लोक का अर्थ अधूरा है, इस श्लोक का अर्थ पिछले ३२वें श्लोक से 'येषाम् अर्थे काङक्षितं नः राज्यं भोगाः सुखानि च' की सहायता से पूरा हो जाएगा)

अनुवाद :- (जिनके लिए हम राज्य, भोग, सुख चाहते हैं उनमें से यहाँ उपस्थित हैं) मामा, साले, ससुर, पौत्र, और संबंधीगण। हे मधुसूदन! यदि मैं मारा भी जाऊं, तो भी मैं उन्हें मारना नहीं चाहता ।।३४।।

व्याख्याः- उपरोक्त क्रमिक दोनों श्लोकों में अर्जुन ने विभिन्न कुलों का उल्लेख किया है। वे आचार्य के रूप में द्रोणाचार्य, कृपाचार्य अश्वत्थामा आदि और पितृव्य (पिता के भाई) के रूप में भूरिश्रवा आदि, पुत्र के रूप में अभिमन्यु, प्रतिविंध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, शतानीक, श्रुतसेन, घटोत्कच, लक्ष्मण आदि भाइयों को, 'च' शब्द द्वारा युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, दुर्योधन, दुःशासन आदि को, 'पितामह' शब्द द्वारा भीष्म, सोमदत्त, भीष्म के पिता बाह्लीक आदि को, मातुल शब्द द्वारा पुरुजित कुन्तिभोज, शल्य आदि को, ससुर शब्दों से द्रुपद, शैव्य आदि को, पौत्र शब्द द्वारा दुर्योधन, लक्ष्मण आदि का पुत्रों को, बहनोई धृष्टद्युम्न, शिखंडी, सुरथ आदि को और संबंधी से जयद्रथ, विराट प्रमुखों को उल्लेख किया है।।३४।।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य # हेतोः किं नु महीकृते।
निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः # का प्रीतिः स्यात् जनार्दन ।।३५।।

अनुवाद :- हे जनार्दन! नश्वर जगत् के लिए तो दूर की बात है, सम्पूर्ण त्रिलोक अर्थात् स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल का राज्य प्राप्त करने के लिए भी धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने से हमारे हृदय में क्या सुख मिलेगा?।।३५।।

पापम् एव आश्रयेत् अस्मान् # हत्वा एतान् आततायिनः।
तस्मात् न अर्हा वयं हन्तुं # धार्तराष्ट्रान् सबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा # सुखिनः स्याम माधव ।।३६।।

अनुवाद :- यदि हम इन सब आतायियोंको मार डालें तो हमे पाप हि लगेगा। इसलिए हम धृतराष्ट्र के पुत्रों को मित्रों के साथ नहीं मार सकते। माधव! कुटुंब को मारकर हम कैसे खुश रह सकते हैं?।।३६।।

व्याख्याः- यहाँ अर्जुन ने कौरवों को आततायियों के रूप में उल्लेख किया है। आततायी शब्द का सामान्य अर्थ वह है जो किसी को मारने के इरादे से हमला करता है। लेकिन जाहिर तौर पर यहां अब तक किसी ने किसी पर हमला या जान से मारने की कोशिश नहीं की है। दोनों युद्ध के लिए एक दूसरे के सामने खड़े हैं। जब युद्ध शुरू होगा, तो दोनों पक्षों के सैनिकों मारे जाएँगे। लेकिन उसे हत्या नहीं माना जा सकता। यह तो युद्ध का सामान्य नियम है। तो क्या अर्जुन ने कौरवों के संबंध में झूठा आरोप लगाया? और वह भी भगवान् कृष्ण के सामने? नहीं, ऐसा नहीं है। अर्जुन बिल्कुल भी झूठ नहीं बोला। शास्त्रों में छह प्रकार के आततायियों का उल्लेख मिलता है—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिः धनापहः।
क्षेत्र-दार-अपहर्ता च एव षड़ेते हि आततायिनः।।

(वसिष्टस्मृति तृतीय अध्याय)

अर्थात् घर में आग लगाने वाला, जहर देने वाला, मारने के लिए हथियार पकड़ने वाला, धन का हरण करने वाला, भूमि का हरण करने वाला और दूसरे की पत्नी का हरण करने वाला - ये छह प्रकार के लोगों को आततायी कहलाते हैं। दुर्योधन ने पांडवों को जहर देना और उनके घरों में आग लगाना, पांडवों को जुए में धोखा देकर उनका सब कुछ लूट लेना, जयद्रथ से द्रौपदी का हरण कर लेना जैसे अपराध किए! इसलिए अर्जुन ने शास्त्रों के अनुसार कौरवों पर आततायियों के रूप में सही आरोप लगाया। इस दृष्टि से रावण भी एक आततायी थे। फिर, भगवान् मनु कहते हैं कि आततायी को, चाहे वह गुरु हो, लड़का हो, बूढ़ा हो या महान वैदिक ज्ञान वाला ब्राह्मण हो, अंधाधुंध रूप से मार देना चाहिए, और अगर आततायी खुले तौर पर या गुप्त रूप से मारा जाता है तो हत्यारे की ओर से कोई अपराध या पाप नहीं होता–

गुरुं वा बालबृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनम् आयान्तं हन्यात् एव अविचारयन् ।।
न आततायिवधे दोषः हन्तुः भवति कश्चन।
प्रकाशं वा-अप्रकाशं वा मन्युः तत् मन्युम् ऋच्छति।।

(मनुसंहिता ८/३५०-३५१)

इन सब कारणों से भगवान् अर्जुन को शास्त्रों के अनुसार बार-बार युद्ध में प्रवृत्त करना चाहते थे। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि यदि ऐसे आततायियों का वध करना शास्त्र सम्मत है तो कृष्ण की प्रेरणा होते हुए भी अर्जुन कौरवों के वध को पाप क्यों कहते हैं? यहाँ दो उत्तर हैं। पहला उत्तर यह है कि सत्त्व-गुण से संपन्न अर्जुन का कोमल हृदय कौरवपक्षों के लिए सम्मान, प्रेम, स्नेह और करुणा से भरा था। इसलिए वह कौरवों के वध को अपने हृदय में स्वीकार नहीं कर सका और इसीलिए ऐसी बातें कही।

दूसरे, पूर्ण सत्त्व-गुण संपन्न परम ज्ञानी अर्जुन सम्यक जानते हैं कि शास्त्रों के अनुसार आततायियों को मारने में कोई पाप नहीं है। फिर सवाल उठता है कि कौरवों को मारने में उन्हें अब भी दर्द क्यों होता है। यह याद रखना चाहिए कि अर्जुन एक अच्छा व्यक्ति हैं। इसलिए वे हमेशा सतर्क रहते हैं ताकि उनके हाथों कोई अपराध न हो जाय। वे जानते हैं कि शास्त्र दो प्रकार के होते हैं- एक अर्थशास्त्र अर्थात् कानून जो हमेशा कानून की नजर में अपराध का विचार करता है और कहा जाता है कि कानून अंधा होता है। वह किए गए अपराध के अलावा कुछ नहीं देखता है। दूसरा है, धर्मशास्त्र यानी न्याय जो क्षमा, अहिंसा, पापी तरीके से पाप के बदला न लेना, किसी भी अपराध के लिए बड़ों की हत्या न करना आदि पर आधारित है। आततायियों के संबंध में ऊपर दिए गए प्रावधान अर्थशास्त्र पर आधारित हैं। तो अर्जुन का पवित्र हृदय इन दोनों के संघर्ष में बहुत रक्तरंजित है, भले ही अर्थशास्त्र हत्यारे को मारने का आदेश देता है, लेकिन धर्मशास्त्र उसे क्षमा करने का उपदेश भी देता है, क्योंकि अर्जुन जानते हैं कि धर्मशास्त्र यानी न्याय कानून से परे है और जहाँ भी अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र से टकराता है, वहाँ धर्मशास्त्र प्रबल होगा – "स्मृत्योर्बिरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः। अर्थशास्त्रास्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः" (याज्ञवल्क्यस्मृति २/२/२१)। विशेष रूप से इस ज्ञान और विचार के कारण अर्जुन को आततायी कौरवों पर दया आ गई।।३६।।

यद्यपि एते न पश्यन्ति # लोभ-उपहत-चेतसः।
कुलक्षय-कृतं दोषं # मित्रद्रोहे च पातकम् ।।३७।।

अनुवाद :- इन्होंने अपने हृदय को लोभ में समर्पित कर दिया है। इसलिए इन्हें अपने वंशजों की हत्या करने और अपने मित्रों से शत्रुता करने में कोई पाप या अन्याय नहीं दिखता ।।३७।।

व्याख्या:- यहाँ श्रीगीता में विश्व की समस्त मानव जाति के कल्याण के लिए मानव समाज के सुधार के उद्देश्य से तथा संपूर्ण मानव समाज के चारित्रिक, सामाजिक एवं सांसारिक विकास और सत्य का मार्गको दर्शाने के लिए एक महान एवं अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया गया है। वह है - लोभ मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु। यदि कोई उसके लपेट में जाता है तो उसके हृदय से अच्छाई का भाव लुप्त हो जाता है और उसका अज्ञानता के कारण उसका, उसके परिवार का और समस्त मानव समाज का चूड़ांत नुकसान होता है। इसलिए लोगों को लालच से दूरी बनाकर रखना ही बेहतर है ।।३७।।

कथं न ज्ञेयम् अस्माभिः # पापात् अस्मात् निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं # प्रपश्यद्भिः जनार्दन।।३८।।

अनुवाद :- हे जनार्दन! अपने कुल के विनाश के दोष को अच्छी तरह से जानते हुए भी हमलोगों को इस पापसे हटने के लिये क्यों नहीं सोचना विचारना चाहिये?।।३८।।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति # कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम् # अधर्मः अभिभवति उत।।३९।।

अनुवाद :- कुल का नाश होने पर संपूर्ण सनातन कुलधर्म का नाश हो जाते हैं। कहा जाता है कि जब धर्म का नाश होता है तो अधर्म पूरे परिवार को नष्ट कर देता है ।।३९।।

व्याख्या:- कुलधर्म किसे कहते हैं और वंश नष्ट होने से कुलधर्म कैसे नष्ट होगा, यह भी जानना आवश्यक है। नारदपरिव्राजकोपनिषद में कहा गया

है कि धैर्य, क्षमा, मन का संयम,अधर्म से धन का संचय न करना, पवित्रता, इंद्रियों का संयम, बुद्धि, आत्मज्ञान, सत्य बोलना और क्रोध न करना - ये आदर्श सनातन कुलधर्म के दस लक्षण हैं –

धृतिः क्षमा दमः अस्तेयं शोचम् इन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यम् अक्रोधो दशकं धर्मलक्षणं।।
नारदपरिव्राजकोपनिषत्, ३।२४

अब अर्जुन का कहना है कि यदि युद्ध में सभी वयस्क पुरुष मारे जाते हैं तो परिवार के बच्चों और महिलाओं का पालन-पोषण करने वाला कोई नहीं होगा। नतीजतन, उचित प्रबंधन और रखरखाव के अभाव में परिवार का पतन अवश्यम्भावी हो जाएगा ।।३९।।

अधर्म अभिभवात् कृष्ण # प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय # जायते वर्णसंकरः ।।४०।।

अनुवाद :- हे कृष्ण! जब कुल में पाप का प्रकोप होता है तो कुलनारी व्यभिचारिणी बन जाती हैं। हे वार्ष्णेय! यदि पत्नियाँ व्यभिचारिणी बन जाती हैं तो वर्णसंकर का जन्म होता है ।।४०।।

संकरो नरकाय एव # कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरः हि एषां # लुप्त-पिण्ड-उदक-क्रियाः।।४१।।

अनुवाद :- कुल के नाश करने वाले कुलघातियों सारे कुल सहित नरक में गिरते हैं तथा उस कुलमे पितरों को पिंडदान और तर्पण आदि क्रियाओं की समाप्ति हो जाने के कारण उनके सभी पितरोंका नरकमे पतन हो जाता है।।४१।।

दोषैः एतैः कुलघ्नानां # वर्णसंकरकारकैः।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः # कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४२।।

अनुवाद :- कुलघातियों के इन वर्णसंकरकारक दोषों के कारण सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।।४२।।

उत्सन्न-कुलधर्माणां # मनुष्याणां जनार्दन।

नरके नियतं वासो # भवति इति अनुशुश्रुम।।४३।।

अनुवाद :- हे जनार्दन! मैंने सुना है कि जो लोग अपने कुलधर्म को खो देते हैं वे हमेशा के लिए नरक में रहते हैं ।।४३।।

अहो बत महत् पापं # कर्तुं व्यवसिता वयम्।

यत् राज्यसुखलोभेन # हन्तुं स्वजनम् उद्यताः।।४४।।

अनुवाद :- हाय! अफसोस की बात है! हमलोग राज्यसुख के भोग के लिए स्वजनों की हत्या करने के घोर पाप में लिप्त होने जा रहे हैं।।४४।।

व्याख्याः- यहाँ गीता सभी लोगों के लिए एक अचूक शिक्षा देती हैं। हमने देखा है कि भले ही कौरवों ने पाण्डवों के खिलाफ असंख्य अपराध किए, अर्जुन ने कभी उन्हें दोष नहीं दिया। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने महाकाव्य श्रीरामचरितमानस में साधु संत के चरित्र का बहुत ही सुंदर शब्दों में वर्णन किया है—

साधुचरित सुभ सरिस कपासु।
निरस बिसद गुणमय फल जासु।।

जो सहि दुख परछिद्र दुरावा ।
बन्दनीय जेहि जग जसु पावा।।

अर्थात् साधु का जीवन रुई के समान होता है। जिस प्रकार कपास के बीजों में रस नहीं होता, उसी प्रकार साधु संतों के हृदय में किसी भी पार्थिव वस्तु के प्रति कोई आकर्षण या वासना नहीं होती, जैसे कपास का रंग पवित्रता का प्रतीक सफेद होता है उसी प्रकार सज्जन व्यक्ति का हृदय पवित्र होता है, सज्जन व्यक्ति का चरित्र गुणों से भरा होता है, कपास से सूत बनाते समय उसे कितना सताया जाता है लेकिन कपास चुपचाप सब कुछ सहते है और बदले में ओढ़ने के लिए कपड़े में बदल जाते है और दूसरों की गुप्त वस्तुओं को ढँक लेता है। इसी प्रकार साधु व्यक्ति दूसरों से प्राप्त सभी कष्टों और पीडनों को सहकर दूसरों का भला करता है और उनके सभी दोषों और विचलनों को ढक लेता है। अर्जुन जीवन में इस गुण का पालन करते रहते हैं। वे साधु स्वभाव के सज्जन पुरुष हैं। उन्होंने हमेशा खुद को दोष दिया हैं। इसलिए गीता का उपदेश है कि सदाचारी को दूसरों में दोष नहीं निकालना चाहिए। दूसरों के दोष देखना मूर्खता का कार्य है। यदि मनुष्य इस शिक्षा का पालन कर सके तो उनका जीवन और चरित्र सुंदर हो जाएगा।।४४।।

यदि माम् अप्रतीकारम् # अशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः # तत् मे क्षेमतरं भवेत्।।४५।।

अनुवाद :- यदि मुझ न सामना करनेवाले और शस्त्ररहित को धृतराष्ट्र के ये शस्त्रधारी पुत्रों युद्ध में निहत्थे ही मार दें तो भी यह मेरे लिए अधिक कल्याणकर होगा।।४५।।

संजय उवाच

एवम् उक्त्वा अर्जुनः संख्ये # रथ-उपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं # शोक-संविग्न-मानसः।।४६।।

अनुवाद :- संजय ने कहा - ऐसा कहकर शोक मे निमग्न मनवाला अर्जुन युद्धभूमि में बाणसहित धनुष को छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया।।४६।।

।। पहला अध्याय समाप्त हुआ।।

दूसरा अध्याय

सांख्ययोग

संजय उवाच

तं तथा कृपया आविष्टम् # अश्रु-पूर्ण-आकुल-ईक्षणम्।
विषीदन्तम् इदं वाक्यम् # उवाच मधुसूदनः।।१।।

अनुवाद :- संजय ने कहा – मधुसूदन ने अर्जुन को इस प्रकार करुणा से व्याकुल और अश्रुपूरित निगाहों से देखकर उनसे कहा।।१।।

श्रीभगवान् उवाच

कुतस्त्वा कश्मलम् इदं # विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् # अकीर्तिकरम् अर्जुन।।२।।

अनुवाद :- भगवान् ने कहा- हे अर्जुन! यह एक महत्त्वपूर्ण संकटके समय है। इस समय तुम में अनार्य जैसा यह परलोक विरोधी और अकीर्ति फैलानेवाला मोह कहाँ से आ गया।।२।।

व्याख्या:- इसी समय एक बड़ा संकट आ खड़ा हुआ है। एक ओर दुर्योधन, दुःशासन आदि का उल्लास है तो दूसरी ओर धर्मपरायण लोगों की विवशता है। धर्म की स्थापना और अधर्म के विनाश के लिए यह युद्ध अवश्यम्भावी है। यहाँ धर्म का अर्थ पूजा, उपासना, बुतपरस्ती आदि नहीं है। यहाँ धर्म का अर्थ है सभी प्रकार के अन्याय, अत्याचार और बुरा

शासन को समाप्त करके समाज में न्याय और सत्य की स्थापना करना। दुर्योधन के अत्याचार के कारण समाज में यह न्यायधर्म का संकट उत्पन्न हो गया है। पांडवों की ओर से दुर्योधन को उसके अधर्म, अन्याय, अत्याचार को रोकने के सभी शांतिपूर्ण प्रयास बुरी तरह विफल रहे। अब केवल यही युद्ध समाज को दुर्योधन के अधर्म से बचाने तथा समाज के परम हित के लिए रह गया है। यदि इस युद्ध नहीं होता है, तो दुर्योधन विजयी होगा और दुनिया भयानक बुराई से भर जाएगी। समाज की रक्षा के व्यापक हित में यह युद्ध आज सामने मौजूद है। अत: इस समय इस युद्ध को त्याग देना अर्जुन की ओर से समाज के प्रति घोर अन्याय होगा और एक क्षत्रिय के रूप में अपने कर्तव्य से भटकना होगा, जो मनुष्यों की दृष्टि में एक अपराध और पाप माना जाएगा। इसलिए कृष्ण बार-बार अर्जुन को पूरी तरह से नि:स्वार्थ रूप से इस युद्ध में शामिल होने के लिए प्रेरित करते हैं। यह युद्ध किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए, किसी भोग या सुख के लिए या दूसरों पर बदला लेने के लिए नहीं, यह युद्ध समाज के प्रति जिम्मेदार व्यक्ति का निष्काम कर्तव्य है। तो यह युद्ध पूरी तरह से सिर्फ न्याययुद्ध है। इस युद्ध में भाग लेना कोई पाप नहीं है, लेकिन इससे बचना अपराध और पाप माना जाएगा।

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के चौथे सूक्त के आठवें मंत्र में कहा गया है-

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभव:।
प्रावो वाजेषु वाजिनम्।।

अर्थात् जो पुरुष दुष्ट के साथ धर्मपूर्वक युद्ध करता है, वही विजय पाता है और परमेश्वर भी धर्मपूर्वक युद्ध करने वाले पुरुष की सहायता करते हैं।

यहाँ श्रीकृष्ण की लोकशिक्षा यह है कि किसी भी प्रकार के लाभ के बारे में सोचे बिना नि:स्वार्थ भाव से लोगों के पक्ष में किसी भी कीमत पर खड़े रहना कर्तव्य है।

इस श्लोक में प्रयुक्त भगवान् शब्द का अर्थ पाठक को स्पष्ट होना चाहिए। भगवान् शब्द की व्युत्पत्ति है - भज् (सेवा करना इत्यादि), ग कर्म और अर्थ भगयुक्त। 'भग' शब्द का अर्थ है - पूर्ण षडैश्वर्य अर्थात् पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण वीर्य, पूर्ण श्री, पूर्ण यश, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वैराग्य—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव यन्नां भग इतीङ्गना।।

—विष्णुपुराण ६।५।७४

विष्णुपुराण (६।५।७९) भगवान् शब्द का अर्थ बताता है और आगे कहता है कि उसे ही भगवान् कहा जाता है जो सभी दोषों से रहित ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, पौरुष और तेज का भण्डार है—

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्य-वीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि बिना हेयैर्गुणादिभिः।।

यह जानना भी उचित है कि गीता में 'भगवान्' शब्द किनके लिए प्रयुक्त हुआ है। विष्णुपुराण (६।५।७६) में कहा गया है कि भगवान् शब्द से केवल परमपुरुष श्रीकृष्ण को ही पुकारा जाता है और इस शब्द का अन्यत्र प्रयोग अर्थहीन होगा—

एवमेष महाशब्दो भगवानिति सत्तम्।
परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यतः।।

यह यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं है कि विष्णु पुराण में वर्णित भगवान् के उपरोक्त सभी गुण केवल भगवान् श्रीकृष्ण में ही पूरी तरह से मौजूद हैं। तो वे श्रीकृष्ण भगवान् हैं। अतः श्रीमद्भगवद्गीता में केवल श्रीकृष्ण को ही 'भगवान्' शब्द से सम्बोधित किया गया है। अतः जहां कहीं भी 'भगवान्'

शब्द का उच्चारण किया जाता है, वहां यह समझ लेना चाहिए कि उस महान शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण ही हैं।

यहाँ भगवान् कृष्ण अपने उपदेश की शुरुआत में अर्जुन को 'अर्जुन' कहकर संबोधित करते हैं। अर्जुन का अर्थ है श्वेत। यह सफेद रंग सात्त्विक गुणों का प्रतीक है और लाल और काला क्रमशः रजस और तामस गुणों का प्रतीक है। तो भगवान् ने अपनी वाणी के प्रारम्भ में अर्जुन को सात्त्विक गुण वाला माना। इसका कारण जानना है। कौरवों ने बचपन से ही पांडवों पर अत्याचार और अन्याय किया और द्रौपदी सहित भगवान् कृष्ण आदि सभी का अपमान किया। शांति बनाए रखने के उनके अनगिनत प्रयासों को नकार कर इसने अन्यायपूर्ण तरीके से उन्हें युद्ध के मैदान में खड़ा कर दिया है। फिर भी पराक्रमी अर्जुन के मन में कौरवों के प्रति कोई द्वेष नहीं था। युद्ध में उनके सहायक हैं संसार के निर्माता, स्थिति और प्रलय का कर्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण। उनके पास पाशुपत नामक एक भयानक शक्तिशाली हथियार है। वे कौरवों को युद्ध में आसानी से हरा सकता हैं और चाहे तो सिंहासन कब्जा कर सकते हैं। लेकिन फिर भी वह कौरवों से जरा भी नाराज नहीं हैं। बल्कि वे कौरवों का कोई नुकसान नहीं चाहते हैं। उनका हृदय उनके लिए सम्मान, प्रेम और करुणा से भरा है। मन की आँखों से कौरवों के तत्काल विनाश को देखकर उन्हें बड़ी पीड़ा हुई। इस वजह से उनका दिल उदासी और अवसाद में धड़क रहा है। वे अपने इन सभी निकट संबंधियों को मारने की बजाय अपना जीवन भिखारी के रूप में बिताना बेहतर समझता हैं। तो वे जो अपराध करने वाले पर दोष नहीं लगाते, दूसरों को दोष नहीं देते, जो दूसरों के दोषों पर विचार करने के बजाय अपने स्वयं के दोषों को गिनतो हैं, जो दोषी रिश्तेदारों की हानि, दुःख और पीड़ा के बारे में सोचकर अपने दिल में गहरी पीड़ा महसूस करते हैं, जो अत्याचारी और

उनकी समस्त सम्पत्ति का अपहरण करने वाला अपने सम्बन्धियों के प्राणों के बदले में धन, सम्पत्ति, राजसुख पाना बेहतर नहीं समझते हैं, ऐसे व्यक्ति का चरित्र राजस या तामस नहीं हो सकता। यह सदैव श्वेत, शुद्ध, सात्त्विक गुणों से युक्त होता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने उन्हें सात्त्विक उपाधि से सम्मानित किया।

यहां भी गीता ने दुनिया को सिखाया है कि एक आदर्श इंसान का चरित्र कैसा होना चाहिए। लेकिन अधिकांश लोग इस महान शिक्षा को आत्मसात करने में विफल रहते हैं। यही दु:ख की बात है।।२।।

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ # न एतत् त्वयि उपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं # त्यक्त्वा उत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

अनुवाद :– हे पार्थ! तुम इतने कायर नहीं बनोगे। यह तुम्हें शोभा नहीं देता है। हे परंतप! हृदय की संकीर्ण दुर्बलता को दूर करके तुम खड़े हो जाओ ।।३।।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्मम् अहं संख्ये # द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि # पुजार्हौ अरिसूदन।।४।।

अनुवाद :– अर्जुन ने कहा- हे अरिसूदन मधुसूदन! मैं किस प्रकार परम पूज्य पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्य पर बाणों से युद्ध कर सकुँगा? ।।४।।

व्याख्या:– इस अध्याय के दूसरे और तीसरे श्लोक में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अपने मन के अंधकार को दूर करने और अपने कर्तव्य पर टिके रहने के लिए पर्याप्त सलाह दी है। लेकिन अर्जुन के हृदय संशय के काले बादलों से मुक्त नहीं हुआ। तो उन्होंने फिर से भगवान् कृष्ण से पूछा कि उनके लिए अपने पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण को मारना कैसे संभव है

क्योंकि पितामह भीष्म परम भागवत यानी भगवान् के परम भक्त हैं। पांडव गीता में भीष्म को परमभागवत के रूप में नमन किया गया है—

प्रह्लाद-नारद-पराशर-पुण्डरीक—
व्यास-अम्बरीष-शुक-शौनक-भीष्म-दालभ्यान्।
रुक्माङ्गद-अर्जुन[1]-वसिष्ठ-विभीषणादीन्
पुण्यान् इमान् परमभागवतान् नमामि।।
(पाण्डवगीता -१)

श्रीद्भागवत-महापुराण के प्रथम स्कन्धका १३वें अध्याय के १०वें श्लोक में युधिष्ठिर कहते हैं कि भागवत अर्थात् भगवान् का परम भक्त स्वयं तीर्थस्वरूप है जो अपने हृदय में निवास करने वाले भगवान् की सहायता से उस तीर्थ को महातीर्थ में बदल देता है। उनके लिए भगवान् के परम भागवत को हथियार से मारना कैसे संभव है? इसके अलावा, गुरु द्रोणाचार्य एक ब्राह्मण हैं। मनुस्मृति कहती हैं कि ब्राह्मण का शरीर धर्म का शाश्वत मूर्ति हैं। वे ब्राह्मण धर्म के लिए पैदा हुआ हैं और ब्राह्मण मोक्ष के योग्य हैं। ब्राह्मण हि संसार में सर्वश्रेष्ठ और धर्म का योग्य रक्षक हैं—

उत्पत्तिरेव बिप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्भूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये।।
(मनुस्मृति १।९८-९९)

---

1. अर्जुन- यह पाण्डु पुत्र अर्जुन नहीं हैं। वे क्षत्रिय समाज के हेहय वंश के राजा कार्तवीर्य और रानी कौशिक के पुत्र महिष्मती के राजा सहस्त्रार्जुन हैं। उनका पहला नाम थे अर्जुन। उन्होंने तपस्या से परशुराम को संतुष्ट किया और उन्हें एक हजार भुजाओं का आशीर्वाद मिला। तभी से उनका नाम सहस्त्रार्जुन पड़ गया। एक बार उन्होंने रावण को युद्ध में हराकर कैद कर लिया।

श्रुति का कहना है कि ब्राह्मण को कभी नहीं मारना चाहिए— 'न ब्राह्मणं हन्यात्।' महाभारत में पितामह भीष्म कहते हैं कि जो ब्राह्मण पर प्रहार करते हैं, ब्राह्मण को शाप देते हैं, कठोर बोलते हैं, ब्राह्मण को प्रणाम नहीं करते हैं, वे ब्रह्मदवाग्नि द्वारा भस्म हो जाते हैं और दंड पाते हैं। वे कभी हमारा अपना नहीं हो सकते—

घ्नन्तं शपन्तं परुषं बदन्तं यो ब्राह्मणं न प्रणमेद यथाहम्।
स पापकृद् ब्रह्मदवाग्निदग्धो बध्यश्च दण्ड्यश्च न चास्मदीय:।।

अर्जुन के मन में प्रश्न थे कि जिन्हें शास्त्रों ने इतना सर्वोच्च दर्जा दिया है, उन्हें मारना उनके लिए कैसे संभव है। इसके अलावा, अर्जुन ने इस श्लोक में भगवान् को 'मधुसूदन' यानी मधु नामक राक्षस का नाश करने वाले के रूप में संबोधित किया है। जाहिर तौर पर उन्हें लगा कि मधु, केसी, पूतना, तृणावर्त, अघासुर, वकासुर, जरासंध, कंस, शिशुपाल आदि, जिन्हें कृष्ण ने मारा, वे असुर, राक्षस, अत्याचारी थे। उन्हें मारने में कोई अन्याय नहीं हो सकता। इसलिए उनके लिए परम भागवत पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण जो शिष्य के लिए ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर के समान हैं, जिन्होंने केवल अपना वादा निभाने के लिए पापी दुर्योधन का पक्ष लिया है उन्हें मारना असंभव है। इसलिए उन्होंने युद्ध को त्याग देना ही उचित समझा।।४।।

गुरून् अहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्षम् अपि इह लोके।
हत्वा अर्थ-कामान् तु गुरून् इह एव
भुञ्जीय भोगान् रुधिर-प्रदिग्धान् ।।५।।

अनुवाद :- इस संसार में इन महानुभाव बड़े-बुजुर्गों की हत्या करने के वजाय निश्चय ही भीख मांगकर जीना अच्छा है। धन और भौतिक वस्तुएँ

जो इस संसार में बड़ों की हत्या करके भोगी जा सकती हैं, वे निश्चित रूप से उनके खून से सनी हुई हैं।।५।।

व्याख्या :- इस श्लोक में अर्जुन द्वारा प्रयुक्त 'अर्थ-कामान्' शब्द का विशेष महत्त्व है। अर्जुन जानते थे कि आचार्य द्रोण को कौरवों से धन और काम्यवस्तु प्राप्त है और इसलिए उन्हें युद्ध में कौरवों का पक्ष लेने के लिए मजबूर होना पड़ा। द्रोण ने स्वयं अपने मुख से युधिष्ठिर के सामने यह बात स्वीकार की—

अर्थस्यो पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धः अस्मि अर्थेन कौरवैः।।

(महाभारत भीष्मपर्व ४३।५६)

अब यदि अर्जुन कौरव पक्ष को पराजित करके और अन्य वीरों सहित द्रोण को मार कर राज्य पर विजय प्राप्त करते हैं, तो कौरवों से द्रोण द्वारा प्राप्त धन भी उनके द्वारा ले लिया जाएगा और इस प्रकार प्राप्त धन द्रोण के रक्त से रंजित होगा। अर्जुन ने ये वचन विशेष रूप से इसी कारण से कहे थे।।५।।

न च एतत् विद्मः कतरत् नः गरीयो
यत् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यान् एव हत्वा न जिजीविषामः
ते अवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

अनुवाद :- यदि हम युद्ध जीत जाएँ या कौरव हमें हरा दें तो इन दोनों में से कौन-सी स्थिति हमारे लिए श्रेयस्कर है, मैं नहीं जानता। और, जिन्हें मारकर हम जीवित नहीं रहना चाहते, धृतराष्ट्र के वे पुत्रों हमारे सामने उपस्थित हैं।।६।।

कार्पण्य-दोष-उपहत-स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्म-संमूढ-चेताः।
यत् श्रेयः स्यात् निश्चितं ब्रूहि तत् मे
शिष्यः ते अहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।७।।

अनुवाद :- कार्पण्यदोष से पीड़ित होने के कारण मेरा मन धर्मसंकट में पड़ गया है। मैं आपसे पूछ रहा हूँ - कृपया मुझे बताएं कि ऐसी स्थिति में मेरे लिए क्या करना सही होगा। मैं आपका शिष्य हूँ, मैंने आपकी शरण ली है। आप मुझे सलाह दें ।।७।।

व्याख्याः- 'कृपण' शब्द अपने सामान्य अर्थ में कंजूस जिसका अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'miser' से है, इस श्लोक में इसके स्थूल अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। वृहदारण्यकोपनिषद का ३।८।१० मंत्र में कहा गया है कि जो अक्षर अर्थात् अविनाशी परब्रह्म नारायण को जाने बिना संसार में आते हैं, मरते हैं और फिर से वापस आ जाते हैं, उन्हें 'कृपण' कहा जाता है— 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकाल्लोकात्प्रैति स कृपणः।' हालाँकि, यहाँ 'कृपण' शब्द का प्रयोग दया, करुणा आदि के अर्थ में किया गया है। आततायी होते हुए भी दुर्योधन के प्रति जिस प्रकार करुणा और दया से अर्जुन का हृदय उमड़ता है, उसे यहाँ उनके चरित्र का कार्पण्यदोष माना जाता है। इस श्लोक में अर्जुन के धर्मसंकट का भी उल्लेख है। यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग Religion के अर्थ में नहीं किया गया है। महाभारत में धर्म का अर्थ गृहस्थ धर्म, संन्यास धर्म, अहिंसा धर्म, पातिब्रत धर्म, दान धर्म, राजधर्म आदि है। अब यदि किसी के मन में यह शंका उत्पन्न हो कि उसे किस धर्म का पालन करना चाहिए— गृहस्थ धर्म या संन्यास धर्म तो यह कहा जा सकता है कि वह धर्मसंकट में है। अर्जुन के हृदय में इस बात को लेकर तीव्र हलचल थी कि राजधर्म या अहिंसा में से किस धर्म का पालन

करना उनके लिए बेहतर होगा। इसलिए कहा जाता है कि उनका धर्मसंकट हो गया।

इस के अलावा उपरोक्त सातवें श्लोक के अंत में हम पाते हैं कि अर्जुन स्वयं को भगवान् कृष्ण के शिष्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं और कृष्ण से उपयुक्त उपदेश का याचना करते हैं। इसके महत्त्व को जानना आवश्यक है। अर्जुन ने कृष्ण को भगवान् के रूप में स्वीकार किया। लेकिन व्यावहारिक जीवनमें हमने देखा है कि अर्जुन कृष्ण को मित्र मानते थे। एक दूसरे को मित्र तभी मानता है जब वह दूसरे को अपने समान समझता है। हम देख चुके हैं कि व्यवहारिक जीवन में अर्जुन और भगवान् के बीच समतुल्य व्यवहार मौजूद था - एक साथ आहार करना, बिहार करना, सोना इत्यादि दोनों की दैनिक आदतें थीं। खतरे के समय मित्रों से सलाह मिलती है। लेकिन उस सलाह पर अमल करने की जिम्मेदारी पूरी तरह से उसी पर ही रहता है, दोस्त पर नहीं। अर्जुन ने ठीक ही यहाँ अनुभव किया है कि इतनी जटिल विकट परिस्थिति में किसी मित्र की सलाह लेकर सही निर्णय लेने की क्षमता उनमें नहीं है। इसलिए उन्हें अब किसी ऐसे सद्गुरु की सलाह की जरूरत है जिन पर भरोसा किया जा सके और आत्मविश्वास के साथ इस महान कार्य में कूद सके। उसे अच्छे निर्णय की कोई आवश्यकता नहीं है। सिर के ऊपर गुरु हैं जो सृष्टि, स्थिति, लय का स्वामी हैं। वे इस महान कार्य के गुणों और दोषों का आंकलन करेंगे। मरना है तो वे मारेंगे और जीना है तो वही बचाएंगे। इसी उद्देश्य से अर्जुन ने बड़ी युक्तिसंगत ढंग से स्वयं को पूर्ण श्रद्धा के साथ कृष्ण के शिष्य के स्थान पर रखा।

यहाँ गीता ने समस्त मानव समाज को एक महान उपदेश दिया है कि सुख-दु:ख, हर्ष और विषाद, सफलता-असफलता, उतार-चढ़ाव, निद्रा-सपना-जागृति में जीवन का एक ही कर्तव्य है कि पूरी श्रद्धा और भक्ति के साथ परम पुरुषोत्तम, परम दयालु भगवान् कृष्ण की ही शरण ग्रहण करो ।।७।।

न हि प्रपश्यामि मम अपनुद्यात्
यत् शोकम् उच्छोषणम् इन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमौ असपत्नम् ऋद्धं।
राज्यं सुराणाम् अपि च आधिपत्यम् ।। ८।।

अनुवाद :- यद्यपि मैं इस लोक में स्वर्ग के देवताओं के समान पूर्ण ऐश्वर्य से निष्कण्टक समृद्ध राज्य का आनंद लेने में सक्षम हो सकता हूँ, फिर भी (भविष्य में दुर्योधन आदि सम्बन्धियों की मृत्यु के विचार से) मेरी समझ में नहीं आता कि जो दु:ख निरंतर मेरी इंद्रियों को अवशोषित कर रहे हैं अर्थात् मुझे सब प्रकार से पंगु बना रहा है, उनका अंत कैसे हो सकता है।।८।।

संजय उवाच

एवम् उक्त्वा हृषीकेशं # गुडाकेश: परन्तप:।
न योत्स्य इति गोविन्दम् # उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।।९।।

अनुवाद :- संजय कहा- ऐसा कहकर शत्रुहन्ता निद्राविजयी अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा— हे गोविन्द! मैं निश्चित रूप से नहीं लड़ूंगा। इसके बाद अर्जुन चुप हो गया ।।९।।

तम् उवाच हृषीकेश: # प्रहसन् इव भारत ।
सेनयो: उभयो: मध्ये # विषीदन्तम् इदं वच: ।।१०।।

अनुवाद :- हे राजन! भगवान् कृष्ण ने दोनों ओर के सैनिकों के बीच उदास अर्जुन की ओर मुस्कुराते हुए यह बात कही ।।१०।।

श्रीभगवान् उवाच

अशोच्यान् अन्वशोचः # त्वं प्रज्ञावादान् च भाषसे।
गतासून् अगतासून् च # न अनुशोचन्ति पण्डिताः ।।११।।

अनुवाद :- श्रीभगवान् ने कहा- जिस पर शोक नहीं करना चाहिए, उसके लिए तुम शोक कर रहे हो और तुम ज्ञानियों की भाँति बातें कर रहे हो। पंडित किसी के मृत या जीवित होने पर शोक नहीं करते ।।११।।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् कहते हैं कि पंडित किसी के मृत या जीवित होने पर शोक नहीं करते। अब यह जानना आवश्यक है कि 'पंडित' किसे कहते हैं। 'पंडित' शब्द की उत्पत्ति 'पण्डा' शब्द से हुई है। 'पण्डा' शब्द का अर्थ है ज्ञान, प्रखर बुद्धि, शंकराचार्य के अनुसार आत्मविषयक बुद्धि अर्थात् वह बुद्धि जिससे आत्मा को जाना जाता है और उस बुद्धि के स्वामी को पंडित कहा जाता है - 'पण्डा आत्मबिषया बुद्धिः येषां ते हि पण्डिताः।' वृहदारण्यकोपनिषद का मंत्र ३।५।१ भी पंडित के अर्थ में आत्म-ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को संदर्भित करता है— 'पाण्डित्यं निर्विद्य।' तो भगवान् कहते हैं कि जो पंडित आत्मा को समान रूप से जानते हैं, वे किसी मृत या जीवित व्यक्ति के लिए शोक नहीं करते हैं। तो भगवान् यहाँ स्पष्ट कहते हैं कि अर्जुन को आत्मबिषयक बुद्धि नहीं है अर्थात् वह पंडित नहीं है। क्योंकि वह नहीं जानता कि आत्मा कभी मरती नहीं है और एक सच्चिदानंदघन परब्रह्म के अलावा किसी का अस्तित्व नहीं है, सारा संसार नश्वर है, स्वप्न के समान मिथ्या है। तो किसके लिए शोक? आत्मा का रहस्य अर्जुन के लिए अज्ञात है। वास्तव में शरीर एक निर्जीव पदार्थ है, आत्मा का शरीर से जुड़ाव और वियोग अवश्यम्भावी है। शरीर नश्वर है लेकिन आत्मा शाश्वत है। परंतु अर्जुन को इस बारे में कुछ भी पता नहीं है। फिर भी अर्जुन पंडितों की भाँति कहते हैं कि यदि युद्ध में कुल का नाश होता है, तो कुलनारी नेतृत्व की कमी

के कारण भ्रष्ट हो जाएंगी, कुल में वर्णसंकर का जन्म होगा, स्वर्गीय पिता, दादा जैसे पूर्वजों का तर्पण और पिंडदान बंद हो जाएगा और वे नरक में गिरेंगे, जिन मित्रों से उन्हें युद्ध करना है उनके बिना युद्ध जीतने की उनकी खुशी अधूरी रहेगी, बड़ों को मारने से जो धन प्राप्त होगा वह धन उनके खून से सना हुआ होगा और इसलिए उपभोग आदि के लिए अनुपयुक्त होगा। पंडित इन बातों पर विचार नहीं करते। वे जानते हैं कि शरीर नश्वर है। इसलिए अर्जुन का यह विचार बिलकुल गलत हैं। इसके अलावा, सदाचारी पितामह भीष्म और द्रोण अपनी परमार्थरूपसे नित्य, शाश्वत होनेके कारण अशोच्य हैं अर्थात् शोक करने योग्य नहीं हैं— ''भीष्मद्रोणाद्वय: सद्वृत्तत्वात् परमार्थरूपेण च नित्यत्वात् तान् अशोच्यान्'' (शाङ्करभाष्य २।११)। फिर भी अर्जुन उनकी मृत्यु पर शोक मनाते हैं। तो अर्जुन पंडित नहीं है।।११।।

न तु एव अहं जातु न आसं # न त्वं न इमे जनाधिपा:।
न चैव न भविष्याम: # सर्वे वयम् अत:परम्।।१२।।

अनुवाद :– यह बात कदापि सत्य नहीं है कि मैं पहले नहीं था या तुम नहीं था या ये राजालोग कभी नहीं थे अथवा हम भविष्य में कभी नहीं होंगे।।१२।।

व्याख्या :– यहाँ भगवान् यह कहना चाहते हैं कि वे सर्वशक्तिमान हैं। इसलिए वे शाश्वत रूप से अमर है, वे सृष्टि के पहले से अस्तित्व में हैं, भले ही यह सृष्टि समाप्त हो जाए, वे अस्तित्व में रहेंगे। इसी तरह, अर्जुन की तरह क्षेत्रज्ञ आत्माएं भी शाश्वत हैं, अमर हैं। रामानुजाचार्य इस श्लोक में कृष्ण के कथन का अर्थ यही बताते हैं - यथा अहं सर्वेश्वर: परमात्मा नित्य इति न अत्र संशय: तथा एव भवन्त: क्षेत्रज्ञा आत्मान: अपि नित्या।।१२।।

देहिनः अस्मिन् यथा देहे # कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर-प्राप्तिः # धीरः तत्र न मुह्यति ।।१३।।

अनुवाद :- जिस प्रकार देह धारण करने वाले के इस शरीर में बाल्य, यौवन और बुढ़ापा आते हैं, उसी प्रकार उसे दूसरा शरीर भी प्राप्त हो जाता है। ज्ञानीलोग उसके लिए शोक नहीं करते ।।१३।।

व्याख्या :- गीता के तत्त्व को ठीक से समझने के लिए इस श्लोक के एक बिंदु को बहुत ध्यान से समझने की आवश्यकता है। यहाँ 'मृत्यु' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है बल्कि 'देहांतरप्राप्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने 'मृत्यु' के स्थान पर 'देहांतरप्राप्ति' शब्द का प्रयोग बहुत सोच-समझकर किया था। यहाँ देही का अर्थ प्राकृत जीव नहीं अपितु आत्मा है। जो इस शरीर में रहता है वे आत्मा हैं, स्थूल मैं नहीं। मैं किराए के मकान में रहता हूँ। घर मेरा नहीं है। मैं किसी और के घर में रहता हूँ। इसलिए मुझे उस घर से कोई हमदर्दी नहीं है। अगर यदि कभी वह घर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, तो मैं उसकी मरम्मत किये बिना ही दूसरे घर में चला जाता हूँ। इसी तरह, आत्मा को शरीर के लिए कोई ममता नहीं है, भौतिक संसार की अन्य सभी वस्तुओं की तरह जब यह शरीर घिस जाता है, तो आत्मा पूर्ण उदासीनता के साथ दूसरे शरीर में अपना स्थान बदल लेती हैं।।१३।।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय # शीत-उष्ण-सुख-दुःखदाः ।
आगम-अपायिनः अनित्याः # तान् तितिक्षस्व भारत ।।१४।।

अनुवाद :- हे कौन्तेय! भौतिक संसार की वस्तुओं के साथ इंद्रियों के संबंध के परिणामस्वरूप सर्दी, गर्मी, सुख, दुख आदि की भावनाएँ पैदा होती हैं। वे आते भी हैं और जाते भी हैं। ये सभी अनित्य या अस्थायी हैं। इसलिए उन्हें सहन करने का अभ्यास करें ।।१४।।

व्याख्याः- यह श्रीमद्भगवद्गीता की अत्यंत महत्त्वपूर्ण लोकशिक्षा है। जीवन में जैसे सुख हैं वैसे ही दुख भी हैं। सुख-दुःख चलने वाले चक्र की तरह आते-जाते रहते हैं। कोई भी स्थायी नहीं है लेकिन जीवन में दोनों का आना जाना निश्चित है। इसलिए सुख-दुःख की भावनाओं से अधिक उत्तेजित या निराश होना उचित नहीं होगा। लेकिन आमतौर पर लोग ऐसा नहीं करते। वे यह नहीं सोचते कि एक ही वस्तु कभी सुख तो कभी दुःख का कारण बनती है। इसलिए यदि जीवन में सुख-दुःख दोनों को स्वीकार करने की आदत नहीं डाली गई तो जीवन अनंत दुखों से भर जाएगा। उदाहरण के लिए, लोगों का सरकारी सेवा-जीवन खुशी का समय होता है। लेकिन अगर कोई उस नौकरी को ही जीवन का सब कुछ समझता है, खुशी के नशे में उस नौकरी के जीवन का मनमाना आनंद लेना चाहता है, तो जिस क्षण उसे सेवानिवृत्त होना होगा उसी क्षण से अपना जीवन जीना एक भयानक यातना जैसा लगेगा। दूसरा, यदि कोई व्यक्ति तीव्र शारीरिक पीड़ा सहन न कर सके और कुछ भयानक कर बैठे तो कुछ दिनों के बाद वह पीड़ा का ठीक हो जाने के पश्चात जो खुशी के दिन के आने की संभावना थी वह गायब हो जाएगी और उसके परिवार में दूसरों के जीवन पर अंतहीन दुख उतरेगा। और यदि किसी को धनी होने के कारण अत्यधिक शराब पीने की लत लग जाती है तो उसे पीते समय तत्काल सुख की अनुभूति तो होती है, लेकिन यह सुख बहुत ही क्षणिक होता है और कुछ ही दिनों में जब इसके कारण उसके शरीर में कोई भयंकर रोग जड़ जमा लेता है तो उसका सुख दूर हो जाता है। इसलिए गीता सिखाती है कि जीवन में सुख और दुख दोनों को पूरी तरह से अस्थायी मानते हुए संयम से लिया जाना चाहिए ।।१४।।

यं हि न व्यथयन्ति एते # पुरुषं पुरुषः ऋषभ।
सम-दुःख-सुखं धीरं # सः अमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

अनुवाद :- हे पुरुषश्रेष्ठ! कर्मो को करनेवाले धैर्यवान पुरुष जो दुख और सुख में स्थिर रहता है और दुख और सुख को समान मानता है वह मोक्ष के लिए उपयुक्त है।।१५।।

व्याख्या:- इस श्लोक में गीता ने सनातन धर्म के एक महान विषय को बहुत ही सारगर्भित रूप से सामने लाया है। गीता में बताए गए तत्त्व का सार है मनुष्य का मोक्षलाभ । अन्य धर्मों में मानव जीवन का परम लक्ष्य है स्वर्ग की प्राप्ति करना। लेकिन श्रीमद्भगवद्गीता स्वर्ग को मानव जीवन के आदर्श के अंतिम रूप में नहीं, बल्कि उससे बहुत आगे के मोक्ष के रूप में प्रस्तुत करता है। जब मनुष्य अपना जीवन पुण्य कर्मों में व्यतीत करता है तो उसे पुरस्कार के रूप में स्वर्ग प्राप्त होता है जहाँ न कोई दुःख है, न कोई कष्ट है, न कोई पीड़ा है, केवल अनंत पवित्र आनंद है। लेकिन गीता स्वर्ग की इस प्राप्ति को जीवन का वास्तविक लक्ष्य नहीं मानती क्योंकि स्वर्ग में भी एक चीज भोगने को रह जाती है - अनंत सुख। यदि हृदय में वासना हो तो आत्मा कभी मुक्त नहीं होती, उसे फिर से जन्म लेना पड़ता है। और जब पुनर्जन्म होता है तो सुख-दुख का चक्र फिर से चलता है। इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिए मोक्ष की आवश्यकता है। यदि मोक्ष प्राप्त हो जाता है तो आत्मा को जन्म-मरण के चक्र से नहीं गुजरना पड़ता है। मोक्ष के लिए पवित्र जीवन जीना और जीवन के सुख-दुःख को समान दृष्टि से देखना आवश्यक है ताकि मनमे किसी की अपेक्षा न रहे और कुछ न मिलने पर हृदय को पीड़ा न हो। और यदि मन में कोई अपेक्षा न हो तो सत्कर्म करने तथा पवित्र और वैराग्यमय जीवन जीने से आत्मा स्वर्ग की सीमाओं को पार कर मोक्ष में स्थायी स्थान प्राप्त कर सकती है। वास्तव में यदि संसार के

सभी लोग गीता के इस उपदेश से प्रेरित हो सकें तो संसार एक सर्वांगीण सुंदर स्थान बन जाएगा। क्योंकि इस शिक्षा के फलस्वरूप संसार में तब अन्याय और अत्याचार नहीं होगा, भ्रष्टाचार नहीं होगा, दूसरों की कोई वस्तु अपहरण करने का प्रयास नहीं होगा, केवल ईमानदारी, पवित्रता और आसक्ति रहित भोग होगा। और भी कई धर्मों में कहा गया है कि अगर लोग अच्छे कर्म करके स्वर्ग जाते हैं तो उन्हें वहां तरह-तरह की चीजें मिलती हैं। लेकिन गीता में इसका खंडन किया गया है और कहा गया है कि स्वर्ग मनुष्य का वास्तविक अंतिम लक्ष्य नहीं है, मनुष्य को स्वर्ग से परे एक और दुनिया का लक्ष्य रखना चाहिए - मोक्ष, जहां सुख की कोई इच्छा नहीं होगी, लाभ और हानि की कोई भावना नहीं होगी और इन्हें पाने के लिए लोगों को श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित उपरोक्त शिक्षाओं के माध्यम से एक बेहतर नैतिक जीवन जीने की आवश्यकता है।।१५।।

न असतो विद्यते भावो # न अभावो विद्यते सतः ।
उभयोः अपि दृष्टः अन्तः # तु अनयोः तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

अनुवाद :- असत् वस्तुओं का भाव अर्थात् अस्तित्व नहीं होता, जबकि सत् वस्तुओं का नाश नहीं होता। हालाँकि, तत्त्वज्ञानियों ने इन सभी सत् और असत् वस्तुओं को समान रूप से प्रत्यक्ष किया है।।१६।।

व्याख्याः- सामान्य समाज में जिस अर्थ में सत् और असत् शब्दों का प्रयोग किया जाता है, इन दोनों शब्दों का शास्त्रों में उससे अलग अर्थों में प्रयोग होता है। शास्त्रों में सत् शब्द का अर्थ है नित्य अविनाशी, सनातन आत्मा अर्थात् शास्त्रों के अनुसार आत्मा ही एकमात्र सत् है और बाकी सब असत् अर्थात् नश्वर है। अर्थात् जिसका शरीर है वह असत् अर्थात् नश्वर या नाशवान है और जिसका शरीर नहीं है वह सत् है अर्थात् जिसमें

किसी अवस्था में परिवर्तन नहीं होता वह सत् है। विष्णु पुराण में यही कहा गया है –

यत् तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति बै।
परिणामादिसम्भूतं तद्वस्तु नृप तच्च किम् ।।

—विष्णुपुराण २।१३।९५

अर्थात् शरीर असत् है और इस शरीर में रहने वाला आत्मा सत् है।

ज्ञान सत् है क्योंकि यह कभी नहीं बदलता। इस संसार में आँखों से जो कुछ भी देखा जा सकता है वह सब असत् है, लेकिन इस दृश्य जगत् के पीछे अव्यक्त, अदृश्य, अक्षर यानी क्षयरहित, अविनाशी ईश्वर सदैव विद्यमान हैं वे सत् हैं।।१६।।

अविनाशि तु तत् विद्धि # येन सर्वम् इदं ततम्।
विनाशम् अव्ययस्य अस्य # न कश्चित् कर्तुम् अर्हति।।१७।।

अनुवाद :- जानो कि आत्मा इस ब्रह्मांड में सर्वत्र विद्यमान है और अनादि, नित्य अविनाशी है। उस अव्यय आत्मा को कोई कभी किसी प्रकार से नष्ट नहीं कर सकता।।१७।।

व्याख्या:- व्याकरण में वे ध्वनियों को अव्यय कहलाती हैं जो लिंग, वचन, कारक या विभक्ति के आधार पर नहीं बदलतीं, उनका रूप सदैव एक सा रहता है जैसे- यदि, यावत्, तावत, यथा, अर्थात् आदि। व्यय शब्द का अर्थ है लागत, क्षय आदि। यदि इस शब्द के आगे ऋणात्मक उपसर्ग 'अ' लगा हो तो इसका अर्थ है बिना खर्च या हानि के। आत्मा को अव्यय कहा जाता है क्योंकि आत्मा का किसी भी अवस्था में क्षय या परिवर्तन नहीं होता है, आत्मा सभी अवस्थाओं में अपरिवर्तनशील है।।१७।।

अन्तवन्त इमे देहा # नित्यस्य उक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनः अप्रमेयस्य # तस्मात् युध्यस्व भारत ।।१८।।

अनुवाद :– आत्मा नित्य, अपरिवर्तनशील, अविनाशी, स्ययं प्रकाश है। उसके द्वारा धारण किए गए सभी शरीर नश्वर हैं। इसलिए हे भारत! आप शोक त्याग कर युद्ध करें ।।१८।।

व्याख्याः– यहाँ कहा गया है कि शरीर वस्तुतः एक जड़ पदार्थ है। आत्मा इसके भीतर निवास करती है इसलिए यह शरीर जीवित, गतिमान प्रतीत होता है। जिस क्षण आत्मा शरीर से मुक्त होगी, इस शरीर की जड़ता सभी को दिखाई देगी। जैसा कि देखा जा सकता है कि केकड़े अक्सर समुद्र के तल में मृत घोंघे के गोले में शरण लेते हैं। जब केकड़ा चलता है, तो खोल एक जीवित चलने वाले घोंघे की तरह महसूस होता है। लेकिन जिस क्षण केकड़ा उस खोल को छोड़कर दूसरे खोल में शरण लेता है, मनुष्य का भ्रम दूर हो जाता है और उसे लगता है कि जिसे वह अब तक जीवित पदार्थ समझता था, वह वास्तव में एक मरे हुए घोंघे का निर्जीव खोल है। अब अगर कोई इस निर्जीव खोल को नष्ट कर देता है, तो उसे हत्या के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। इसलिए शरीर को नष्ट करने में कोई पाप या अन्याय नहीं है। जिस क्षण शरीर नष्ट हो जाता है, अक्षुण्ण आत्मा शरीर को छोड़ देता है क्योंकि आत्मा को कभी भी कब्जा करना, फाड़ना, जलाना, क्षत-विक्षत करना या नुकसान पहुँचाना सम्भव नहीं है, और आत्मा की सहमति के बिना शरीर को कभी भी नुकसान नहीं पहुँचाया जा सकता है। इसलिए यदि माया के प्रभाव से जीवित कहे जाने वाले शरीर को धर्म के लिए अर्थात् अच्छे उद्देश्य के लिए नष्ट किया जाता है, तो कोई भी अधर्म या बुराई नहीं है। उदाहरण के लिए, अगर एक हत्यारा जिसने अपने जीवन में बहुतों को मार डाला है यदि उसे समाज में छोड़ दिया जाए तो

वह और भी बहुतों को मारेगा। इसलिए समाज की रक्षा के हित में उसे न्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से मौत की सजा दी जाती है तो कोई अपराध नहीं है। इसलिए भगवान् अर्जुन को बताना चाहते थे कि धर्म की स्थापना के लिए इस युद्ध में भाग लेना किसी भी तरह से पाप नहीं होगा क्योंकि शरीर नश्वर है, लेकिन शरीर के भीतर आत्मा कभी नहीं मरती, आत्मा अविनाशी, शाश्वत है।।१८।।

य एनं वेत्ति हन्तारं # यः च एनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो # न अयं हन्ति न हन्यते।।१९।।

अनुवाद :- जो यह सोचते हैं कि आत्मा मारता है या जो सोचते हैं कि आत्मा को मारा जा सकता है, वे न यह जानते हैं कि आत्मा किसी को नहीं मारती और न कोई आत्मा को मार सकता है।।१९।।

याख्या:- इस श्लोक में हिंसक 'हन्' धातु का प्रयोग हुआ है। लेकिन यहाँ इसका उद्देश्य आत्मा को नष्ट करना नहीं है। आत्मा भौतिक विज्ञान वर्णित अणु की तरह इतनी सूक्ष्म है कि इसे काटा नहीं जा सकता। यदि आत्मा को काटा नहीं जा सकता तो उसे मारा या नष्ट कैसे किया जा सकता है? आत्मा की सूक्ष्मता के कारण उनका विच्छेदन नहीं किया जा सकता है, जैसे भौतिकी का कण इतना छोटा है कि उनका विच्छेदन नहीं किया जा सकता। अत: आत्मा को न तो मारा जा सकता है और न ही नष्ट किया जा सकता है। अत: आत्मा की मृत्यु नहीं होता। शरीर को भोगादि में लिप्त करने के लिये शरीर में आत्मा का होना आवश्यक है। लेकिन अगर शरीर नष्ट हो जाता है, तो आत्मा का क्या होता है? इसका उत्तर यह कहा जा सकता है कि भौतिकी की भाषा में एक पदार्थ कई अणुओं से मिलकर बना होता है, लेकिन यदि वह पदार्थ नष्ट भी

हो जाए तो भी अणु नष्ट नहीं होते, वे उस पदार्थ से अक्षुण्ण अलग हो जाते हैं और एक बार फिर से एक नये आकार की वस्तु का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार, जब शरीर नष्ट हो जाता है, तो आत्मा नष्ट नहीं होती, वह शरीर से अक्षुण्ण अलग हो जाता है और एक नया शरीर धारण करता है। पदार्थ के अणु पदार्थ को नष्ट करने की भूमिका नहीं निभाते। पदार्थ के नष्ट होने पर ही वह पदार्थ से अलग होता है। उसी प्रकार आत्मा भी किसी की हत्या नहीं करता। जब शरीर नष्ट हो जाता है तो वह भी नया शरीर धारण करने के लिए उस शरीर से अलग हो जाता है। यदि हार में से मोती अलग हो जाए तो हार का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, लेकिन इस अलगाव के कारण मोती अलग से ज्यों का त्यों बना रहता है और जब एक नया हार बनाया जाता है, तो मोती फिर से नए हार में स्थित हो जाता है। शरीर और आत्मा के बीच संबंध भी ऐसा ही है। वेदों में कहा गया है – ''मा हिंसात् सर्वभूतानि।'' अर्थात् किसी से ईर्ष्या न करें। इसलिए आत्मा किसी से ईर्ष्या नहीं करती और किसी को नष्ट भी नहीं करता। तो यहाँ 'हन्' धातु का उपयोग शरीर से आत्मा को निकालने के अर्थ में किया जाता है, न कि आत्मा द्वारा किसी को मारने के अर्थ में। रामानुजाचार्य भी इस श्लोक की अपनी व्याख्या में यही कहते है— ''हन्तिधातु: अपि आत्मकर्मक:शरीर वियोगकरणवाची।'' अर्थात् 'हंति' धातु और 'वियोग' दोनों वाचक शब्द हैं अर्थात् दोनों ही 'घटाव' का अर्थ व्यक्त करते हैं। कई लोग कह सकते हैं कि आत्मा को शरीर से अलग करना हत्या है। लेकिन यह सही नहीं है। मां की गोद में एक बच्चा है। बच्चे को मां की गोद से अलग कर विद्यालय भेजा गया। इस स्थिति में बच्चा की मौत नहीं हुई। अत: अलग होने का अर्थ हत्या हि करना नहीं है।।१९।।

न जायते म्रियते वा कदाचित्
न अयं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतः अयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

अनुवाद :- वह अर्थात् आत्मा अनादि काल से है। वह जन्मरहित, नित्य, सनातन है। वह न तो कभी जन्म लेता है और न ही मरता है और न ही जन्म के बाद अस्तित्व में आता है। वह शाश्वत है। जिस शरीर में वह रहता है, भले ही वह नष्ट हो जाए, पर आत्मा नष्ट नहीं होता।।२०।।

व्याख्याः- आत्मा के स्वरूप की चर्चा पिछले श्लोक में विस्तार से की गई है। आत्मा दैवीय सूक्ष्म शक्ति है जिसे कभी भी बनाया या नष्ट नहीं किया जा सकता जैसा कि आणविक शक्ति के साथ होता है जैसा कि पदार्थ विज्ञान में समझाया गया है। यह आणविक शक्ति सृष्टि के आरंभ से ही अक्षुण्ण है, केवल उसका रूपांतरण होता है, इसे नए सिरे से नहीं बनाया जा सकता है या इसे नष्ट नहीं किया जा सकता है, यह सृष्टि के प्रारंभ से ही है, इसे अपने अस्तित्व के लिए नए सिरे से बनाने की आवश्यकता नहीं है, यह शक्ति आदि, अविनाशी, अव्यय है। इस प्रकार ऐश्वरिक सूक्ष्म शक्ति आत्मा भी अक्षर, शाश्वत, आदि, अविनाशी, अव्यय है, वह न तो उत्पन्न होता है और न ही नष्ट होता है, वह सृष्टि के पहले से मौजूद है, वह सभी प्रकार के विकार से रहित है, सृष्टि के आरंभ में जन्म और प्रलय के अंत में मृत्यु आत्मा को नहीं छू सकती - "कल्पादौ जननं कल्पान्ते च मरणम् आत्मानं न स्पृशति" (रामानुजभाष्य २।२०)। यह केवल एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है यानी केवल इसका रूप बदलता है।।२०।।

वेद अविनाशिनं नित्यं # य एनम् अजम् अव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ # कं घातयति हन्ति कम् ।।२१।।

अनुवाद :- हे पार्थ! जो जानता है कि आत्मा अविनाशी, नित्य, जन्मरहित,

क्षयरहित है, वह पुरुष कैसे किसको मारता है और कैसे किसको मरवाता है?।।२१।।

व्याख्या:- इस श्लोक की सरल शब्दों में व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि कृष्ण स्वयं जानते हैं कि आत्मा का कभी वध नहीं किया जा सकता, आत्मा अनादि है, सनातन है और शरीर नश्वर है और प्रकृति के कारण एक न एक दिन शरीर का ही नाश होगा। तो वे सभी जीवों के हृदय में मोजूद उस आत्मा को मारने का प्रयास क्यों करेंगे? उनका प्रयास या तो विफल हो जाएगा या कृष्ण के लिए हास्यास्पद और अपमानजनक होगा। इसलिए उनके किसी को मारने का सवाल ही नहीं उठता। और यदि वे किसी को दूसरे को मारने के लिए नियुक्त करते हैं, तो उपरोक्त कारण से यह संभव नहीं है। क्योंकि ऐसा कुछ करने की कोशिश करना जो बिल्कुल नहीं किया जा सकता, मूर्खता के अलावा और कुछ नहीं है और यह सोचना बेतुका है कि कृष्ण सबके सामने खुद को मूर्ख बनाने की कोशिश करेंगे। अत: अर्जुन के लिए यह सोचना उचित नहीं है कि भगवान् कृष्ण किसी को मारने जा रहे हैं या अर्जुन को कौरवों को मारने के लिए उकसा रहे हैं ।।२१।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय # नवानि गृह्णाति नर: अपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि # अन्यानि संयाति नवानि देही ।।२२।।

अनुवाद :- जिस प्रकार मनुष्य अपने सारे पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार शरीर घिस जाने पर देही अर्थात् आत्मा उसे त्याग कर दूसरे नये शरीर में आश्रय लेता है ।।२२।।

व्याख्या:- यहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य अपने पुराने अर्थात् जीर्ण वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात्

आत्मा शरीर के घिस जाने पर शरीर को त्याग कर दूसरे नये शरीर में आश्रय लेती है। लेकिन यहां एक सवाल है - क्या सच में लोग कपड़े तभी फेंक देते हैं जब वे फटे-पुराने हो जाते हैं? क्या यह सच है कि आत्मा शरीर को तभी छोड़ती है जब वह जीर्ण हो जाती है? वास्तव में, यह देखा गया है कि अमीर लोग अपने पुराने कपड़ों को फटने से पहले त्याग देते हैं और नए पहनते हैं, और गरीब लोग अपने पुराने कपड़ों को बहुत घिस जाने पर ही फेंक देते हैं। इसी प्रकार, यह देखा गया है कि कई जीव बचपन, किशोरावस्था या युवावस्था में अपने शरीर मजबूत होने के बावजूद मृत्युलोक में चले जाते हैं, और कई इस दुनिया को तब छोड़ देते हैं जब उनका शरीर बुढ़ापे में बहुत कमजोर हो जाता है। तो नए कपड़े पहनने या नए शरीर को आश्रय लेने का तत्त्व केवल तभी कैसे है जब कपड़े या शरीर घिस चुके हों? वास्तव में, इस श्लोक में जीर्ण अर्थात् घिसा हुआ शब्द भ्रम पैदा करता है। यहाँ क्षय के इस पारंपरिक स्थूल भौतिक अर्थ में जीर्ण शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। यहाँ जीर्ण शब्द सड़ा हुआ के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, यहाँ जीर्ण शब्द का प्रयोग भोगजीर्ण के अर्थ में किया गया है। वास्तविक दुनिया में ऐसी कई वस्तुएँ हैं जिन्हें केवल एक बार उपयोग करने के बाद छोड़ दिया जाता है, जबकि उसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ हैं जिनका कई बार उपयोग किया जा सकता है। एक प्रयोग के बाद पहली वस्तु का उपभोग हो जाता है। पहली प्रकार की वस्तु एक प्रयोग के बाद घिस जाती है और वह वस्तु सामान्य दृष्टि से अक्षुण्ण प्रतीत होते हुये भी उस वस्तु को फेंक देना है लेकिन दूसरा वस्तु बार-बार इस्तेमाल के बाद ही खराब होता है। इसलिए लंबे समय के बाद दूसरे को छोड़ दिया जाता है । अतः इस श्लोक में जीर्ण शब्द के प्रयोग का अर्थ यह है कि जब जन्म से प्राप्त होने वाला भोग समाप्त हो

जाता है तो उनका शरीर भोगजीर्ण हो जाता है और आत्मा को वह शरीर छोड़ना पड़ता है। शरीर नया है या पुराना, यहाँ निर्णय का विषय नहीं है।।२२।।

न एनं छिन्दन्ति शस्त्राणि # न एनं दहति पावकः।
न च एनं क्लेदयन्ति आपो # न शोषयति मारुतः।।२३।।

अनुवाद :- इस अत्मा को शस्त्र फाड़ नहीं सकते, आग इसे जला नहीं सकता, जल गला नहीं सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकता।।२३।।

अच्छेद्यः अयम् अदाह्यः अयम् # अक्लेद्यः अशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थानुः # अचलः अयं सनातनः।।२४।।

अनुवाद :- यह आत्मा फटी, जली, गीली, शोषित नहीं हो सकती। यह आत्मा अविनाशी, सर्वव्यापी, स्थिरस्वभाव, सनातन है।।२४।।

व्याख्याः- हम देख चुके हैं कि भगवान् ने पहले ही कहा है कि आत्मा अमर है। यहाँ उस आत्मा के स्वरूप के विषय में प्रश्न उठ सकता है कि वह एक शब्द ही पर्याप्त था। तो एक ही शब्द को इतने क्रमागत श्लोकों में अलग-अलग ढंग से दोहराने की क्या आवश्यकता थी? यहाँ गीता पुनरावृत्ति की दोषी है! लेकिन मामला वह नहीं है। सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण सम्यक जानते हैं कि आत्मतत्त्व अत्यन्त गूढ़ है और सामान्य जनों के लिए इसका अर्थ सरलता से समझना अत्यन्त कठिन है। इसलिए उन्होंने एक के बाद एक अलग-अलग संदर्भों को प्रस्तुत कर वह गूढ़ तत्त्व को आम लोगों के लिए समझाने की कोशिश की है ताकि एक या दूसरे प्रसंग आम लोगों के दिल या बुद्धि को छू सकें और लोग उस बेहद कठिन तत्त्व को समझने में सफल हो सकें। जिस प्रकार कठोर पत्थर को तोड़ने के लिए एक चोट ही पर्याप्त नहीं होता है, कई बार चोट लगने पर ही कठोर पत्थर के टुकड़े

हो जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के हृदय में युगों-युगों से संचित अज्ञान रूपी कठोर पत्थर को तोड़ने के लिए निरंतर प्रयास की आवश्यकता होती है ताकि कोई न कोई प्रयास सफल हो। इस तरह भगवान् कृष्ण ने धीरे-धीरे अर्जुन के हृदय से भ्रम के गहरे अंधकार को दूर करने का प्रयास किया। नतीजतन, श्रीमद्भगवद्गीता में कोई पुनरावृत्ति नहीं होती है।।२४।।

अव्यक्तः अयम् अचिन्त्यः अयम् # अविकार्यः अयम् उच्यते।
तस्मात् एवं विदित्वा एनं # न अनुशोचितुम् अर्हसि।।२५।।

अनुवाद :- यह आत्मा अव्यक्त है अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं होता, उसका स्वरूप या स्वभाव विचार से नहीं समझा जा सकता, यह आत्मा विकाररहित है। अतः उसे ऐसा जानकर आपको शोक नहीं करना चाहिए।।२५।।

व्याख्याः- इस श्लोक में कहा गया है कि आत्मा अव्यक्त है अर्थात् प्रकट या प्रत्यक्ष नहीं है, अचिंत्य है अर्थात् निर्णय या विचार से उसका तत्त्व या स्वरूप को नहीं जाना जाता है और वह अविकारी है अर्थात् परिवर्तनहीन है। पिछले श्लोकों में कहा गया है कि आत्मा को काटा नहीं जा सकता। भौतिक संसार में जो कुछ भी विच्छेदित किया जा सकता है, वे केवल दृश्यमान हैं अर्थात् वे इंद्रियों द्वारा बोधगम्य हैं। लेकिन चूंकि आत्मा को विच्छेदित नहीं किया जा सकता है, यह न तो प्रकट है और न ही प्रत्यक्ष है, इसलिए अव्यक्त है। फिर से भौतिक संसार के दृश्य पदार्थों के बारे में सोचा जा सकता है क्योंकि वे देखे जाते हैं। लेकिन चूँकि आत्मा अव्यक्त है, इसे पारंपरिक तरीकों से नहीं सोचा जा सकता है। इसलिए वह विचार से परे है और विकाररहित है।

यहाँ गीता में हमारे शरीर और उसमें रहने वाली आत्मा के स्वरूप को और सरलता से समझाया गया है। यहाँ कहा गया है कि हमारा शरीर

बिलकुल नश्वर है और आत्मा शाश्वत है। वास्तव में जीवित शरीर मूल्यहीन है और आत्मा इस शरीर में एक कागज के पुलिंदा के अंदर सोने की तरह निवास करता है। जब तक आत्मा उसमें है, तब तक उसका मूल्य है, परंतु जब आत्मा शरीर को छोड़ देता है, तो शरीर बेकार कचरा हो जाता है। जिस प्रकार कागज के पुलिंदा से सोने के आभूषण निकालकर उस पुलिंदा को कचरे के ढेर में फेंक देने के बाद पुलिंदा के लिए शोक करना व्यर्थ है, उसी प्रकार आत्मा के शरीर से चले जाने पर शरीर के लिए शोक करना भी व्यर्थ है। एक भोले बच्चे को कागज के पुलिंदा में रखा गहना आकर्षक नहीं लगता, कागज के पुलिंदा का प्यारा आकार उसके लिए आकर्षण का विषय होता है, वह उसे छोड़ना ही नहीं चाहता, परंतु कोई उस कीमती सोने के आभूषण को ले लेता है तो बच्चे को कुछ भी परेशानी नहीं होती है। लेकिन जब वह उम्र और अनुभव में बढ़ता है, तो उसे पता चलता है कि असली सच्चाई क्या है और फिर उसे फटे पुलिंदा पर पछतावा नहीं होता। इसी प्रकार उस अज्ञानी बालक के समान मनुष्य का हृदय और मन जब तक माया के प्रभाव में अविद्या और अज्ञान से अंधा रहता है, तब तक वह जीव के शरीर को ही सत्य मानता है और उसमें निवास करने वाली आत्मा का विचार नहीं करता क्योंकि वह तब इससे अनभिज्ञ है। बच्चा यह नहीं जानता कि गहना को कागज के पुलिंदा से निकालने से गहना नष्ट नहीं होता, बल्कि बेहतर जगह पर जमा हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी लोग यह नहीं जानते कि शरीर के मरने पर आत्मा का नाश नहीं होता, अपितु आगे के कार्यों के लिए वह दूसरा शरीर धारण कर लेता है। लेकिन जब भी इस ब्रह्मांड में निहित वास्तविक सत्य के उज्ज्वल प्रकाश से उस व्यक्ति के मन से अज्ञान का अंधेरा दूर हो जाता है और वास्तविक सत्य उसके

दिल में उभर आता है, तब उसे पता चलता है कि जन्म और मृत्यु का यह चक्र तब तक चलता रहता है जब तक कि आत्मा मुक्त नहीं हो जाती। इसका कोई विराम नहीं है, कोई विश्राम नहीं है और इस ज्ञान को प्राप्त करने के बाद किसी को अपने प्रत्यक्ष रूप से स्थूल शरीर की मृत्यु का मिथ्या शोक नहीं करना चाहिए।

आत्मा दो प्रकार की होती है - एक प्रकार की आत्मा परमात्मा है जो एक और अद्वितीय है, जो इस ब्रह्मांड को धारण करता है। वह अमर है, सनातन है। और अन्य प्रकार की आत्मा जीवात्मा है जो इस ब्रह्मांड में सभी संवेदनशील प्राणियों में निवास करती है। वह कौन है या उसका स्वरूप क्या है? वह है हमारी चेतना - यह है कि हम खाते हैं, सोते हैं, चलते-फिरते हैं, हंसते हैं, रोते हैं, दु:ख महसूस करते हैं, आनंद पाते हैं, अहंकार से कहते हैं – 'यह मेरा है, यह मेरा है' और इस असत्य दुनिया को सत्य मानकर उसके प्रति ममता और आसक्ति से उससे लगातार लिपटे रहते हैं। उन सबके पीछे एक अव्यक्त अंतर्लीन चेतना काम कर रही हैं। यह अव्यक्त अंतर्लीन चेतना जीवात्मा है। चेतना दो प्रकार की होती है मायाग्रस्त असंयत चेतना और संयत चेतना। जब तक यह चेतना असंयत रहेगी, वास्तविक सत्य के प्रकाश से वंचित रहेगी, तब तक वह सफेद को काला और काले को सफेद ही देखेगी। लेकिन जब उस असंयत चेतना ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो जाएगा, तब वह असंयत चेतना शुद्ध होगी और फिर यह जीवदेह में चेतना के रूप में मौजूद जीवात्मा परमात्मा के साथ एक हो जाएगा और मोक्ष प्राप्त करेगा। शरीर मर भी जाए तो भी यह चेतनारूपी आत्मा नहीं मरती। जिस प्रकार परमात्मा इस ब्रह्मांड के सभी अणुओं और परमाणुओं में व्याप्त है, उसी प्रकार जीवात्मा भी शरीर के हर अंग में,

नाड़ियों में, शिराओं में, धमनियों में व्याप्त है। इस चेतन आत्मा के न मरने के प्रमाण के रूप में हम देखते हैं कि शरीर के मरने के काफी समय बाद भी शरीर के अंदर के अंग सक्रिय रहते हैं और शरीर के मरने के बाद भी उन अंगों को दूसरे शरीरों में सुरक्षित रूप से इस्तेमाल किया जा सकता है और वह लंबे समय तक सामान्य रूप से काम करता है। लेकिन यह स्थूल मामला है। व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर यह कहा जा सकता है कि शरीर की कुल चेतना, उनकी मृत्यु शरीर की मृत्यु के साथ नहीं होती, शरीर की मृत्यु के बाद यह चेतन आत्मा दूसरे शरीर में स्थानांतरित हो जाती है। इस परम सत्य को जानकर दूसरे की मृत्यु पर शोक नहीं करना चाहिए।।२५।।

अथ च एनं नित्यजातं # नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो # न एनं शोचितुम् अर्हसि ।।२६।।

अनुवाद :- हे परम पराक्रमी अर्जुन! लेकिन अगर आप इस आत्मा को हमेशा के लिए जन्म लेने वाले या हमेशा के लिए मरने वाले के रूप में सोचते हैं, और फिर भी आप इस आत्मा के लिए शोक करते हैं, तो ऐसा करना उचित नहीं है।।२६।।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् अर्जुन को कहना चाहते हैं कि यदि अर्जुन यह समझता है कि प्रत्येक शरीर की आत्मा भिन्न है और प्रत्येक शरीर के जन्म के साथ ही प्रत्येक आत्मा का जन्म होता है, तो अर्जुन को मृत्यु का शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि संसार में जो भी जन्म लेता है वह मरता ही है चाहे युद्ध के मैदान में हो या बीमारी के कारण हो और जिनकी मौत को रोका नहीं जा सकता, उनकी मृत्यु पर शोक करना व्यर्थ है ।।२६।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः # ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे # न त्वं शोचितुम् अर्हसि ।।२७।।

अनुवाद :- चूँकि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है और मरने वाले का जन्म भी अवश्यंभावी है, इसलिए इस निश्चित मामले में मृतकों के लिए तुम्हारा विलाप करना उचित नहीं है ।।२७।।

अव्यक्त-आदीनि भूतानि # व्यक्त-मध्यानि भारत।
अव्यक्त-निधनानि एव # तत्र का परिदेवना ।।२८।।

अनुवाद :- हे भरत वंशज अर्जुन! सभी जीव जन्म से पहले अव्यक्त रहता हैं अर्थात् वे जन्म से पहले नहीं देखे जाते हैं, मध्यकाल में अर्थात् जीवनकाल के दौरान प्रकट रहता हैं अर्थात् तब दिखाई पड़ते हैं और मृत्यु के बाद वे फिर से अव्यक्त हो जाते हैं अर्थात् दिखाई नहीं पड़ते। (यह आना-जाना सदा चलता रहेगा) तो मृतकों के लिए शोक क्यों? ।।२८।।

व्याख्या:- जीवन-चक्र एक घूमते हुए मंच की तरह है जिसके सभी भाग एक साथ दिखाई नहीं देते। जब इसका एक भाग दृश्यमान होता है तो अन्य भाग अदृश्य हो जाते हैं। केवल मंच का अगला भाग, जो बाएँ से दाएँ या दाएं से बाएं घूमता है, दिखाई देता है। लेकिन फिर इसके अन्य हिस्से भी हैं, जो हमारी आँखों को दिखाई नहीं देते। फिर जब वह घूमकर आगे की ओर आती है तो बायां भाग दिखाई देता है। फिर जब वह भाग दाहिनी ओर मुड़ता है तो वह दोबारा दिखाई नहीं देता। लेकिन वह अभी भी हमारी आंखों के पीछे है। यदि आवश्यक हो, तो वह बारी-बारी से फिर से प्रकट होगा, शायद एक अलग रंग और प्रकाश की एक अलग चमक के साथ।

यह हमारे जन्म से पहले, जीवनकाल और मृत्यु के बाद की स्थिति की एक तस्वीर की तरह है। यहां तक कि जब कोई प्राणी मर जाता है तब भी वह रहता है और आवश्यकता पड़ने पर पुनः शरीर धारण कर लेता है। अतः बुद्धिमान व्यक्ति के लिए यह उचित नहीं है कि वे मृत्यु को ही अंत मानकर शोक मनाये।।२८।।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चित् एनम्
आश्चर्यवत् वदति तथैव च अन्यः।
आश्चर्यवत् च एनम् अन्यः शृणोति
श्रुत्वा अपि एनं वेद न चैव कश्चित् ।।२९।।

अनुवाद :- कोई इस आत्मा को अद्भुत देखता है और कोई इसे आश्चर्यजनक बताता है और कोई इस आत्मा को आश्चर्यजनक सुनता है और सुनने से भी उसे कोई नहीं समझ सकता।।२९।।

व्याख्या :- भगवान् यहाँ आत्मा को देखने, वर्णन करने, सुनने जैसी बातों को चमत्कार के रूप में वर्णित करते हैं। उनके कथन के सूक्ष्म महत्त्व को समझाने की आवश्यकता है। जो कुछ भी हम सामान्य रूप से देखते हैं, उसे देखने, वर्णन करने या सुनने में कोई आश्चर्य नहीं है। लेकिन जब कोई चीज बेहद दुर्लभ होती है, तो उसे अचानक देखना या उसके बारे में सुनना आश्चर्यजनक होता है। शंकराचार्य ने इस विषय पर कहा— "आश्चर्यम् अदृष्टपूर्बम् अद्भूतम् अकस्माद् दृश्यमानं तेन तुल्यम् आश्चर्यवद् आश्चर्यम् इव।" जिस प्रकार हम मन, बुद्धि और इंद्रियों की सहायता से सांसारिक वस्तुओं को देखते हैं, आत्मदर्शन के मामले में यह संभव नहीं हो पाता। प्राकृतिक वस्तुएँ एक ही व्यक्ति द्वारा देखी, वर्णित और सुनी जाती हैं। लेकिन जब आत्मदर्शन की बात आती है तो ये तीनों एक साथ नहीं रहते। जो आत्मनिरीक्षण विषय को सुनता है वह आत्मा को नहीं देख पाता।

इसलिए आत्मदर्शन के विषय में सुनकर वह बड़ा आश्चर्यान्वित हो जाता है। वास्तव में सर्वव्यापी, नित्य, ज्ञानानंदमय आत्मा को देखना बड़ी दुर्लभ और चमत्कारी बात है। जब अनगिनत पुरुषों के बीच कुछ अति दुर्लभ पुरुषों के घोर तप के फलस्वरूप उनका सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और हृदय में पुण्य का संचार हो जाता है, तब उनमें से बहुत कम ही आत्मा को देख पाते हैं। परंतु आत्मा को देखने में समर्थ होते हुए भी उन सब में इतना सामर्थ्य नहीं होता कि वे आत्मदर्शन के विषय का दूसरों को वर्णन कर सकें। जो महापुरुष परमात्मा को ठीक से जानते हैं और जिसने वेदों को ठीक से हृदय में धारण कर लिया है, केवल ऐसा महापुरुष ही आत्मा को देख सकते हैं और उनका वर्णन करने की शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन ऐसे महापुरुष से आत्मा के दर्शन की बात सुनने वाले भी इसे नहीं समझ पाते। सबसे पहले, आत्मा वर्णन से परे हैं। इसलिए उसे देखकर भी ठीक से अभिव्यक्त करना असंभव है। फलत: वर्णन सुनने वाला ठीक से समझ नहीं पाता। दूसरे, जो विपरीत बुद्धि के प्रभाव से मुक्त नहीं है और जो सूक्ष्म, शुद्ध बुद्धि, सदाचारी, दृढ़, श्रद्धावान् नहीं है, उसके लिए यह कभी भी संभव नहीं है कि वह आत्मा का वर्णन सुनने के बाद उसे अपने हृदय में धारण कर सके। लेकिन प्राकृत जगत् में विपरीत बुद्धिहीन, शुद्धचित्त, सदाचारी, दृढ़ विश्वासी, श्रद्धावान लोग अत्यंत दुर्लभ हैं। अतएव जो इस बात को सुनते हैं, वे साधारण मनुष्य होने के कारण इस विषय में कुछ भी नहीं समझते, जैसे उदाहरण के लिए, यदि किसी जन्मांध को समुद्र की विशालता का वर्णन किया जाए, तो भी उसके लिए कुछ भी समझना संभव नहीं है। तीसरे, वे विपरीत बुद्धिग्रस्त पुरुष जब आत्मा का यह वर्णन सुनते हैं तो वे समझ पाते हैं कि जिस मिथ्या संसार को वे अब तक सत्य, आनंदमय और सुख का धाम समझते थे और देह और सांसारिक वस्तुओं को सत्य और सुंदर समझते थे, ये सभी नश्वर, दु:खमय भौतिक वस्तुएँ हैं और ईश्वर

सर्वव्यापी है, तभी उन्हें बड़ा आश्चर्य होता है और आश्चर्य से इस अद्भुत बात को तन्मय होकर सुनते हुए भी उन्हें आत्मा के स्वरूप का बोध नहीं होता। और जो वस्तु इतनी गूढ़ है, इतनी दुर्ज्ञेय है, इतनी अवर्णनीय है, मन, बुद्धि और विचार से इतनी परे है, निश्चय ही वह कोई साधारण वस्तु नहीं है, उसे चमत्कारी और आश्चर्यजनक के अतिरिक्त और कोई विशेषण नहीं दिया जा सकता। कठोपनिषद में भी लगभग यही कहा गया है-

श्रवणाय अपि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तः अपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलः अस्य लब्धा
आश्चर्यो ज्ञाता कुशल-अनुशिष्टः।। (१।२।७)

अर्थात् जिस आत्मतत्त्व को बहुत से लोग सुनते भी नहीं और बहुत से लोग उसे सुनकर भी नहीं समझ पाते, उसका वर्णन करने वाला आश्चर्यजनक अद्भुत पुरुष है। आत्मतत्त्व को जानने वाला मनुष्य जितना अद्भुत, आश्चर्यजनक और दुर्लभ है, उतना ही अद्भुत आश्चर्यजनक और दुर्लभ वह मनुष्य भी है जो आत्मतत्त्व को सुनता है ।।२९।।

देही नित्यम् अवध्यः अयं # देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि # न त्वं शोचितुम् अर्हसि ।।३०।।

अनुवाद :- हे भरतवंशज अर्जुन! सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान यह आत्मा अविनाशी है, इसे कभी नहीं मारा जा सकता। इसलिए किसी भी जीव के लिए शोक नहीं करना चाहिए ।।३०।।

स्वधर्मम् अपि च अवेक्ष्य # न विकम्पितुम् अर्हसि ।
धर्म्यात् हि युद्धात् श्रेयः अन्यत् # क्षत्रियस्य न विद्यते ।।३१।।

अनुवाद :- और यदि बात अपने धर्म की भी हो तो भी आपको नहीं

काँपना चाहिए क्योंकि एक क्षत्रिय के लिए अपने धर्म का पालन करने से बढ़कर दुसरा कुछ नहीं हो सकता ।।३१।।

व्याख्या:- यहाँ धर्म का अर्थ कर्तव्य है। चूँकि अर्जुन एक क्षत्रिय हैं, उनका धर्म यानी कर्तव्य है राज्य की रक्षा करना, शासन करना और उसे बनाए रखना। इस कार्य को ठीक प्रकार से करने के लिए यथावश्यक युद्ध करना भी क्षत्रिय का कर्तव्य है। उस धर्म या कर्तव्य को ठीक से करने में विफलता क्षत्रिय की ओर से अधर्म या कर्तव्य की उपेक्षा होगी। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन का युद्ध न करने का निर्णय अनुचित है ।।३१।।

यदृच्छया च उपपन्नं # स्वर्गद्वारम् अपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ # लभन्ते युद्धम् ईदृशम्।।३२।।

अनुवाद :- हे पार्थ! स्वर्ग के द्वार खोलने वाला यह युद्ध अपने आप प्रकट हो गया है। सौभाग्यशाली क्षत्रियों को ही इस युद्ध लड़ने का अवसर प्राप्त होता है।।३२।।

व्याख्या :- यहाँ कृष्ण कहते हैं कि यह युद्ध स्वेच्छा से प्रकट हुआ है। यह सच है। क्योंकि भगवान् कृष्ण और पांडव कभी युद्ध नहीं चाहते थे। वे युद्ध को रोकने के अपने सभी प्रयासों में विफल रहे और कौरवों द्वारा उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें युद्ध लड़ने के लिए मजबूर किया गया। इसलिए चूंकि पांडवों ने युद्ध के लिए आह्वान नहीं किया और फिर भी वे युद्ध में शामिल हो गए, ऐसा कहा जाता है कि युद्ध उनके सामने स्वेच्छा से आया है और भगवान् कृष्ण ने स्वयं पांडवों को लड़ने के लिए प्रोत्साहित किया क्योंकि कोई नहीं चाहता कि कोई उन्माद व्याघ्र उसके घर में प्रवेश करे। इसलिए उसे पूरी कोशिश करनी चाहिए कि बाघ उसके घर में न घुस सके। लेकिन हजार कोशिशों के बाद भी यदि वह बाघ अपने घर आ जाए तो उस बाघ का प्रतिकार अवश्य करना चाहिए और यदि आवश्यक हो तो आत्मरक्षा

में शस्त्रों का प्रयोग करके उसे मार देना चाहिए। दुर्योधन ने पांडवों पर आक्रमण करने के लिए अपनी सारी सेना जुटाई। इसलिए कौरवों पर जवाबी हमला करने के अलावा पांडवों के पास कोई दूसरा विकल्प नहीं था। इसलिए लोगों को कृष्ण की सलाह - यदि कोई अपने सर्वोत्तम प्रयासों के बावजूद शांतिपूर्ण तरीकों से बल का उपयोग किए बिना शत्रु को रोक नहीं सकते और शत्रु स्वेच्छा से उसके दरवाजे पर प्रकट होता है और उसे गंभीर नुकसान पहुंचाने का प्रयास करता है, तो उसे और इंतजार किए बिना मजबूत हाथों से प्रतिरोध करना चाहिए। यदि नहीं, तो वह अपने धर्मपालन, अर्थात् गृहस्थ के अपने घर या परिवार की रक्षा करने के कर्तव्यों से गिर जाएगा जो वांछनीय नहीं है। यदि युद्ध के मैदान में अर्जुन ने युद्ध के भयानक परिणामों की कल्पना की और मानसिक पीड़ा में युद्ध से पीछे हटने का फैसला किया, तो वे निर्दोष शांतिप्रिय प्रजा को अन्याय, अधर्म से बचाने जैसे क्षत्रिय-धर्म के कर्तव्यों से गिर जाता और वे प्रजा को अपार कष्ट पहुँचाने के पाप में लिप्त होता जो कभी नहीं होना चाहिए था। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह युद्ध स्वेच्छा से आया है और वे अर्जुन को अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।।३२।।

अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं # संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च # हित्वा पापम् अवाप्स्यसि।।३३।।

अनुवाद :- दूसरी ओर यदि तुम यह धर्मरूप युद्ध नहीं लड़ोगे तो तुम अपना क्षत्रिय धर्म और यश खोकर पाप को प्राप्त हो जाओगे।।३३।।

व्याख्या:- इस श्लोक में 'धर्म्य संग्राम' शब्द पर प्रकाश डालना आवश्यक है। युद्ध का अर्थ है रक्तपात, मृत्यु, प्रियजनों की हानि। तो स्वयं श्रीकृष्ण ने इस युद्ध को धर्म्ययुद्ध क्यों कहा? वस्तुतः जब कोई कार्य किसी

अनुचित उद्देश्य से किया जाता है तो उसे अधर्म कहते हैं। लेकिन जब वही कार्य शुभ उद्देश्य के लिए किया जाता है तो उसे धर्म पदवाच्य कहा जाता है। उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति मारने के इरादे से किसी अन्य व्यक्ति पर चाकू से वार करता है, तो वह कार्य अधर्म या पाप माना जाएगा। लेकिन जब कोई डॉक्टर किसी बीमार व्यक्ति की जान बचाने के उद्देश्य से सर्जिकल ऑपरेशन के लिए उसी तरह के चाकू का इस्तेमाल करता है, तो इसे पुण्य या धार्मिक माना जाता है। यदि कोई देश लूट और अपहरण के लिए दूसरे देश के खिलाफ युद्ध की घोषणा करता है, तो वह युद्ध पाप का युद्ध है। लेकिन जब कोई राजा अपने देश और लोगों को दुश्मनों से बचाने के अच्छे इरादे से युद्ध में जाता है, तो वह युद्ध एक धर्म्ययुद्ध है। दुष्ट दुर्योधन ने पांडवों को अन्यायपूर्वक उनके उचित अधिकारों से वंचित करने के लिए पांडवों के खिलाफ युद्ध का आयोजन किया। वह युद्ध दुर्योधन की ओर से एक अधर्म युद्ध था। लेकिन पांडवों के लिए वह युद्ध लड़ना सही अर्थों में एक धर्म्ययुद्ध था क्योंकि इस युद्ध को लड़ने के पीछे पांडवों का कोई दुष्ट उद्देश्य नहीं था, यह उनके न्यायोचित अधिकारों की रक्षा का संघर्ष था तथा देश के असंख्य शांतिपूर्ण धर्मपरायण लोगों की रक्षा करने का संघर्ष था। इसलिए श्रीकृष्ण ने इस युद्ध को धर्म्ययुद्ध कहा है।

इस श्लोक में वर्णित 'धर्म्यसंग्राम' शब्द पर थोड़ी चर्चा आवश्यक है। शब्दकोश में इसके लिए दो सामान्य वर्तनी हैं - एक 'धर्म' और दूसरी 'धर्म्य'। 'धर्म' शब्द की परिभाषा में कहा गया है- 'ध्रियते लोक: अनेन' अर्थात् जो इस संसार को धारण करते हैं वही धर्म है। वास्तव में शास्त्रों में धर्म शब्द की परिभाषा विशाल और व्यापक है। परंतु आजकल लोग सामान्यत: 'धर्म' शब्द का प्रयोग संकीर्ण अर्थ में करने के अभ्यस्त हैं। लेकिन शास्त्रों में धर्म का इतने संकीर्ण अर्थ में कभी प्रयोग नहीं किया गया है। विशेष रूप से, इस श्लोक में यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान् ने

यहां 'धर्म' शब्द का प्रयोग नहीं किया है बल्कि 'धर्म्य' शब्द का प्रयोग किया है जिसका शब्दकोष में अर्थ है - धर्म के अनुसार, जिसे अंग्रेजी में अर्थ है 'Consistent with Law, duty or religion'। अत: इस श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुरुक्षेत्र का युद्ध पारम्परिक संकीर्ण अर्थों में किसी धर्म की स्थापना या प्रचार-प्रसार के लिए नहीं लड़ा गया था। तो यहाँ 'धर्म्य' शब्दका अर्थ क्या है? इसका उत्तर यह है कि यहाँ 'धर्म्य' शब्दका तात्पर्य 'क्षत्रधर्म' से है, अर्थात् क्षत्रिय के वर्णधर्म के अनुसार किए जाने वाले कार्य। 'क्षत्रधर्म' क्या है? इसका उत्तर है देश और जनता को अधर्म, अत्याचार और अन्याय से बचाने की आवश्यकता में पापियों, अत्याचारियों, अनाचारी लोगों के खिलाफ नि:संकोच हथियार उठाना। उस समाज के लोगों को कर्म के अनुसार चार वर्णाश्रमों में व्यवस्थित किया गया था और उनके संबंधित कर्म निर्धारित किए गए थे। सामाजिक जीव के रूप में समाज की रक्षा के बड़े उद्देश्य के लिए, इन चार जातियों को शास्त्रों के अनुसार उन्हें सौंपे गए कर्तव्यों को निभाने की बड़ी जिम्मेदारी सौंपी गई, जिसकी विफलता को अपराध माना गया। इस श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को समाज के प्रति अपने कर्तव्य के रूप में उस क्षत्रधर्म को पूरा करने के अपने उत्तरदायित्व की याद दिलाई। अर्जुन के पास इस युद्ध को न लड़ने का कोई सामाजिक या नैतिक अधिकार नहीं था क्योंकि क्षत्रिय उस समय समाज में एक Military troop थे। यह कदापि स्वीकार्य नहीं है कि देश में व्यापक सामाजिक अराजकता हो और सेना चुपचाप बैठी रहे। इसलिए, यदि अर्जुन ने यह युद्ध नहीं लड़ा होता, तो उसे समाज में कर्तव्य की अवहेलना के रूप में चिह्नित किया जाता, जो उसके चरित्र के लिए किसी भी तरह से उचित, उपयुक्त या वांछनीय नहीं था। कुरुक्षेत्र का युद्ध कोई धर्मयुद्ध या Crusade नहीं है जैसा कि अन्य धर्मों में वर्णित है, यह क्षत्रिय धर्म के अनुसार समाज कल्याण के व्यापक हित में अन्याय के विरुद्ध न्यायोचित संग्राम है।।३३।।

अकीर्तिं च अपि भूतानि # कथयिष्यन्ति ते अव्ययाम् ।
सम्भावितस्य च अकीर्तिः # मरणात् अतिरिच्यते ।।३४।।

अनुवाद :- साथ ही सब लोग आपका अपयश सदा के लिये फैलायेंगे और निश्चय ही प्रतिष्ठित पुरूष का अपयश मृत्यु से भी बढ़कर है अर्थात् एक प्रतिष्ठित पुरुष का बिना मान के जीना सम्भव नहीं है। (इस कथन से श्रीकृष्ण अर्जुन से कहना चाहते थे - यदि आप युद्ध में मर भी जाओ तो भी कोई हर्ज नहीं है। लेकिन आपको यह युद्ध कदापि छोड़ना नहीं चाहिए)।।३४।।

भयात् रणात् उपरतं # मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो # भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।३५।।

अनुवाद :- सब महारथ भी यही समझेंगे कि आप डर के मारे रणभूमि से भाग आया है और जिनके हृदय में अब तक आपने आदर का आसन धारण किया है वे फिर आपका तिरस्कार करेंगे।।३५।।

अवाच्य-वादान् च बहून् # वदिष्यन्ति तव अहिताः।
निन्दन्तः तव सामर्थ्यं # ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

अनुवाद :- आपके शत्रु भी आपकी शक्ति के विरुद्ध बहुत सी अकथनीय बातें बोलेंगे। इससे ज्यादा दुख की बात और क्या हो सकती है?

हतो वा प्राप्यप्सि स्वर्गं # जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मात उत्तिष्ठ कौन्तेय # युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

अनुवाद :- हे अर्जुन! यदि आप युद्ध के मैदान में मर जाते हैं तो आप स्वर्ग प्राप्त करेंगे और यदि आप युद्ध जीत जाते हैं तो आप पूरे पृथ्वी का धन का आनंद उठाएंगे। इसलिए युद्ध के लिए अपने संकल्प में दृढ़ रहो ।।३७।।

सुखदु:खे समे कृत्वा # लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व # न एवं पापम् अवाप्स्यसि ।।३८।।

अनुवाद :- अत: सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय दोनों को समान जानकर युद्ध के लिये युद्ध करो। तब आपको कोई पाप नहीं होगा।।३८।।

व्याख्या:- गीता में हम पाते हैं कि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अनेक प्रकार से ज्ञान दिया और उनके मन की भूलों को दूर कर उन्हें युद्ध करने के लिए प्रेरित किया। इस वजह से कई लोग सवाल करते हैं कि कृष्ण जो स्वयं भगवान् हैं, दूसरों को खून बहाने, लोगों को मारने आदि के लिए क्यों प्रोत्साहित करेंगे। इस प्रश्न के अनेक उत्तर हैं। सबसे पहले हम प्राचीन काल से देखते आ रहे हैं कि देशों के बीच, राजाओं के बीच कई युद्ध हुए हैं। उन सभी युद्धों में युद्धोन्मादियों के उद्देश्यों और इस युद्ध के बारे में कृष्ण के दृष्टिकोण की तुलना से श्रीकृष्ण के सच्चे इरादों को समझ में आ जाएगा। उन युद्धों में से अधिकांश का उद्देश्य था जबरन वसूली, अपहरण, जान-बूझकर परपीड़न, रक्तपात और नरसंहार इत्यादि। लेकिन कृष्ण की मंशा इससे बिल्कुल विपरीत है। भगवान् कृष्ण निर्दोष मानव समाज को अन्याय से मुक्त करने के महान उद्देश्य के लिए युद्ध चाहते थे। इसलिए वह अर्जुन को इस युद्ध में प्रोत्साहित करना चाहते थे। जो राज्य का सर्वोच्च शासक होता है वह अपने हाथों से कुछ नहीं करता। वह सदैव उपस्थित रहता है और अपने लोगों से अपने इच्छित कार्य कराता है। अत: चूँकि कृष्ण इस संसार के स्वामी हैं, वे अर्जुन को इस कार्य में लगाना चाहते थे। अर्जुन को इस कार्य में शामिल करने की इच्छा के पीछे कारण यह है कि उसे वही करना है जिसके लिए वह प्रतिबद्ध है। चूंकि अर्जुन एक क्षत्रिय है, इसलिए वे अपनी प्रजा की रक्षा करने के लिए कर्तव्य से बंधा हैं। एक महामारी के दौरान एक बीमार रोगी की देखभाल के लिए एक चिकित्सक

को आगे आना चाहिए, एक अध्यापक या एक वास्तुकार को नहीं। अतएव कृष्ण द्वारा अर्जुन को इस कार्य में बार-बार प्रेरित करना सर्वथा उचित था।

दूसरे, ऊपर वर्णित अन्य सभी युद्ध की तरह इस युद्ध को छेड़ने की इच्छा के पीछे भगवान् कृष्ण की कोई गुप्त उद्देश्य नहीं था जैसे कि हत्या, अपहरण, उत्पीड़न, रक्तपात और नरसंहार में आनंद लेना। उनका एकमात्र उद्देश्य था अधर्म को हटाना और धर्म की स्थापना करना। गीता में श्रीकृष्ण कहना चाहते थे कि युद्ध का उद्देश्य व्यक्तिगत वासना या लोभ से प्रेरित नहीं होना चाहिए, यह व्यक्तिगत सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जीत-हार आदि से ऊपर होना चाहिए, यह समाज की अधिक भलाई के लिए अनासक्त कर्तव्य होना चाहिए। इस तरह छेड़े गए युद्ध को कभी भी अपराध की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इसके अलावा, यह पहले ही चर्चा की जा चुकी है कि शास्त्रों के सिद्धांतों के अनुसार कौरव आततायी थे। मनुसंहिता के आठवें अध्याय श्लोक ३५० में कहा गया है कि आततायी वध के योग्य हैं और आततायी को बिना किसी विचार के तुरंत मार दिया जाना चाहिए। इसी मनुसंहिता के इसी अध्याय के श्लोक ३५१ में फिर कहा गया है कि आततायी को मारने में कोई पाप या अपराध नहीं है। अत: भगवान् श्रीकृष्ण ने शास्त्रों के विधान के अनुसार युद्ध का निर्णय लिया। शास्त्र उस समय देश का संविधान था। इसलिए अर्जुन को इस युद्ध को करने के लिए प्रेरित करना किसी भी तरह से कृष्ण के ईश्वरत्व को कलंकित नहीं करता है।

तीसरे, श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में एक महान लोक-शिक्षा दिया है कि राजा को कभी लालची नहीं होना चाहिए, उनका राज्य शासन निजी स्वार्थों की सेवा का साधन नहीं होना चाहिए, शासन के पीछे उनका कोई व्यक्तिगत सुख-दुख, लाभ-हानि का हिसाब नहीं होना चाहिए, राज्य शासन का उद्देश्य होना चाहिए आसक्ति के बिना केवल अच्छे उद्देश्यों के लिए

राजा के कर्तव्यों का पालन करना। उसने यह भी सिखाया कि जब तक पृथ्वी का अस्तित्व है, मानव समाज का अस्तित्व है, तब तक समाज में अच्छाई और बुराई दोनों रहेंगे। लेकिन जब बुराई इतनी प्रकट हो जाती है कि यदि विरोध न किया जाए तो सामाजिक व्यवस्था खतरे में पड़ जाती है, और जब इसे दूर करने के सभी संभव शांतिपूर्ण प्रयास विफल हो जाते हैं, तब समाज को बचाने के महान उद्देश्य के लिए जिम्मेदार व्यक्ति को चाहिए कि वह सभी व्यक्तिगत सुख-दुख, लाभ-हानि को भूलकर न्यायपूर्ण तरीके से उस बुराई के खिलाफ अंतिम कार्रवाई करे। महाभारत में, हम देखते हैं कि पांडवों कुरुक्षेत्र युद्ध में शामिल होने के लिए तभी आगे बढ़े जब भगवान् कृष्ण और पांडवों द्वारा युद्ध को रोकने के सभी शांतिपूर्ण प्रयास विफल हो गए। यह बड़े दु:ख की बात है कि आज की दुनिया में जिम्मेदार लोग गीता के उपरोक्त सभी उपदेशों के बिल्कुल विपरीत दिशा में जा रहे हैं और इसीलिए आज के विश्व में मानव समाज की बेहतरी के लिए गीता के आदर्शों और उपदेशों का व्यापक प्रचार-प्रसार करने की आवश्यकता है। अन्यथा संसार का नाश अवश्यंभावी है ।३८।।

एषा ते अभिहिता सांख्ये # बुद्धिः योगे तु इमां शृणु।
बुध्या युक्तो यया पार्थ # कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।

अनुवाद :- हे पार्थ! सांख्य अर्थात् तत्त्वज्ञान के बारे में मैंने आपको इतना कहा। अब आप कर्मयोग के बारे में सुनें। यदि आप इस ज्ञान से जुड़ जाते हैं, तो आप कर्मबंधन से मुक्त हो सकते हैं ।।३९।

व्याख्या :- इस श्लोक से वास्तव में कर्मयोग का प्रारंभिक पाठ शुरू होता है। इस श्लोक का अर्थ बहुत ध्यान से समझने की आवश्यकता है। यहाँ कहा गया है कि योग कर्मबंधन से मुक्ति का एक साधन है। अब

प्रश्न आता है कि योग का अर्थ क्या है? योग शब्द का पारंपरिक अर्थ अष्टांग योग है जैसा कि महर्षि पतंजलि ने आसन, प्राणायाम आदि सिखाया है। लेकिन गीता में आसन, प्राणायाम योग का कोई जिक्र नहीं है। तो योग का क्या अर्थ है? गीता में योग का अर्थ है कर्मयोग। अब यहां एक और संदेह पैदा होता है। इस श्लोक में कहा गया है कि इस योग में निपुण होकर कर्मबंधन से मुक्ति पाई जा सकती है। लेकिन आमतौर पर यह माना जाता है कि कर्म करने से उससे आसक्ति हो जाएगी और गीता के अनुसार मोक्ष नहीं प्राप्त होगा क्योंकि किसी भी चीज में आसक्ति मोक्ष में बाधक है। सामान्य लोग सोचते हैं कि गीता में कर्मयोग का उल्लेख है और हम कर्म कर रहे हैं। तब हमें निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त होगा! यहाँ गलती है। गीता में योग को कर्मयोग कहना ठीक ही है, पर साधारण भाषा में कर्म नहीं है, गीता में योग को निष्काम कर्मयोग कहा गया है और इसका अर्थ जानने से आम लोगों की भ्रांतियां दूर हो जाएंगी। कार्य करना आसान है, लेकिन निष्काम तरीके से कार्य करना बहुत कठिन है जो लगभग कोई भी इंसान आमतौर पर नहीं करता या कर सकता है। इसलिए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से बिना आसक्ति के युद्ध करने को कहा जो केवल अर्जुन जैसे उच्च कोटि के व्यक्ति के लिए ही संभव है।।३९।

न इह अभिक्रम-नाशः अस्ति # प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पम् अपि अस्य धर्मस्य # त्रायते महतो भयात् ।।४०।।

अनुवाद :- इस निष्काम कर्म योग में 'आरब्ध' कर्म अर्थात् इस धर्म का जितना आचरण किया जा सके, वह निष्फल नहीं होता। इस धर्म का ठीक से पालन न करने में कोई बुराई नहीं होता। यदि इस निष्काम कर्म योग का थोड़ा सा भी किया जा सकता है, तो वही लोगों को बड़े भय से बचाता है ।।४०।।

व्याख्या :- यहाँ निष्काम कर्मयोग का माहात्म्य बताया गया है। सनातन धर्म में मोक्ष प्राप्ति के लिए दो प्रकार के योग माने गए हैं - ज्ञान योग और कर्म योग। जो लोग ज्ञान योग को अपनाते हैं वे कोई काम नहीं करते, वे लगभग सभी त्यागी या संन्यासी हैं। वे नियत ब्रह्म को प्राप्त करने के ज्ञान की चर्चा में खुद को व्यस्त रखते हैं। दूसरी ओर, जो निष्काम कर्मयोग का अभ्यास करते हैं, वे निष्काम कर्म करते हैं और ब्रह्म प्राप्ति का ज्ञान भी प्राप्त करते हैं। ज्ञान का मार्ग बहुत कठिन है। लंबे समय तक इस योग का अभ्यास करने के बाद यदि योगी इस मार्ग से विचलित हो जाता है, तो अब तक उन्होंने जो कुछ भी प्राप्त किया है, वह पूरी तरह से बेकार हो जाता है। फिर अगर इस योग को नियम से न किया जाए तो यह बहुत नुकसान कर सकता है। लेकिन कर्मयोग का मार्ग बहुत सरल है। इस योग का अभ्यास करने के लिए किसी को घर छोड़ने और संन्यास लेने की आवश्यकता नहीं है। परिवार के अन्य सदस्यों के साथ घर में रहकर परिवार की सामान्य गतिविधियों के माध्यम से इस योग को अपनाया जा सकता है। यहाँ शास्त्रों का कोई विशेष नियम नहीं है। शर्त केवल इतनी है कि इस योग में किये जाने वाले कर्म में किसी प्रकार की आसक्ति न हो, वह पूर्णत: निष्काम कर्म हो। और इस योग का एक विशेष लाभ यह है कि इस योग का जितना अभ्यास किया जाए उतना ही फल मिलता है, निष्काम कर्म योग का किया हुआ कोई भी भाग निष्फल नहीं होता, कर्म कितना ही छोटा क्यों न हो। निष्काम कर्म योग का छोटा सा अनुष्ठान भी लोगों को कई बड़े भय से बचाता है।

यहाँ गीता का एक महत्त्वपूर्ण संदेश यह है कि इस जीवन का मुख्य उद्देश्य भगवान् की निकटता प्राप्त करना है, इसके लिए सब कुछ त्याग करने और तपस्या करने के लिए जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं है,

लोग घर पर रहकर सभी सामान्य कर्तव्यों का पालन कर सकते हैं। बस इतना ही आवश्यक है कि वे उस संसार के सभी सामान्य कर्तव्यों के पालन में आसक्ति न रखे, वह पूरी तरह खाली निष्काम कर्तव्य का पालन होगा। राजा जनक इसका एक प्रमुख उदाहरण हैं।।४०।।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः # एका इह कुरुनन्दन।
बहुशाखा हि अनन्ताश्च # बुद्धयः अव्यवसायिनाम्।।४१।।

अनुवाद :- हे कुरुनंदन अर्जुन! निश्चयात्मिका व्ययसात्मिका बुद्धि अर्थात् निष्काम कर्मयोगियों की बुद्धि सदैव एक ही ओर केंद्रित रहता है और चंचल मन वालों की बुद्धि अव्ययसात्मिका होती है जो अनेक दिशाओं में प्रवाहित होती है।।४१।।

व्याख्या :- व्यवसाय का अर्थ होता है - निश्चय। जिस एकाग्र विचार शक्ति से मुमुक्षु व्यक्ति के हृदय में यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि वह ईश्वर की सच्ची भजन से निश्चित रूप से सभी कर्मों के बंधनों को तोड़ देगा और वह भगवान् के धाम पहुंचेंगा, उसे व्ययसात्मिका बुद्धि कहा जाता है - ''ध्रुवं तरिष्यामीति निश्चयात्मिकैवैकनिष्ठैव बुद्धिर्भवति'' (गीताभाष्य, श्रीधराचार्य २।४१)। यह बुद्धि सदैव एक ही ओर केंद्रित रहता है। वह किसी भी तरह से अलग-अलग दिशाओं में नहीं बहता है। इस एकाग्र बुद्धि के बिना कोई भी ईश्वर के धाम तक नहीं पहुँच सकता। पारंपरिक अर्थों में एक व्यापारी के मन में हमेशा उसका व्यापार के लिए एक विशिष्ट लक्ष्य होता है जो वह कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति अलग-अलग दिनों में अलग-अलग व्यापार करने की सोचता है तो वह कभी भी सफल नहीं होगा। यह उसका बिखरा हुआ अव्यवसायिक रवैया बन जाएगा। फलस्वरूप जो सच्चे व्यापारी होते हैं उनका मन हमेशा एक दिशा में बहता

रहता है और वे सफल हो जाते हैं, लेकिन जो सच्चे व्यापारी नहीं हैं, उनका चंचल मन अलग-अलग दिशाओं में बहेगा और वे कभी सफल नहीं हो पाएंगे। इसी तरह, गीता कहती है कि भगवान् को पाने के लिए, भक्त को एक सच्चे, एक असली व्यापारी की तरह निश्चित बुद्धि का होना चाहिए और अपने मन को हमेशा सभी कार्यों में केवल भगवान् के चरणों में ही रखना चाहिए। सकाम मनुष्य का हृदय सभी कार्यों में ईश्वर के प्रति समर्पित नहीं हो सकता। इससे उसके कार्यों में नाना प्रकार के दोष देखने को मिलते हैं जिसके फलस्वरूप उसके कार्य निष्फल हो जाते हैं और वह कर्मबंधन में लिप्त हो जाता है। किंतु भक्त के समस्त कर्म भगवान् की भक्ति में समर्पित होने के कारण उसके कर्मों में दोष होने पर भी वे कभी निष्फल नहीं होते और वे कर्म उसके कर्मबंधन का कारण नहीं बनते – "ईश्वराराधनार्थं हि नित्यनैमित्तिकं कर्म किञ्चिदङ्गवैगुण्येनापि न नश्यति" (श्रीधराचार्य)। इसलिए, यहाँ अर्जुन को भगवान् कृष्ण की सलाह है कि अर्जुन को युद्ध की आवश्यकता के लिए अपने सभी कार्यों को पूरी तरह से उन्हें समर्पित कर देना चाहिए। तब इस युद्ध के कारण अर्जुन को किसी भी दोष, कर्मबंधन नहीं होगा और यह युद्ध उनके लिए हितकारी होगा।

हम आधुनिक युग में पाते हैं कि ठाकुर श्रीरामकृष्ण ने गिरीश घोष से उनके सभी कार्यों की उत्तरदायित्व लेकर उन्हें उनके पापों से मुक्त कर दिया।।४१।।

याम् इमां पुष्पितां वाचं # प्रवदन्ति अविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ # न अन्यत् अस्ति इति वादिनः।।४२।।

(चूँकि यह एक संयुक्त श्लोक है, इसलिए इस श्लोक का अर्थ बताने के लिए अगले श्लोक से 'स्वर्गपरा' शब्द लिया गया है)

अनुवाद :- हे अर्जुन! जो लोग सोचते हैं कि जीवन का एकमात्र लक्ष्य है स्वर्ग प्राप्त करना, वे कहते हैं कि जीवन के एकमात्र लक्ष्य स्वर्ग को प्राप्त करने के लिए वेदों के यज्ञ-योग के अलावा और कुछ नहीं हैं। जो लोग वैदिक यज्ञ-योग कर्मकाण्ड की मधुर वाणी में आसक्त हैं, वे अल्पबुद्धि और अज्ञानी हैं।।४२।।

व्याख्या:- यहाँ ऐसा प्रतीत हो सकता है कि कृष्ण ऐसे वेदविरोधी शब्द कह रहे हैं। यहीं छिपा है गीता का रहस्य। गीता बार-बार कहती है कि जीवन का वास्तविक लक्ष्य स्वर्ग प्राप्ति तक ही सीमित नहीं है, जीवन का अंतिम लक्ष्य स्वर्ग से परे मोक्ष है। वेदोक्त क्रियाकर्म का अनुष्ठान भी मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। लेकिन चूंकि वेदोक्त कर्मकांड के माध्यम से स्वर्ग की प्राप्ति का उपदेश दिया जाता है, इसलिए सामान्य लोग स्वर्ग प्राप्ति के उद्देश्य से ही वेदोक्त कर्मकांड करते हैं, और वे इसके परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते हैं। इसलिए जब स्वर्ग में उनकी सद्गुणों का क्षय हो जाती है तो उन्हें पुनर्जन्म लेना पड़ता है क्योंकि व्यसनी कर्म कभी भी किसी जीव को मोक्ष के योग्य नहीं बना सकते। इसीलिए वेदोक्त कर्मों में आसक्त जीव अल्पबुद्धि और अज्ञानी कहे जाते हैं क्योंकि वे स्वर्ग का सुखों के मोह में मोक्ष की उपेक्षा करते हैं।।४२।।

कामात्मान: स्वर्गपरा # जन्म-कर्म-फल-प्रदाम्।
क्रिया-विशेष-बहुलां # भोग-ऐश्वर्य-गतिं प्रति ।।४३।।

(चूँकि यह एक संयुक्त श्लोक है, इस श्लोक का अर्थ बताने के लिए 'याम् इमां पुष्पितां बाचं प्रवदन्ति' खंड पिछले श्लोक से लिया गया है)

अनुवाद :- इन अज्ञानियों के हृदय इस इच्छा से मोहित हो गए हैं कि स्वर्ग ही जीवन का अंतिम लक्ष्य है। वे यज्ञ,योग आदि वेदों के जाहिर तौर पर मधुर वचन बोलते हैं, जो जन्म, धन और प्रगति का फल देते हैं ।।४३।।

भोग- ऐश्वर्य-प्रसक्तानां # तया अपहृत-चेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः # समाधौ न विधीयते।।४४।।

अनुवाद :- जिनके हृदय उन मधुर वचनों में मग्न हैं और जो भोगों और धन के गहरे आसक्त हैं, वे भगवान् के प्रति समर्पित नहीं हैं क्योंकि वे एकचित्त नहीं हैं और वे तय नहीं कर पाते कि क्या करें और क्या न करें।।४४।।

त्रैगुण्य-विषया वेदा # निस्त्रैगुण्यो भव अर्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्य-सत्त्वस्थो # निर्योग-क्षेम आत्मवान्।।४५।।

अनुवाद :- हे अर्जुन! वेद सत्त्व, रजः और तम इन तीन गुणों वाले हैं। तुम त्रैगुण्यरहित अर्थात् सत्त्व, रजः और तमः इन तीनों गुणोंकी अधिकतासे रहित, निष्काम, निर्द्वन्द्व अर्थात् सर्दी-गर्मी, हर्ष-शोक आदि दोनों के भावों से सदा मुक्त, नित्यसत्त्वस्थ अर्थात् सदैव सत्त्वगुण में स्थित, निर्योगक्षेम अर्थात् योग यानी अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति और क्षेम अर्थात् जो वस्तु मिली है उनकी रक्षा करने का विचारों से मुक्त और आत्मवान अर्थात् अध्यात्म-चेतना में स्थित हो जाओ।।४५।।

व्याख्याः- इस अध्याय के श्लोक ४२-४५ में हमें स्वयं श्रीकृष्ण के मुख से कुछ ऐसे शब्द सुनने को मिलते हैं कि कोई यह सोच सकता है

कि क्या श्रीकृष्ण वेद विरोधी थे? क्योंकि परम्परागत सनातन धर्म की वेदों में अटूट आस्था है। सात्त्विक लोग अविचल सम्मान के साथ बेदोक्त नि:स्वार्थ कर्म जैसे यज्ञ, योग आदि को पालन के माध्यम से पुण्य अर्जित करके स्वर्ग की प्राप्ति के मार्ग पर व्रती होते हैं। लेकिन स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं कि केवल वेदोक्त कर्मकांड करना ही श्रेष्ठ मार्ग नहीं है। वे स्वर्ग के लिए आचरण के विभिन्न कृत्यों के उपदेशों को स्पष्ट मधुर वचन कहते हैं जिनके अनुयायी मनुष्य ईश्वर के प्रति समर्पित नहीं हो सकता। उनका यह भी कहना है कि वेद त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व, रज: और तम इन तीन प्रकार के गुणों से बने हैं। इसलिए, यदि कोई इसे सतही रूप से देखे, तो उसे एक मजबूत धारणा हो सकती है कि श्रीकृष्ण वेद विरोधी थे। लेकिन अगर हम गहराई से सोचें तो कृष्ण को कभी भी वेदविरोधी के रूप में नहीं पहचाना जा सकता है। सभी शास्त्र कहते हैं कि भगवान् कृष्ण सबसे परे हैं— वे वेदों से भी परे हैं। श्रीमद्भागवत-महापुराण के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय के २८-२९ श्लोक कहते हैं –

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखा:।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपरा: क्रिया:।।
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तप:।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गति:।।

अर्थात्, संपूर्ण वेदोंका प्रतिपाद्य विषय भगवान् कृष्ण हैं, सभी यज्ञ और योग उन्हें ध्यान में रखकर किए जाते हैं, ज्ञान के माध्यम से कृष्ण को ब्रह्म के रूप में प्राप्त किया जा सकता है, वेदोक्त सभी कर्मका परिसमाप्ति उन्हीं में होते हैं, सभी तपस्या कृष्ण की प्रसन्नता के लिए की जाती हैं, सभी

धर्मानुष्ठान कृष्ण के निमित्त किया जाता है और सारी गतियां भगवान् कृष्ण में समाहित होते हैं।

तो यदि कृष्ण को समर्पित सभी वेदों का खंडन स्वयं कृष्ण करते हैं, तो वे स्वयं को ही इनकार करते हैं। दरअसल ऐसा नहीं है। चूंकि एक ऊंची इमारत में पहली मंजिल/दूसरी मंजिल/तीसरी मंजिल आदि हैं, इसमें बीसवीं/ पचासवीं मंजिल भी हो सकते हैं। अब, यदि इसके पहली मंजिल/दूसरी मंजिल/तीसरी मंजिल को अस्वीकार कर दिया गया है तो उसकी बीस/ पचासवीं मंजिल का अस्तित्व ही नहीं होगी क्योंकि बीस/पचासवीं मंजिल इस पहली/दूसरी/तीसरी मंजिल के ऊपर खड़ी है। इसी प्रकार वेदों में भी कृष्ण का तत्त्व समाहित है। वेदों और श्रीकृष्ण के तत्त्व के बीच का अंतर कहीं और है। वेदों में कहा गया है कि वेदोक्त कर्मकांडों को करने से व्यक्ति शाश्वत स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है। लेकिन कृष्ण और भी एक ऊंचे स्तर पर चढ़ गए हैं। उनका कहना है कि मनुष्य की अभीप्सा स्वर्ग तक ही सीमित नहीं है, मनुष्य की अभीप्सा स्वर्ग से भी परे है - मोक्ष प्राप्ति अर्थात् सभी कर्तव्यों को नि:स्वार्थ रूप से करते हुए परमात्मा में लीन हो जाना। कृष्ण का विचार है कि वेदोक्त कर्म स्वर्ग प्राप्त करने के लिए अनासक्त रूप से नहीं किया जाता है - वहाँ वेदोक्त कर्म जो आसक्ति या इच्छा से प्रेरित होता है, वह है स्वर्ग की प्राप्ति। उनके अनुसार, वेदोक्त गतिविधियाँ निस्संदेह मनुष्य को एक उच्च स्तर तक ले जाती हैं और उसे स्वर्ग के योग्य बनाती हैं, लेकिन सत्त्व, रज और तम ये तीन गुणों द्वारा निर्देशित ये सभी वैदिक गतिविधियाँ उसे मोक्ष के योग्य नहीं बनाती हैं। इसलिए, कृष्ण का मत है कि यदि मनुष्य अपनी सारी बुद्धि को केवल स्वर्ग का सुख प्राप्ति के लिए वेदोक्त गतिविधियों तक ही सीमित रखता है, तो उसके लिए जीवन का वास्तविक वांछित लक्ष्य मोक्ष का प्राप्ति संभव नहीं

होगा। इसलिए उन्होंने अर्जुन को अपना कर्तव्य करने के लिए प्रेरित किया, अर्थात् वेदोक्त कार्यों तक खुद को सीमित किए बिना निःष्काम भाव से अपना कर्तव्य अर्थात् युद्ध करने की प्रेरणा दी जो निश्चित रूप से उन्हें मोक्ष के योग्य बना देगा। इसलिए वे वेदों के खिलाफ नहीं बोलते थे, बल्कि वे इस बारे में बोलना चाहते थे कि कैसे वेदोक्त कर्मकांडों के माध्यम से लोगों को उच्च स्तर तक पहुँचाया जा सकता है। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि लोग वेदोक्त यज्ञ आदि अवश्य कर सकते हैं किंतु हृदय में स्वर्ग का सुख की आसक्ति से नहीं, इसे पूर्ण वैराग्य के साथ करना चाहिए।

श्रीकृष्ण के दर्शन का केंद्रीय विषय है निष्काम कर्म - चाहे वह वेदों द्वारा निर्धारित कार्रवाई हो या घर का काम या अपना कर्तव्य करना। कर्मफल से अनासक्ति ही मोक्ष का मार्ग है। इसलिए उन्होंने अर्जुन को सलाह दी कि युद्ध के परिणाम की परवाह किए बिना वैराग्य से युद्ध करो।

लेकिन उनकी सुविचारित राय इंगित करती है कि बेदोक्त स्वर्गीय आनंद का संदेश मनुष्य के कानों को इतना मधुर और मनभावन लगता है कि वह पूरी तरह से अपनी सारी बुद्धि केवल वेदोक्त संस्कारों के प्रदर्शन में लगाता है, और अधिक कठिन निष्काम कर्मानुष्ठान के प्रति आकर्षित नहीं होता है। इसलिए, वह मनुष्य के वांछित लक्ष्य मोक्ष की ओर आगे नहीं बढ़ सकता है। अतएव आसक्त मन से बेदोक्त कर्मकांड करने से अच्छा है कि बिना किसी व्यसनी दिमाग के गृहकार्य करना ।।४५।।

यावान् अर्थ उदपाने # सर्वतः संप्लुत-उदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु # ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

अनुवाद :- जिस प्रकार प्यास बुझाने के लिए मनुष्य को जितना जल की आवश्यकता होती है वह छोटे-छोटे कुओं में भी संचित रहता है और

बड़े-बड़े जलाशयों में भी। इसी तरह, वेदों में निहित सभी ज्ञान ब्रह्म-ज्ञानी पुरुष में भी मौजूद हैं।।४६।।

कर्मणि एव अधिकारः ते # मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफल-हेतुः भूः # मा ते सङ्गः अस्तु अकर्मणि।।४७।।

अनुवाद :- तुम्हारा अधिकार स्वधर्म निर्धारित कर्म में है, कर्म के फल में कदापि नहीं। इसलिए फल के बारे में सोचे बिना या अपना कर्तव्य निभाना छोड़े बिना कर्म करो।।४७।।

व्याख्या :- यहां भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य को एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शिक्षा देते हैं कि मनुष्य को कभी भी कर्म के परिणाम या कर्म के त्याग के बारे में नहीं सोचना चाहिए। मनुष्य को अच्छे परिणाम की आशा से कार्य नहीं करना चाहिए। दूसरी ओर, कर्म को त्यागने का विचार ऐसा सोचकर नहीं करना चाहिए कि इसके परिणाम पर उनका कोई अधिकार नहीं है अथवा कर्म करने के बाद उसे उसके बाधक परिणाम भोगने पड़ेंगे। मनुष्य को अपना सौंपे गए उत्तरदायित्व को अवश्य ही पूरा करना चाहिए। निश्चित रूप से कर्म शब्द से भगवान् का अभिप्राय अच्छे कर्मों से ही है ।

शास्त्र के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं- नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्यकर्म। प्रतिदिन संध्या-आह्निक का अभ्यास करना नित्य कर्म कहलाता है। पूर्णिमा-अमावस्यादि के अवसर पर किए जाने वाले कर्म को नैमित्तिक कर्म कहते हैं और स्वर्गसुखादि की प्राप्ति के लिए किए गए कर्म को काम्य कर्म कहते हैं। काम्य कर्मों जीव के लिए अच्छे नहीं होते, क्योंकि इन कामनाओं से प्रेरित कर्मों से वह स्वर्ग को तो प्राप्त होता है, लेकिन जब उन कर्मों का पुण्य समाप्त हो जाता है, तो उसे फिर से पुनर्जन्म भोगना पड़ता है। योगाभ्यास करने वालों के लिए नित्यकर्म और नैमित्तिक क्रियाओं के नियम को शास्त्रों में मान्यता प्राप्त है।।४७।।

योगस्थः कुरु कर्माणि # सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धि-असिद्धयोः समो भूत्वा # समत्वं योग उच्यते।।४८।।

अनुवाद :- हे धनंजय! सदा योग में दृढ़तापूर्वक स्थित रहो, व्यसनों का त्याग करो और सफलता और असफलता का समान ज्ञान रखते हुए कर्म करो। समानता की ऐसी भावना को योग कहा जाता है।।४८।।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने बहुत ही कम शब्दों में एक महान अवधारणा की व्याख्या की है। श्रीमद्भगवद्गीता में 'योग' शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया गया है, यह सर्वसाधारण को स्पष्ट नहीं है। आम तौर पर लोग 'योग' का मतलब पतंजलि के अष्टांग योग से समझते हैं। फिर से, बहुत से लोग योग को मानव समाज से दूर एकांत स्थान पर बैठने और अपनी आँखें बंद करके ध्यान करने के रूप में समझते हैं। लेकिन यहां श्रीकृष्ण इस शब्द की बहुत सुंदर और सरल व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि योग मन की वह अवस्था है जब मनुष्य सफलता और असफलता की बराबरी करता है अर्थात् समान रूप से मानता है। उसे सुख-दु:ख, सफलता-असफलता, लाभ-हानि, जय-पराजय से कोई लगाव नहीं रहता। हृदय में समभाव की इस भावना को योग कहते हैं। उनके अनुसार यह सबसे बड़ी तपस्या है। इसलिए भगवान् के मत में संसार में इस प्रकार के योग से जुड़कर अपने सभी कर्मों को करना ही मुक्ति का मार्ग है, किसी एकांत स्थान पर जाकर तपस्या करने के लिए आंखें बंद करके भगवान् का ध्यान करने की आवश्यकता नहीं है।।४८।।

दूरेण हि अवरं कर्म # बुद्धियोगात् धनञ्जय।
बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ # कृपणाः फलहेतवः ।।४९।।

अनुवाद :- हे धनंजय! सकाम कर्म निश्चित रूप से समतावादी

बुद्धियुक्त कर्म से हीन है। इसलिए तुमको समतामूलक बुद्धियुक्त कर्म करने का प्रयास करना चाहिए। जो फल की इच्छा से सकाम कर्म करते हैं, वे कृपण अर्थात् अधम हैं ।।४९।।

बुद्धियुक्तो जहाति इह # उभे सुकृत-दुष्कृते ।
तस्मात् योगाय युज्यस्व # योगः कर्मसु कौशलम् ।।५०।।

अनुवाद :- समत्त्वबुद्धि अर्थात् निष्काम कर्मयोगी इस संसार में पुण्य और पाप दोनों का त्याग करते हैं। अतः तुम निष्काम कर्मयोग के लिये कर्म में संलग्न हो। निष्काम कर्मयोग ही सभी कर्मों में कुशलता का मूल है।।५०।।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शिक्षा दी है। यदि कर्म में निपुणता नहीं है तो उस कार्य में सफलता नहीं मिलती। सामान्य कार्य में वह कुशलता ईमानदारी, कार्य के प्रति समर्पण आदि पर निर्भर करती है। सामान्य तौर पर, यदि किसी व्यापारी में ईमानदारी और सत्यनिष्ठा नहीं है, तो उसका व्यवसाय जल्द ही गिरावट के रास्ते पर चला जाएगा। इसी प्रकार जो मोक्ष के इच्छुक हैं उन्हें अपने कार्य में निपुणता हासिल करनी होगी और यह उनके द्वारा बिना आसक्ति के कार्य के संपादन पर निर्भर करता है। कर्म से विरक्ति नहीं, कर्म ही मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाता है और वह कर्म जितना अनासक्ति वाला होगा, उतना ही वह उसे मोक्ष की ओर ले जाएगा ।।५०।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि # फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्ध- विनिर्मुक्ताः # पदं गच्छन्ति अनामयम् ।। ५१।।

अनुवाद :- समचित्त पुरुष कर्मजनित फलका त्याग करके जन्म मरण के चक्र के बंधनों को तोड़कर निश्चय ही अपापविद्ध अचूक विष्णुपद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।। ५१।।

यदा ते मोह-कलिलं # बुद्धिः व्यति-तरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं # श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।५२।।

अनुवाद :- जब आपकी बुद्धि अविद्या या अज्ञान के गहन अंधकार को पार कर जाएगी, तो आपका हृदय ज्ञान से आलोकित हो जाएगा, और तब आप भविष्य में जो कुछ सुनेंगे और जो कुछ आपने अतीत में सुना है उन सभी के लिए आपके हृदय में वैराग्य पैदा हो जाएगा। और आप पाप-पुण्य, सुख-दु:ख, लाभ-क्षति इन सभी प्रकार भावना से मुक्त हो जायेंगे और तब इनमें से कोई भी बात आपके दिल को छूने या परेशान करने में सक्षम नहीं होगा।।५२।।

श्रुति-विप्रतिपन्ना ते # यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधौ अचला बुद्धिः # तदा योगम् अवाप्स्यसि।।५३।।

अनुवाद :- विविध वेदोक्तों तथा लौकिक विधानों के परिणामों को सुनने के फलस्वरूप जब आपका भ्रमित मन जीवात्मा और परमात्मा के ध्यान में गहराई से लीन हो जाएगा अर्थात् आपका बुद्धि विभिन्न विषयों के प्रति आकर्षित होकर अलग-अलग दिशाओं में भटके बिना आपका मन में निश्चलभावसे ठहर जायगी तब आप आत्मदर्शन रूप योग को प्राप्त करेंगे ।।५३।।

व्याख्या:- यहाँ मन का अर्थ समाधि से है। भोग-विलास में अत्यधिक आसक्त जीव अपना पारमार्थिक ज्ञान खो देता है। परिणामस्वरूप, उसके मन में व्यावसायात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती। शास्त्रों के ज्ञान से, निष्काम कर्मयोग के माध्यम से स्थितप्रज्ञता नामक ज्ञाननिष्ठा प्राप्त होता है और इस स्थितप्रज्ञता से आत्मदर्शनरूप योग अवस्था आती है और इस आत्म-ज्ञान को ठीक से मन में समाहित किया जा सकता है। इसीलिए रामानुजाचार्य ने अपनी गीताभाष्य (२।४४) में मन को समाधि कहा है-

"समाधीयते अस्मिन् आत्मज्ञानम् इति समाधि: मन:।" वस्तुत: बिना आत्मज्ञान के योगावस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए उपनिषद आत्मदर्शन को बहुत महत्त्व देते हैं और कहते हैं 'आत्मानं बिद्धि' - स्वयं यानी आत्मा को जानो। स्वयं को मन के द्वारा ही जाना जाता है। इसलिए यहां बुद्धि को मन में समाहित करने की बात कही गई है।।५३।।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा # समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधी: किं प्रभाषेत # किम् आसीत् व्रजेत किम्।।५४।।

अनुवाद :- अर्जुन ने पुछा - हे केशव! एक समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ पुरुषका लक्षण क्या हैं? वह स्थिरबुद्धि कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है? ।।५४।।

श्रीभगवान् उवाच

प्रजहाति यदा कामान् # सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मनि एव आत्मना तुष्ट: # स्थितप्रज्ञ: तदा उच्यते ।। ५५।।

अनुवाद :- भगवान् ने कहा- हे पार्थ! जब कोई अपने मन की सभी इच्छाओं को त्याग कर अपने भीतर संतुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।।५५।।

दु:खेषु अनुद्विग्नमना: # सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतराग-भय-क्रोध: # स्थितधी: मुनि: उच्यते ।।५६।।

अनुवाद :- जिसका मन दु:ख से व्याकुल न हो, जिसके मन में सुख की आसक्ति न हो, जिसका हृदय समस्त राग, भय, क्रोध से मुक्त हो गया हो, वे स्थितप्रज्ञ मुनि कहलाता है ।।५६।।

व्याख्या:- दु:ख भावनात्मक पीड़ा की एक अमूर्त अभिव्यक्ति है जो प्रतिकूल परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाली विभिन्न भावनाओं जैसे हानि, निराशा, शोक, असहायता आदि से जुड़ी है - ''प्रतिकूलतया बेदनीयं दु:खम्''। दु:ख तीन प्रकार का होता है - आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। किसी के शरीर और मन की पीड़ा के कारण होने वाले शोक को आध्यात्मिक दु:ख कहा जाता है जैसे शारीरिक बीमारी, रिश्तेदारों का बिछड़ना, मृत्यु का शोक आदि, प्रिय वस्तुओं की हानि और अप्रिय वस्तुओं से जुड़ाव आदि। जहरीले सांप, कीड़े, मकड़यों, चोरों, जालसाजों आदि से पीड़ित होने को आधिभौतिक दु:ख कहा जाता है। आँधी, भूकम्प, बिजली, बाढ़ आदि दैवीय आपदाओं से होने वाले कष्ट को आधिदैविक दु:ख कहते हैं। सांसरिक सुख छह प्रकार के होते हैं- धनागम, निरोगी काया, सुंदरी भार्या, प्रिय मधुरभाषी पत्नी, आज्ञाकारी पुत्र और अर्थकरी विद्या । अप्राप्य वस्तुओं की तृष्णा की राग कहलाती है। प्रिय वस्तु के वियोग और अप्रिय वस्तु की प्राप्ति से मनमे होने वाली पीड़ा को भय कहते है। क्रोध वह है जो प्रिय वस्तु से वंचित होने और अप्रिय वस्तु से निकटता प्राप्त करने के लिए दूसरों के साथ ऐसा होता देखकर उत्पन्न होता है। जो इन तीन प्रकार के दु:खों से व्याकुल नहीं होता और इन छह प्रकार के सुखों में आसक्त नहीं होता, वह स्थितप्रज्ञ मुनि अर्थात् आत्मज्ञानी पुरुष है।।५६।।

य: सर्वत्र अनभिस्नेह: # तत् तत् प्राप्य शुभ-अशुभम्।
न अभिनन्दति न द्वेष्टि # तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

अनुवाद :- जो सब प्रकार से ममता अर्थात् आसक्ति रहित है, जो किसी भी भले-बुरे विषय में हर्षित या अप्रसन्न नहीं होता, उसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है अर्थात् उसकी बुद्धि स्थिर है ।।५७।।

यदा संहरते च अयं # कूर्मः अङ्गानि इव सर्वशः।
इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः # तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५८।।

अनुवाद :- जिस प्रकार कछुआ अपने पैरों, सिर आदि को अपने कठिन खोल में बंद कर लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य अपनी इंद्रियों को सभी इन्द्रियविषयों से पूरी तरह से हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ।।५८।।

विषया विनिवर्तन्ते # निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसः अपि अस्य # परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।५९।।

अनुवाद :- इंद्रियों के द्वारा ही मनुष्य वस्तुओं का भोग करना बंद कर दे तो भी उसके हृदय से वस्तुओं के भोग की इच्छा नहीं मिटती। केवल परमेश्वर भगवान् के दर्शन करने से, अर्थात् उनके प्रति समर्पित होने से ही, उस व्यक्ति की इंद्रिय-सुख की इच्छा दूर हो जाती है ।।५९।।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् अर्जुन को सलाह देते हैं कि आत्म-ज्ञान कितना दुर्लभ है और इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। निराहार का अर्थ है भोजन न करना। लेकिन केवल भोजन न करने से चित्तशुद्धि नहीं मिलती है। चित्तशुद्धि के लिए इच्छाओं से छुटकारा पाना होगा। लेकिन सिर्फ खाने से परहेज करने से वासना खत्म नहीं होती है। कई लोग ऐसे होते हैं जो शारीरिक बीमारियों के चलते खाना छोड़ने को मजबूर हो जाते हैं। लेकिन उनके मन में हमेशा अतृप्त इच्छाएँ होती हैं। फलस्वरूप मोक्ष का मार्ग जो जीवन का परम लक्ष्य है, उनके लिए सुगम नहीं हो पाता क्योंकि ऐसे लोग अपने जीवन में भोजन का त्याग करने को मजबूर हो जाते हैं लेकिन उनकी इंद्रियां संयमित नहीं होतीं और इंद्रियों के संयम के बिना मोक्ष का मार्ग सुगम नहीं हो सकता। इसलिए लोगों को भोजन करने से परहेज करने के लिए

नहीं कहा जाता है, बल्कि इंद्रियों की लालसाओं को नियंत्रित करने के लिए कहा जाता है। इंद्रियों का भोजन रूप, रस, रंग, गंध और स्पर्श आदि है। कहा गया है कि यदि विषय-वस्तुओं से रस को हटा दिया जाए तो धीरे-धीरे आसक्ति छूट जाएगी और दुर्लभ ज्ञाननिष्ठा का मार्ग सुगम हो जाएगा। यहाँ रस शब्द का अर्थ व्यसन है। जब मन से वाणी और विषय-सुखों का मोह छूट जाता है तो लोग धीरे-धीरे मानव जीवन के लक्ष्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने के योग्य हो जाते हैं। उस परम लक्ष्य की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि वस्तुओं के भोग की इच्छा हृदय से दूर न हो जाए और संसारी के लिए वस्तुओं के भोग की इच्छा को हृदय से हटाना बड़ा कठिन है। यहाँ गीता में कहा गया है कि यदि कोई अपने तन-मन-प्राण-सुख-दु:ख को नि:स्वार्थ रूप से भगवान् के श्रीपादपद्म में समर्पित कर सकता है, तो भगवान् स्वयं आगे आते हैं और भक्त को पार्थिव सुखों की इच्छा को समाप्त करने की शक्ति देते हैं ।।५९।।

यततो हि अपि कौन्तेय # पुरुषस्य विपश्चित:।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि # हरन्ति प्रसभं मन:।।६०।।

(प्रमाथीनि = चित्त बिक्षेपकारी; यतत: = यत्नशील; बिपश्चित: = ज्ञानी पुरुष; प्रसभं = जोर जबरदसती से; हरन्ति = चुराता है ।।६०।।)

अनुवाद :- हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मन को विचलित करने वाली इंद्रियाँ ही सावधान और बुद्धिमान व्यक्ति के मन को भी बलपूर्वक वश में कर लेती हैं अर्थात् उसे पार्थिव वस्तुओं में आसक्त बना देती हैं ।।६०।।

व्याख्या :- आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए कितनी सावधानियाँ रखनी चाहिए, इसका उपदेश श्रीकृष्ण ने यहाँ दिया है। इंद्रियों की शक्तियाँ अपार हैं। लाख कोशिश करने पर भी इनसे छुटकारा पाना मुश्किल है। कई

सिद्धपुरुषों को भी कई बार इंद्रियों के हाथों हार मानने के लिए मजबूर होना पड़ा। पुराण में इस बारे में एक कथा है। एक बार वेदव्यास स्वयं अपने प्रिय शिष्य जैमिनी को इसी श्लोक की व्याख्या कर रहे थे। लेकिन जैमिनी अपने गुरु के इस कथन से सहमत नहीं हो सके कि इंद्रियाँ ज्ञानी को हरा सकती हैं। इसलिए वह अपने गुरु व्यासदेव से 'विपश्चित' शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द प्रयोग करने का अनुरोध की। इंद्रियों की शक्ति कितनी प्रबल होती है, इस विषय में शिष्य को उपयुक्त शिक्षा देने के लिए व्यासदेव ने एक बार एक अति सुंदरी स्त्री का रूप धारण किया और जैमिनी के सामने अन्य स्त्रीयों के साथ क्रीड़ा करने लगे। उस समय आकाश से सहसा वर्षा होने लगी तो स्त्रीरूप धारण करने वाले व्यासदेव भी अन्य स्त्रीयों सहित भीग गये और काँपने लगे। उस समय, अन्य महिलाएं गायब हो गईं और महिला के रूप में व्यासदेव अकेले, ठंड से कांप रहे थे। तब परम सात्त्विक ज्ञानी जैमिनी ने उस कन्या पर दया की और उसे अपनी पर्णकुटी में आश्रय दिया और उसे कहा कि कोई भी राक्षस मनुष्य का रूप धारण कर सकता है और उसे (कन्या को) द्वार खोलने के लिए बुला सकता है। उसे दरवाजा नहीं खोलना चाहिए। इस बीच जैमिनी रात में देर से जागता है और दिन में शुद्ध सफेद कपड़े पहने भीगी महिला के शरीर की चमक को याद करके बार-बार दरवाजा खटखटाने लगा और कन्या को दरवाजा खोलने के लिए कहा। जैमिनी के कहने पर जब कन्या ने दरवाजा नहीं खोला तो जैमिनी ने घर की छत तोड़कर कुटिया में घुसने का प्रयास किया। तभी उनकी गुरु प्रकट हुए और जैमिनी को उनके बालों के गुच्छे से पीछे से खींच लिया और कन्या ने भी जैमिनी के पैर पकड़ लिए और उन्हे नीचे खींचने लगी। परिणामस्वरूप, जैमिनी एक बार गिर पड़ा और गंभीर रूप से घायल हो गया और देखा कि वह कन्या गायब हो गई और उनके पीछे उनकी गुरुदेव

वेदव्यास खड़े थे और धीरे से मुस्कुरा रहे थे। तब जैमिनी ने गुरु से सहमति व्यक्त की कि भगवान् ने इस श्लोक में गलत नहीं बोला है।

मनुस्मृति भी श्रीमद्भगवद्गीता के इस कथन की पुष्टि करती है - "बलवान् इंद्रियग्रामः विद्वांसम् अपि कर्षति" (मनुस्मृति २/२१५)। इसलिए यहाँ गीता का उपदेश है कि इंद्रियों के मोह और आकर्षण इतने प्रबल होते हैं कि वे मनुष्य को क्षण भर में पथभ्रष्ट कर सकते हैं और उनके मान-सम्मान-जीवन-धन की हानि होने की प्रबल संभावना होती है। इसलिए बुद्धिमान लोगों को इनसे हमेशा सावधान रहना चाहिए ।।६०।।

तानि सर्वाणि संयम्य # युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्य इन्द्रियाणि # तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

अनुवाद :- जो भक्त अपनी सब इंद्रियों को संयमित करके मुझमें आसक्त होकर अर्थात् मेरी पूर्ण शरण लेकर मेरी पूजा करता है, मेरे उस भक्त की इंद्रियाँ उसकी वश में रहती है। मेरी वह भक्त स्थितप्रज्ञ कहलाता है।।६१।।

व्याख्या :- यहां भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तों को एक महत्त्वपूर्ण उपदेश देते हैं। उनकी कहना है कि यदि उनकी कोई भक्त अपनी इंद्रियों को वश में करना चाहता है तो उसे वह प्रयास अकेले नहीं करना चाहिए। यदि उसकी सफलता ऐसे भी आती है, तो भी वह स्थाई नहीं होगी क्योंकि थोड़े ही दिनों में उसकी प्रबल इंद्रियों के प्रलोभन उसे परास्त कर देंगे और उसकी प्रयत्नों को विफल कर देंगे। उदाहरण के लिए, यदि कोई छात्र बिना किसी सहायता के स्वयं गणित सीखना शुरू करता है, तो वह कुछ समय के लिए सफल हो सकता है, लेकिन जल्द ही वह विफल हो जाएगा और

इसलिए उसे शिक्षक की सहायता लेनी पड़ेगी। इसलिए भगवान् कहते हैं कि उनकी भक्त को अपने आप को उनके श्रीचरणकमल में पूर्ण समर्पण कर देना चाहिए। तब वह ईश्वर से शक्ति प्राप्त करके इंद्रियों के आक्रमणों को स्थायी रूप से प्रतिकार कर सकेगा और तब वह जीवन के परम ज्ञान को प्राप्त कर सकेगा।

विष्णु पुराण में हमें इस कथन की गूँज सुनाई देती है—

तद्रूपं विश्वरूपस्य तस्य योगयुजा नृप।
चिन्तम् आत्म-विशुयर्थं सर्वकिल्विषनाशनम्।।
यथा अग्निः उद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः।
तथा चित्तस्थितः विष्णुः योगिनां सर्वकिल्विषम्।।
तस्मात् समस्तशक्तिनामाधारे तत्र चेतसः।
कुर्वीत संस्थितं सा तु विज्ञेया शुद्धधारणा।।

—विष्णुपुराण ६/७/७२-७४

दूसरे शब्दों में, योगयुक्त व्यक्ति मन की शुद्धि के लिए सदैव सभी पापनाशक परमेश्वर के विश्वरूप के मोहन रूप के बारे में सोचेंगे। तब हृदय में निवास करने वाले भगवान् विष्णु योगियों के समस्त पापों को उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं, जैसे धधकती आग हवा से प्रबल होकर सूखी घास को भस्म कर देती है। इसलिए मन को समस्त शक्ति का स्रोत उस प्रभु में स्थिर करना चाहिए। इसे कहते हैं विशुद्ध धारणा।

अतः यदि कोई भक्त स्वयं को पूरी तरह से भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कर देता है और जीवन के परम आश्रय को प्राप्त करने का प्रयास करता है, तो उसके मन से सभी पाप, ग्लानि, क्लेद, आसक्ति, मद, मात्सर्य, असूया दूर हो जाएगी, हृदय में शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होगा और सारे तन मन को शुद्ध करके वह परमार्थलाभ का पात्र बनेगा।।६१।।

ध्यायतो विषयान् पुंसः # सङ्गः तेषु उपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः # कामात् क्रोधः अभिजायते।।६२।।

अनुवाद :- विषयों का चिंतन करने से मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से काम उत्पन्न होता है और काम से क्रोध उत्पन्न होता है।।६२।।

व्याख्या:- काम क्या है? इस संबंध में रामानुजाचार्य ने कहा - "कामो नाम सङ्गस्य विपाकदशा। पुरुषो यां दशाम् आपन्नो विषयान् अभुक्ता स्थातुं न शक्नोति स कामः।" अर्थात् व्यसन की परिपक्व अवस्था को 'काम' कहा जाता है। वह स्थिति जिसमें लोग वस्तुओं का आनंद लिए बिना नहीं रह सकते, काम कहलाती है ।।६२।।

क्रोधात् भवति सम्मोहः # सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृत्तिभ्रंशात् बुद्धिनाशो # बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।६३।।

अनुवाद :- क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश, बुद्धिके नाश से विनाश होता है ।।६३।।

राग-द्वेष-विमुक्तैः तु # विषयान् इन्द्रियैः चरन्।
आत्मवश्यैः विधेयात्मा # प्रसादम् अधिगच्छति ।।६४।।

अनुवाद :- परंतु राग, द्वेष आदि से रहित संयमित-चित्त मनुष्य, वश में की हुई इंद्रियों से वस्तुओं को भोगकर आत्मसुख को प्राप्त करता है ।।६४।।

प्रसादे सर्वदुःखानां # हानिः अस्य उपजायते।
प्रसन्नचेतसो हि आशु # बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।

अनुवाद :- ऐसी आत्मतुष्टि होने पर उनकी सब दुःख समाप्त हो जाते

हैं क्योंकि आत्मसंतुष्ट व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही भगवान् में स्थित हो जाती है ।।६५।।

नास्ति बुद्धिः अयुक्तस्य # न च अयुक्तस्य भावना।
न च अभावयतः शान्तिः # अशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

अनुवाद :- जो परमात्मा के साथ नहीं जुड़ सकता उसे आत्मविषयक बुद्धि नहीं होती और आत्मज्ञान से रहित व्यक्ति को ईश्वर के बारे में कोई भावना नहीं होता, जिसके पास भगवान् के बारे में कोई भावना नहीं होता उसे शांति नहीं होती और जिसके पास शांति नहीं होती उसे सुख प्राप्ति नहीं होती।।६६।।

इन्द्रियाणां हि चरतां # यत् मनः अनुविधीयते।
तत् अस्य हरति प्रज्ञां # वायुः नावम् इव अम्भसि।।६७।।

अनुवाद :- विषयों में आसक्त मन इंद्रियों में से जिसकी भी ग्रहण करता है, वह मनुष्य की बुद्धि को वैसे ही हर लेता है, जैसे जल में तैरती हुई नाव को वायु उड़ा ले जाती है।।६७।।

व्याख्या :- यहाँ लोगों को मन के वास्तविक स्वरूप से अवगत कराया जाता है। मनुष्य की अच्छाई और बुराई का स्वामी मन है। मन लोगों को पवित्रता की ऊंचाइयों तक ले जा सकता है, और मन लोगों को पाप के अंधकार में डुबा सकता है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि मन मनुष्य की मोक्ष या बंधन का कारण है। यह मन वस्तुओं में आसक्त हो तो मनुष्य के बंधन का कारण बन जाता है और यदि वह मन वस्तुओं के विचार से

मुक्त हो जाता है तो मनुष्य की मोक्ष का कारण बन जाता है। इसलिए ज्ञानी मुनि मन को विषय से हटाकर परमात्मा के चरणों में रख देते हैं-

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।
बंधस्य विषयासङ्गि मुक्तोर्निर्विषयं तथा।।
विषयेभ्यः समाहृत्य विज्ञानात्मा मनो मुनिः।
चिन्तयेन्मुक्तये तेन ब्रह्मभूतं परमेश्वरम्।।

—विष्णुपुराण ६/७/२८-२९

इसलिए गीता सिखाती है कि मन को हमेशा संयमित रखना चाहिए। यदि मन हमेशा भक्ति के रस्सी से भगवान् कृष्ण का अभय चरणयुगलरूप यमलार्जुन वृक्ष की जड़ में बंधा रहे, तो मन को उन्मादी इंद्रियों के तूफान से उड़ाए जाने की कोई संभावना नहीं होगी, और धीरे-धीरे मन में सच्चा ज्ञान उभरेगा।।६७।।

तस्माद् यस्य महाबाहो # निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः # तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

अनुवाद :- इसलिए हे महावीर! जिसकी इंद्रियाँ इंद्रियविषयों से पूर्णतया विरक्त हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है।।६८।।

या निशा सर्वभूतानां # तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि # सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

अनुवाद :- जो ज्ञानचक्षुओं से रहित समस्त प्राणियों के लिए रात्रि के समान अन्धकारमय है, वह ज्ञानियों के लिए दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट

है। ज्ञानचक्षुओं से रहित सभी पुरुष उस विषय में जाग्रत रहते हैं, जिस विषय के संबंध में आत्मसंयमी ज्ञानी सोये रहते हैं। अज्ञानी पुरुष ज्ञान के विषय में कोई रुचि प्रकट नहीं कर सकते, लेकिन केवल यह वह चीज है जिसके बारे में ज्ञानी पुरुषों रुचि रखते हैं। ज्ञानी पुरुष उन वर्जनीय विषयों में कोई रुचि नहीं लेते जिनमें अज्ञानी पुरुष रुचि लेते हैं।।६९।।

व्याख्या:- इस श्लोक में आत्मज्ञान के साधन के रूप में 'संयम' शब्द पर विशेष महत्त्व दिया गया है। इस श्लोक में जो ऊपर कहा गया है वह संयमी पुरुष के बिना कभी भी संभव नहीं है। संयमी पुरुष का हृदय ही ज्ञान के प्रकाश से आलोकित होता है और इसलिए वह सत्य को देख सकता है। इसलिए हमें यह भली-भांति समझने की आवश्यकता है कि यह संयम क्या है और इसका स्वरूप क्या है।

सम्यकरूपसे यम जिस पुरुष में हो उसे संयमी कहते हैं अर्थात् जो यम का संतुलित रूप से पालन करता है वह संयमी है। अब यम शब्द का सही अर्थ समझना आवश्यक है। यम दैनिक शारीरिक गतिविधि है। शांडिल्य उपनिषद के प्रथम मंत्र में दस प्रकार के यम का उल्लेख है- ''तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमादश'' अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सरलता), क्षमा, धृति (सहनशीलता), मिताहार और शौच यानी पवित्रता। जो लोग इन दस प्रकार के यमों या दैनिक क्रियाओं का अभ्यास करते हैं उन्हें हृदय में ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है और वे इंद्रियों पर उचित नियंत्रण बनाए रख सकते हैं।

शांडिल्य उपनिषद अहिंसा कहे जाने वाले यम के स्वरूप की व्याख्या के संदर्भ में बताते हैं कि हिंसा किसे कहते हैं – ''हिंसा नाम मनोवाक्काय-कर्मभि: सर्वभूतेषु सर्वदा क्लेशजननम्।'' अर्थात् शरीर, मन और वाणी द्वारा

किये जाने वाला जो कर्म सभी प्राणियों के हृदय में दुख या शोक उत्पन्न करता है वह हिंसा है। अतः आसानी से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस कार्य से दूसरों को क्लेश या कष्ट न हो, वह अहिंसा है। फिर, इसी मंत्र में, ऊपर सूचीबद्ध शेष नौ यमों की प्रकृति को क्रमिक रूप से समझाया गया है। सत्य के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि शरीर, मन और वाणी द्वारा प्राणियों के कल्याण के लिए जो शुद्ध वाणी का उच्चारण किया जा सकता है, वह सत्य कहलाती है- "सत्यं नाम मनोवाक्काय कर्मभिर्भूत-हित-यथार्थ-अभिभाषणम्"। तन, मन और वाणी से दूसरों की संपत्ति की लालसा या इच्छा न करना अस्तेय है - "अस्तेयं नाम मनोवाक्काय-कर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहा।" फिर ब्रह्मचर्य के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि तन, मन और वाणी से रमन को छोड़ने का नाम है ब्रह्मचर्य - "ब्रह्मचर्य नाम सर्वावस्थासु मनोक्काय-कर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः।" हर जगह सभी प्राणियों के प्रति अनुग्रह करना दया है - "दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः।" आर्जव या सरलता के बारे में कहा गया है - "आर्जवं नाम मनोवाक्काय-कर्मणां विहित-अविहितेषु जनेषु प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा एकरूपत्वम्।" अर्थात् वेदविहित या अविहित कर्मों में लिप्त होना या विरत रहना दोनों में भी मनुष्य के हृदय में जो स्थिति चाहे शारीरिक, मानसिक या वाचिक रूप में समान रूप से व्याप्त हो वही आर्जव कहलाती है। फिर क्षमा के विषय में कहा गया है कि किसी के प्रिय या अप्रिय, डांटे या पूजे हुए व्यवहार के प्रति सहनशीलता का नाम क्षमा है - "क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताड़नपूजनेषु सहनम्।" धन की हानि या लाभ, किसी के प्रिय मित्र की हानि या लाभ के संबंध में मन की दृढ़ता बनाए रखने के नाम धृति - "धृतिर्नामार्थहानौ स्वेष्टबन्धुवियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतः स्थापनम्।" मिताहार के बारे में कहा जाता है कि पेट का एक चौथाई भाग खाली रखकर मीठा और पवित्र खाना मिताहार कहलाता है - "मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषकसुस्निग्धमधुराहारः।"

यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि श्रीकृष्ण छठे अध्याय के सोलहवें श्लोक में मिताहार पर विशेष जोर देते हुए कहते हैं कि एक पेटू या पूर्ण उपवास करने वाले व्यक्ति के लिए योग समाधि प्राप्त करना संभव नहीं है। शांडिल्य उपनिषद के प्रथम श्लोक के अंत में शौच की चर्चा की गई है। यहाँ कहा गया है कि शौच दो प्रकार का होती है - बाह्य और आंतरिक । बाहरी शौच मिट्टी और पानी से किया जा सकता है। मन का शौच आंतरिक शौच है - "शोचं नाम द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति। तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यम्। मन:शुद्धिरान्तरम्।" यह आंतरिक शौच ब्रह्मविद्या की सहायता से प्राप्त होता है- "तदध्यात्मविद्यया लभ्यम्।"

इन दस प्रकार के यमों को ठीक से समझे बिना गीता के वास्तविक सिद्धांत को समझना संभव नहीं है।।६९।।

आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं # समुद्रम् आपः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे # स शान्तिम् आप्नोति न कामकामी।।७०।।

अनुवाद :- नदियों और नहरों का उफनता पानी शांत समुद्र में चारों ओर से प्रवेश कर जाता है, लेकिन उस स्थिर समुद्र के जल में कोई हलचल नहीं दिखाई देती, न समुद्र का कोई परिवर्तन देखा जाता है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी मनुष्य के भीतर सब वस्तुएँ प्रवेश भी कर लें, तो भी वे उसमें विलीन हो जाती हैं। फलस्वरूप उसे मानसिक शांति प्राप्त होती है। लेकिन जो सांसारिक मामलों में आसक्त हैं उसे ऐसी शांति नहीं मिलती।।७०।।

विहाय कामान् यः सर्वान् # पुमान् चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः # स शान्तिम् अधिगच्छति।।७१।।

अनुवाद :- जिसने जीवन में सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग कर दिया हो, जिसे किसी वस्तु की इच्छा न हो, जिसमें किसी वस्तु पर ममता

यानी 'ये मेरी है, वो भी मेरी' इस तरह की मानसिकता नहीं है, जो सदैव अहंकार रहित जीवन व्यतीत करता है, वह परम शांति को प्राप्त होता है।।७१।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ # न एनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वा अस्याम् अन्तकाले अपि # ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति।।७२।।

अनुवाद :- हे पार्थ! इसे कहते हैं ब्राह्मी स्थिति यानी ब्रह्मज्ञान में अवस्थान। जब कोई इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो वह फिर कभी सांसारिक सुखों में आसक्त नहीं होता। मृत्यु के समय भी इसी अवस्था में रहकर वह ब्रह्म से एकाकार हो जाता है और इसके फलस्वरूप उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।।७२।।

।। दूसरा अध्याय समाप्त ।।

तीसरा अध्याय

कर्मयोग

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणः ते # मता बुद्धिः जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां # नियोजयसि केशव।।१।।

अनुवाद :- अर्जुन ने कहा- हे जनार्दन! यदि आपके अनुसार कर्म से बुद्धि श्रेष्ठ है तो हे केशव! आप मुझे इतना भयानक काम में क्यों लगाते हैं?।।१।।

व्यामिश्रेण इव वाक्येन # बुद्धिं मोहयसि इव मे।
तत् एकं वद निश्चित्य # येन श्रेयः अहं आप्नुयाम् ।।२।।

अनुवाद :- आप इन मिले हुये-से वचनों से मेरी बुद्धि को मानो मोह रहे हैं। कृपया मुझे केवल एक ही वात कहिये ताकि मुझे सही रास्ता मिल सके।।२।।

श्रीभगवान् उवाच

लोके अस्मिन् द्विविधा निष्ठा # पुरा प्रोक्ता मया अनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां # कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

अनुवाद :- भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा- हे शुद्धहृदय अर्जुन! मैंने पहले भी कहा है (सृष्टि के शुरुआती दिनों में और फिर अलग-अलग समय में अलग-अलग अवतारों के लिए और आज मैं तुम को बता रहा हूँ) कि इस

दुनिया में दो प्रकार की निष्ठा या योग हैं - सांख्यों के लिए ज्ञान निष्ठा और योगीयोंके लिये कर्मयोग।।३।।

व्याख्या:- संख्या शब्द का एक अर्थ है - बुद्धि। इसलिए बुद्धि से जुड़े लोगों को सांख्य कहा जाता है। और जो बुद्धि के लिए योग्य नहीं है लेकिन कर्म करने वाला है वह कर्मयोगी कहलाता है।

रामानुज कहते हैं कि जो केवल आत्मविषयक बुद्धिसे युक्त हैं, वे सांख्य हैं— ''आत्मकविषया बुदया युक्ता: सांख्या:।'' जब सांख्ययोगी प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रज: और तम के सभी गुणों से अनासक्त होते हैं, शरीर और इंद्रियों के माध्यम से अपने आप को कोई काम करने वाला नहीं मानते हैं, अहंकार, इच्छा, किसी भी काम के फल की इच्छा रहित होते हैं और पूरी तरह से सच्चिदानंदघन ब्रह्म के साथ संपूर्ण एकात्म हो जाते हैं तब योगी की उस अवस्था को ज्ञाननिष्ठा कहा जाता है। और जो सभी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मों को निष्काम भाव से करते हैं वह कर्मनिष्ठ या कर्मयोगी कहलाता है। जो विषय-बुद्धि से जुड़ा हुआ हैं, उनकी अधिकार कर्म योग में है और जिनकी बुद्धि स्थिर है अर्थात् जिनका मन विषय-बुद्धि में नहीं है, उनकी अधिकार ज्ञान योग में है।।३।।

न कर्मणाम् अनारम्भात् # नैष्कर्म्यं पुरुषः अश्नुते।
न च संन्यसनात् एव # सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

अनुवाद :- कर्म न करने पर भी नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं होती। फिर संन्यास ग्रहण करने से भी सिद्धि नहीं मिलती।।४।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् ने एक शब्द का प्रयोग किया है- 'नैष्कर्म्य'। आम बोलचाल में हम 'निष्कर्मी' शब्द सुनते हैं जो कई मामलों में अक्सर इस्तेमाल किया जाता है। 'निष्कर्मी' शब्द विशेषण है। सामान्यत:

निष्कर्मी शब्द का अर्थ निष्क्रिय, बेरोजगार आदि होता है। लेकिन श्रीमद्भगवद्गीता पाठ करने के संदर्भ में नैष्कर्म्य शब्द को इस स्थूल अर्थ में स्वीकार करना भूल होगी। श्रीमद्भगवद्गीता में नैष्कर्म्य शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया गया है, जो प्रचलित अर्थ से बिलकुल भिन्न है। श्रीमद्भगवद्गीता में नैष्कर्म्य शब्द का अर्थ योगी की एक विशेष अवस्था है जब वह सभी प्रकार की इच्छा, मोह, क्रोध, घृणा को त्याग देता है और पूरी वैराग्य के साथ अपना कर्तव्य निभाता है, तब उसके कर्म करने के लिए कोई कर्मबंधन उत्पन्न नहीं होता है। योगी की इस अवस्था को नैष्कर्म्य कहा जाता है। कर्म से ही नैष्कर्म्य प्राप्त होता है, बिना कर्म किये केवल आलस्य से समय व्यतीत करने से कोई नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं होता। जब तक शरीर में जीवन है तब तक लोगों को कुछ न कुछ ऐसा कर्म करना ही पड़ता है जो उन्हें कर्मबंधन का कारण बने। लेकिन अगर कोई पूरी तरह से वैराग्य से काम करता है, तो वह कर्मबंधन के बजाय नैष्कर्म की स्थिति को प्राप्त करेगा, जिसके परिणामस्वरूप योगी का उद्धार होगा। नैष्कर्म की स्थिति को प्राप्त करने के बाद कैसे काम किया जाए, इसका सबसे अच्छा उदाहरण ठाकुर श्रीरामकृष्णदेव हैं। उन्होंने सब कुछ किया - विवाह की, विवाह में आनंद की, अपने प्रियजनों के ध्यान रखा, अपनी पत्नी के साथ गपशप की, थिएटर देखा, जब उन्हें पता चला कि अब वे गिरीशचंद्र के घर की कचौड़ी नहीं खा सकता, तो उन्होंने एक छोटे बच्चे की तरह व्यवहार किया आदि। लेकिन उनके मन में किसी भी चीज के लिए मोह, इच्छा, लालसा, क्रोध, द्वेष नहीं थे। वे हर चीज में हैं, लेकिन कीचड़ में मछली की तरह - यह कीचड़ में होता है लेकिन शरीर पर कीचड़ नहीं लगता। इसलिए उनके कर्मबंधन नहीं होते। यह पूर्ण नैष्कर्म्य की स्थिति है। अत: जीवन का लक्ष्य मोक्ष के प्राप्यि के लिये नैष्कर्म्य की स्थिति को प्राप्त करना है और नैष्कर्म्य की स्थिति को प्राप्त करने की एकमात्र शर्त है कि निष्काम मन से कर्म किया जाए। इसलिए यदि कोई कर्म ही नहीं

करता है तो उसके लिए नैष्कर्म्य की स्थिति प्राप्त करना बिल्कुल भी संभव नहीं है। इसलिए उसका कर्मबंधन नहीं मिटता। इसलिए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि कर्म छोड़ने से नैष्कर्म्य की स्थिति नहीं होगी और मोक्ष का द्वार नहीं खुलेगा। इसीलिए उन्होंने बार-बार अर्जुन से बिना आसक्ति के युद्ध करने को कहा।।४।।

न हि कश्चित् क्षणम् अपि # जातु तिष्ठति अकर्मकृत्।
कार्यते हि अवशः कर्म # सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः।।५।।

अनुवाद :- निश्चय ही मनुष्य कर्म किए बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। सभी प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रजः और तम गुणों के प्रभाव से विवश होकर कार्य करने के लिए बाध्य हैं।।५।।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य # य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढ -आत्मा # मिथ्याचारः सः उच्यते।।६।।

अनुवाद :- जो मूढ़ मनुष्य सभी इंद्रियविषयों का स्मरण करता है परंतु हाथ, पाँव आदि पाँचों इंद्रियों को रोककर रहता है (अर्थात् जिसके मन से विषयभोग की आसक्ति नहीं छूटी) वह मूढात्मा मिथ्याचारी कहलाता है।।६।।

यः तु इन्द्रियाणि मनसा # नियम्य आरभते अर्जुन।
कर्म-इन्द्रियैः कर्मयोगम् # असक्तः स विशिष्यते।।७।।

अनुवादः- हे अर्जुन! परंतु जो मनसे ज्ञानेन्द्रियों को वश में करके आसक्ति रहित हो जाता है और कर्मेन्द्रियों के द्वारा निष्काम कर्म करता है, वह श्रेष्ठता को प्राप्त करता है।।७।।

व्याख्याः- आँख, कान, जीभ, नाक और त्वचा ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और हाथ,

पैर, मुँह, गुदा और जननांग कर्मेन्द्रियाँ हैं। यदि ज्ञानेन्द्रियों को संयमित किया जा सके तो कर्मेन्द्रियाँ मनुष्य के जीवन को दूषित नहीं कर पाएंगी और मानव जीवन सुंदर और पवित्र हो जाएगा।।७।।

नियतं कुरु कर्म त्वं # कर्म ज्यायो हि अकर्मण: ।
शरीर-यात्रा अपि च ते # न प्रसिध्येत् अकर्मण:।।८।।

अनुवाद :- आप सदैव नियत कर्म यानी शास्त्रोक्त अपने कर्तव्य का पालन करें। कर्म न करने से निश्चय ही कर्म करना अच्छा है और काम किए बिना आप अपने शरीर को बनाए नहीं रख सकते। (क्योंकि शरीर को अच्छे आकार में रखने के लिए कुछ क्रिया आवश्यक है)।।८।।

व्याख्या:- इस श्लोक में श्रीकृष्ण अर्जुन को 'नियत कर्म' करने का उपदेश देते हैं। अब यह जानना आवश्यक है कि नियत कर्म से उनका वास्तव में क्या तात्पर्य था। कई प्राचीन टीकाकारों ने 'नियत' शब्द की व्याख्या शाम की पूजा, श्राद्ध आदि क्रियाओं के अर्थ में की है। लेकिन यहाँ वह अर्थ नहीं है क्योंकि यह नहीं सोचना चाहिए कि कृष्ण अर्जुन को युद्ध के मैदान में प्रेरित करने के लिए इतने लंबे समय तक प्रयास करने के बाद अचानक उसे संध्योपासनादि (शाम की पूजा) करने के लिए प्रोत्साहित किया है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक आदि महापुरुषों ने शास्त्रों के अनुसार कर्तव्यकर्म, स्वधर्म की व्याख्या नियतकर्म के अर्थ में की है। रामानुजाचार्य गीता पर अपने भाष्य में कहते हैं कि यहाँ नियत का अर्थ है 'व्याप्त' क्योंकि कर्म प्रकृति से जुड़ी आत्मा से व्याप्त है। अनादि वासना के कारण ही आत्मा प्रकृति से जुड़ी है। अत: प्रकृति द्वारा नियंत्रित होने के कारण कर्म एक ओर तो सुखद होता है, दूसरी ओर भूल-चूक का भय नहीं रहता – ''प्रकृतिसंसृष्टत्वम् अनादिवासनया। नियतत्वेन सुशकत्वाद् असंभावितप्रमादत्वाच्च कर्मण:'' (रामानुजाचार्य)। इसलिए भगवान् कृष्ण अर्जुन से निर्धारित कर्तव्यकर्म करने

को कह रहे हैं। रामानुजाचार्य की व्याख्या अधिक स्वीकार्य प्रतीत होती है।

इस श्लोक में श्रीकृष्ण का 'अकर्म' से क्या तात्पर्य है, यह भी समझना आवश्यक है। अकर्म का अर्थ आमतौर पर अपकर्म यानी गलत कार्य, कर्मत्याग आदि होता है। तो क्या श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि बुराई करने या खाली बैठने और समय बर्बाद करने से बेहतर कर्म करना है? नहीं, ऐसा नहीं है। यहाँ हम जो कुछ भी सोचते हैं, वही गीता के प्रकाश में सोचना उचित है। हम पहले ही देख चुके हैं कि अर्जुन कृष्ण से जानना चाहते थे कि ज्ञानयोग और कर्मयोग में से कौन बेहतर है। हम पहले ही देख चुके हैं कि भगवान् कृष्ण ने पहले अर्जुन से कहा था कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए दो निष्ठाएं या मार्ग हैं - एक है ज्ञाननिष्ठा और दूसरा है कर्मनिष्ठा। ज्ञान निष्ठा का पालन करने वाले कोई काम नहीं करते, केवल ज्ञान की तलाश करते हैं। लेकिन जो कर्मनिष्ठा में विश्वास रखते हैं वे निष्काम चित्तसे काम भी करते हैं और ज्ञान अर्जन में भी शामिल रहते हैं। यहाँ अकर्म का अर्थ बुरे कर्म या आलस्य में बैठना नहीं है, इसका अर्थ है ज्ञाननिष्ठा अर्थात् नैष्कर्म यानी सभी कर्मों को त्याग कर ज्ञान प्राप्त करने का व्रत लेना। इस बात की चर्चा पहले ही की जा चुकी है कि ज्ञान योग के मामले में प्रयास को बीच में छोड़ देने से की गई प्रगति पूरी तरह से व्यर्थ हो जाती है और ठीक से न करने पर नुकसान भी हो सकता है। लेकिन कर्मयोग का अनुष्ठान जितना भी किया जाए, कर्मयोगी को उसका लाभ मिलता ही है। फिर कर्मयोगियों के कर्मों के कारण उनकी शरीर यात्रा तो सिद्ध होती है लेकिन ज्ञानियों की शरीर यात्रा भी पूर्ण नहीं होती। और यदि शरीर ही नहीं है, तो ज्ञाननिष्ठा की पूर्ति का कोई उपाय नहीं है। शरीर को कम से कम तब तक बनाए रखा जाना चाहिए जब तक कि ज्ञाननिष्ठा सिद्ध न हो जाए। फिर से, ज्ञाननिष्ठ लोगों में यह आदत पहले से नहीं होती है। इसलिए यह ज्ञाननिष्ठा उनमें नियत यानी व्याप्त नहीं है। फलस्वरूप इस मार्ग को बड़ी कठिनाई से

पूरा करना पड़ता है और इसलिए अनेक भूलों की संभावना रहती है। दूसरी ओर कर्मनिष्ठा यानी निष्काम कर्मयोग अपेक्षाकृत आसान है और गलत होने की संभावना कम है। इसलिए श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्म को अकर्म अर्थात् ज्ञाननिष्ठा से श्रेष्ठ बताया है।।८।।

यज्ञार्थात् कर्मण: अन्यत्र # लोक: अयं कर्मबन्धन:।
तत् अर्थम् कर्म कौन्तेय # मुक्त-सङ्ग: समाचर।।९।।

अनुवाद :- यज्ञ के प्रयोजन से किया गया कर्म ही वास्तविक कर्म है और अन्य प्रयोजन से किये जानेवाले कर्म ही कर्मबंधन का कारण है। इसलिए हे कौन्तेय! तुम आसक्ति से मुक्त होकर कर्म करो और यज्ञ के उद्देश्य से अपना कर्तव्य निभाओ ।।९।।

व्याख्या:- इस श्लोक में प्रयुक्त 'यज्ञ' शब्द के विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है। यज्ञ आमतौर पर वैदिक गतिविधियों को संदर्भित करता है। गीता में भी अनेक स्थानों पर वैदिक क्रिया को यज्ञ शब्द से सम्बोधित किया गया है। लेकिन विद्वानों में व्यापक असहमति है कि यहां 'यज्ञ' से क्या आशय है - वैदिक कृत्य या विष्णु। शतपथ ब्राह्मण का १/२/१३ मंत्र कहता है कि यज्ञ ही विष्णु हैं। टीकाकार सायन ने भी यज्ञ को विष्णु के रूप में स्वीकार किया। तैत्तिरीय संहिता में भी कहा गया है- यज्ञो वै बिष्णु: (१/७/४) तथा शंकराचार्य ने अपनी भाष्य में तैत्तिरीय संहिता के इस मत को स्वीकार किया और यज्ञ को विष्णु कहा- यज्ञो वै बिष्णु: इति श्रुतेर्यज्ञ ईश्वर:। लेकिन बंकिमचन्द्र महाशय का मत है कि इस श्लोक में विष्णु के अर्थ में 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। उन्होंने कहा - यज्ञ विष्णु का नाम नहीं है। क्योंकि विष्णु सर्वव्यापी हैं इसलिए यज्ञ विष्णु है। इसलिए यदि यह कहा जाए - यह यज्ञ के प्रयोजन के लिए है, तो यह स्वीकार्य नहीं है कि इसे विष्णु

के प्रयोजन के लिए मान लिया जाए। पूज्य बाल गंगाधर तिलक महाशय ने भी यहाँ 'विष्णु' को यज्ञ के अर्थ में स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा— "Yajña means all the Action (duties) prescribed for the four castes" (Śrimad Bhagavadgītā Rahasya 3/9, Tilak). उन्हौने यह भी कहा— "The meaning, which some commentators arrive at, by taking 'Yajña' to mean 'Viṣṇu' (which is a secondary interpretation) so as to explain 'Yajñārtha' as meaning for the sake of 'Viṣṇu' or `in order to dedicate it to the Parameśvara', is, according to me, a stretched and uncouth meaning. श्रीमद सच्चिदानंद भक्तिविनोद ठक्कुर ने 'यज्ञ' शब्द की बहुत सुंदर व्याख्या की है— "हरितोशनार्थ निष्काम-कर्म को 'यज्ञ' कहते हैं।"

इन सभी चर्चाओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि कर्म एक प्रकार का यज्ञ ही है और मेरे विचार से क्योंकि भगवान् कृष्ण निष्काम कर्मयोग के प्रतिपादक हैं, उन्होंने इस श्लोक में 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग मनुष्य के निष्काम कर्म के अर्थ में किया है। चूँकि अर्जुन को इस बात का संदेह है कि यदि वे युद्ध करेगा तो क्या वे पाप का भागी होगा, और जिस तरह यज्ञ में दी गई आहुति (आज्य, घृत) अंगारे में ज्वल जाती है और चढ़ाए गए में से कुछ भी नहीं रहता है इसी प्रकार निष्काम कर्म भी अपने अंदर के समस्त पापों को भस्म कर देता है और उस कर्म को निष्पाप, निर्मल और पवित्र बना देता है, और चूँकि सभी कर्म अंत में भगवान् कृष्ण की शरण में जाते हैं, भगवान् कृष्ण यहाँ निष्काम कर्म यज्ञ करने की सलाह देते हैं जो अन्यथा विष्णु के लिए किया जाता है, और चूँकि कृष्ण विष्णु के अवतार नहीं हैं, वे स्वयं विष्णु हैं, इसलिए कृष्ण और विष्णु एक हैं और इसलिए विष्णु के लिए किया गया कार्य भगवान् कृष्ण लिए ही किया जाता है। तो यहाँ भगवान्

कृष्ण अर्जुन को वेदों द्वारा निर्धारित यज्ञ करने की सलाह नहीं दी है बल्कि निष्काम मनसे युद्ध करके अपना कर्तव्य निभाने की सलाह दी है ।।९।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा # पुरा उवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम् # एष वः अस्तु इष्ट-कामधुक्।।१०।।

अनुवाद :- पुराकाल में अर्थात् सृष्टि के प्रारंभ में प्रजापति नारायण प्रजाको रचना की और इसकी रक्षा और परिचालित करने के लिये यज्ञ अर्थात् कर्मनीति की सृष्टि की और कहा- इस कर्मनीति का पालन करने से तुम्हारी वृद्धि और मनोकामनाएं पूर्ण हो।।१०।।

व्याख्याः- इस श्लोक में वर्णित प्रजापति शब्द का ठीक-ठीक अर्थ जानना आवश्यक है। प्रथमतः, प्रजापति शब्द आम तौर पर ब्रह्मा को संदर्भित करता है। लेकिन यहाँ प्रजापति का तात्पर्य ब्रह्मा से नहीं बल्कि नारायण से है। यहाँ प्रजा का अर्थ है 'सृष्टि' और 'पति' का अर्थ है रक्षक। अतः प्रजापति शब्द का अर्थ है— इस समस्त सृष्टि के रक्षक। लेकिन ब्रह्मा सभी के रक्षक नहीं हैं; उन्होंने खुद को बचाने के लिए भगवान् विष्णु यानी नारायण की शरण ली। यहां एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ प्रजापति को ब्रह्मा नहीं कहा गया है। अतः यह स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है कि यहाँ प्रजापति का अर्थ ब्रह्मा नहीं अपितु विष्णु का संकेत है। यहाँ कई टीकाकार ब्रह्मा को प्रजापति मानते हैं, लेकिन यह सही नहीं है। अमरकोश के अनुसार 'प्रजा' शब्द का अर्थ अधीनस्थ और संतान होता है। ब्रह्मा इस भौतिक संसार के निर्माता नहीं हैं, बल्कि नारायण इस भौतिक संसार के निर्माता हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है - "स विश्वकृत् इति" (६/१६) अर्थात् नारायण इस संसार के स्वामी हैं और नारायण ने ही ब्रह्मा की रचना की। श्वेताश्वतर उपनिषद और भी कहता है- "यो ब्रह्माणं

विदधाति पूर्वं" (६/१८) अर्थात् उन्होंने सृष्टि से पहले ब्रह्मा की रचना की। तो यह भौतिक संसार ब्रह्मा का प्रजा नहीं हो सकता है, यह भौतिक संसार इसके निर्माता भगवान् विष्णु नारायण का प्रजा है और इसलिए यहाँ 'प्रजा' शब्द नारायण द्वारा बनाए गए जीवों को संदर्भित करता है। विभिन्न ग्रंथों जैसे श्रुति, वेद, पुराण आदि में नारायण को 'प्रजापति' शब्द से जाना जाता है। कृष्ण को महाभारत में प्रजापति के रूप में भी जाना जाता है - ज्येष्ठ: श्रेष्ठ: प्रजापति: (अनुशासन पर्व)।

श्रीमद्भागवत महापुराण में शुकदेवजी श्रीकृष्ण को प्रजापति सहित विभिन्न रूपों में पति के रूप में संदर्भित करते हैं -

श्रिय: पतिर्यज्ञपति: प्रजापति-
र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापति:।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पति:।। (२।४।२०)

अर्थात् वह लक्ष्मी के पति हैं, समस्त ऐश्वर्य के पति यानी स्वामी हैं, यज्ञपति हैं, प्रजापति हैं, प्राणियों के पति यानी मालिक हैं आदि।

रामानुजाचार्य अपने भाष्य में कहते हैं - "श्रुते: निरुपाधिक: प्रजापतिशब्द: सर्वेश्वरं विश्वस्रष्टारं विश्वात्मानं परायणं नारायणम्" इति (गीताभाष्य ३/१०)। अर्थात् श्रुतिप्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि इस श्लोक में प्रजापति शब्द जगत् के रचयिता परम आश्रय सर्वेश्वर नारायण को संदर्भित करता है। अत: प्रजापति शब्द का वास्तविक अर्थ ब्रह्मा नहीं बल्कि नारायण है।

दूसरे, यहाँ 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया गया है। यज्ञ का अर्थ हमेशा काष्टादि ज्वलाने का वैदिक कर्मकांड नहीं होता, यज्ञ अन्य प्रकार के भी होते हैं जैसे दानयज्ञ अर्थात् दानका समारोह, नामयज्ञ अर्थात् कृष्ण के नाम का जाप करने का समारोह आदि। इस श्लोक में यज्ञ आचरण के

नियम को संदर्भित करता है न कि वेदोक्त अनुशासन को। वास्तव में, यदि किसी संगठन को कैसे चलाया जाता है, इस पर कोई नियम नहीं हैं, तो संगठन का विनाश अपरिहार्य है। इसलिए संसार की रचना से पूर्व भगवान् नारायण ने इसके समुचित प्रबंधन के नियम भी बनाए।।१०।।

देवान् भावयत अनेन # ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः # श्रेयः परम् अवाप्स्यथ।।११।।

अनुवाद :- इस यज्ञ अर्थात् कर्म के आचरण के नियमों से आप देवताओं को प्रसन्न करते रहिये। वे देवता आपको भी पोषण करें। इस प्रकार एक-दूसरे को प्रसन्न करने से आप दोनों परम कल्याण (मोक्ष) प्राप्त करेंगे।।११।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि देवता और मनुष्य एक दूसरे की सहायता करके इस सृष्टि के सौंदर्य और वैभव को बनाए रखेंगे। लेकिन देवता और मनुष्य एक दूसरे को कैसे प्रसन्न कर सकते हैं इस पर कुछ चर्चा की आवश्यकता है। इसके बारे में एक पौराणिक कथा है। एक समय की बात है। किसी क्षेत्र में एक योगी प्रतिदिन अपने शिष्यों को गीता का पाठ किया करता था। एक दिन जब वह इस श्लोक का पाठ और व्याख्या कर रहा था, तो एक शिष्य ने पूछा कि देवता और मनुष्य एक दूसरे को कैसे प्रसन्न कर सकते हैं क्योंकि यह मनुष्य का कर्तव्य है कि वे देवताओं को प्रीत करें। उस शिष्य की बात सुनकर और कई शिष्य उस शिष्य की बात से सहमत हो गए। गुरुदेव ने उन्हें अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया, परंतु शिष्य गुरुदेव की बात से सहमत न हो सके। कुछ दिनों बाद, गुरुदेव ने अपने आश्रम में एक पूजा का आयोजन किया और सभी शिष्यों को दोपहर में प्रसाद ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया। सभी शिष्य निर्दिष्ट समय पर आश्रम में पहुंचे और देखा कि प्रसाद ग्रहण करने के लिए शिष्यों को आमने-सामने बैठने के लिए गुरुदेव द्वारा आसनों की दो पंक्तियों की

व्यवस्था की गई थी और प्रत्येक पत्ते के बगल में डेढ़ हाथ लंबा एक चम्मच रखा हुआ था। गुरुदेव ने उन सबसे कहा कि सभी लोग इसी चम्मच से प्रसाद ग्रहण करें। सब लोग प्रसाद लेने बैठे और देखा कि इतने बड़े चम्मच से ठीक से प्रसाद ग्रहण करना संभव नहीं है। जब उन्होंने अपनी दुर्दशा के बारे में गुरुदेव को बताया, तो गुरुदेव ने उनमें से प्रत्येक को उस चम्मच से अपने पत्ते से प्रसाद लेने और सामने वाली पंक्ति के शिष्यों को खिलाने के लिए कहा। गुरुदेव की बात मानकर सबने देखा कि इस प्रकार सबने बड़े ही सुंदर ढंग से प्रसाद ग्रहण किया। तब सभी शिष्यों ने गुरुदेव के चेहरे की ओर देखा और उनके चेहरे पर मधुर मुस्कान देखी, और सभी शिष्य समझ गए कि देवता और मनुष्य एक दूसरे को कैसे प्रीत कर सकते हैं। उन सबने यह अनुभव किया कि यदि वे देवताओं के चेहरों पर मुस्कान लाने के लिये अच्छे कर्म करेंगे तो देवता भी उनके चेहरों पर मुस्कान लायेंगे, यदि मनुष्य देवताओं को भोग लगायेंगे तो देवता भी उनके लिये उचित भोजन की व्यवस्था करेंगे।।११।।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा # दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैः दत्तान् अप्रदायेभ्यो # यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

अनुवाद :- निश्चय ही इस यज्ञ से देवता प्रसन्न होंगे और तुम्हें मनोवांछित भोग देंगे। जो कोई इन दी हुई वस्तुओं को इन देवताओं को चढ़ाए बिना भोगता है, वह निश्चय ही चोर है।।१२।।

यज्ञ-शिष्ट-अशिनः सन्तो # मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते तु अघं पापा # ये पचन्ति आत्मकारणात् ।।१३।।

अनुवाद :- यज्ञ से बचे हुए भोजन करने से सज्जन लोग सब पापों से मुक्त हो जाते हैं परंतु जो पापी अपने लिए भोजन पकाते हैं वे पाप भोगते हैं।।१३।।

व्याख्या:- यहां कहा गया है कि जो यज्ञ के बचे हुए प्रसाद को खाकर जीवन यापन करते हैं, वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि वास्तव में इसका क्या अर्थ है। सावधानीपूर्वक समीक्षा करने से शास्त्रों के एक बहुत अच्छे और महान चरित्र का पता चलता है। विधाता जब संसार की रचना की तो उन्होंने मनुष्यों के लिए कर्मों भी बनाया और उन सभी कर्मों को करनेके माध्यम से लोगों को शुभ कर्मों के पथ पर आगे बढ़ने की सलाह दी। परंतु निरंतर कर्म करते रहने के चक्कर में गृहस्थ जाने-अनजाने में अनेक प्रकार के पाप जैसे चींटियां, कीड़े, पतंगे आदि प्राणि हत्या कर बैठता है। शास्त्रों की ऐसी सूक्ष्म और चौकस दृष्टि है कि मनुष्य को इन सब पापों के हाथ से कैसे दूर रखा जाए, इस पर ठीक से विचार करने में शास्त्र असफल नहीं हुए हैं। शास्त्रों में मान्यता है कि मनुष्य पांच प्रकार के पाप में पड़ सकता है। मनुसंहिता (३/६८) में कहा गया है -

पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषन्युपस्कर:।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्।।

अर्थात् चूल्हा, जाँता, सिलबट्टा, खाना पकाने के बर्तन, ऊखल, मुशल, ढेंकी, लोढ़ा, पानी का घड़ा ये प्राणिहत्या के स्थान हैं लेकिन घरेलू जीवन के लिए ये बहुत आवश्यक हैं। इसके उपयोग के लिए गृहस्थों को पाप न हो इसके लिए मनुसंहिता (३/७०-७१) पाँच प्रकार के यज्ञों की संस्तुति करती है जिन्हें यदि नियमित रूप से पालन किया जाए तो गृहस्थ घर में रहते हुए भी इस प्रकार के पापों में लिप्त नहीं होता-

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञ: अथिथिपूजनम्।।
पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तित:।
स गृहे अपि वसन् नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।।

अर्थात् ब्रह्मयज्ञ - वेदों का अध्ययन और अध्यापन, पितृयज्ञ - जल और खाद्य पदार्थों से पितरों का तर्पण, देवयज्ञ - अग्नि में घी, चरु आदि की आहुति देकर होम, भूतयज्ञ - देवताओं को पशुबलि, नृयज्ञ - आतिथ्य।

लेकिन जो गृहस्थ नहीं हैं उन्हें अपनी आजीविका के लिए भी भोजन की आवश्यकता होती है। इसलिए ऐसे पापों से यथासंभव बचने के लिए गीता कहती है कि उन्हें यज्ञों के बचे हुए भोजन पर ही जीवन यापन करना चाहिए। तब उन्हें गृहस्थों जैसी उन वस्तुओं की आवश्यकता नहीं रहेगी। नतीजतन, उनके द्वारा प्राणीयों की हत्या की संभावना भी कम हो जाएगी। चूंकि यज्ञ के लिए पकाया गया भोजन भगवान् को अर्पित किया जाता है, इसलिए संत यज्ञ के बचे हुए हिस्से को प्रसाद के रूप में ग्रहण करते हैं, और क्योंकि वह प्रतिदिन आग जलाने से परहेज करते हैं, पाप उन्हें छू नहीं सकता है। लेकिन जो लोग केवल अपने लिए खाना बनाते हैं उन्हें लगातार तरह-तरह की हत्याओं में शामिल होना पड़ता है। नतीजतन, उन्हें अनंत पापों को साझा करना पड़ता है। मनुसंहिता (३/११८) में हम यह भी सुनते हैं–

अघं स केवलं भुङक्ते पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते।।

अर्थात् जो केवल अपने उपभोग के लिए ही भोजन बनाता है, वह पाप ही भोजन करता है। इसी कारण से संतों के सेवन के लिए पंच यज्ञों से बचा हुआ भोजन ग्रहण करने का प्रावधान है।

निश्चय ही यह बात वर्तमान युग के लोगों के लिए हास्यास्पद है। लेकिन बड़े-बड़े शास्त्रों ने अपना काम किया है, लोग मानें या न मानें, इससे शास्त्रों को कोई फर्क नहीं पड़ता। सुगंधित पुष्प उत्पन्न करने वाले वृक्ष और लताएँ सुगंधित फूल उत्पन्न करेंगी। यदि किसी व्यक्ति को इसकी सुगंध प्राप्त हो जाती है, तो वह भाग्यशाली है, लेकिन यदि कोई इसे प्राप्त नहीं करना चाहता

है, तो यह उसका दुर्भाग्य है, इससे वृक्ष को कोई नुकसान नहीं होता है ।।१३।।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि # पर्जन्यात् अन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो # यज्ञः कर्म-समुद्भवः।।१४।।

अनुवाद :- अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है, मेघ से अन्न की उत्पत्ति होती है, यज्ञ से मेघ की उत्पत्ति होती है और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है।।१४।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि # ब्रह्म-अक्षर-समुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म # नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

अनुवाद :- जानो कि ब्रह्म अर्थात् प्रकृति का परिणामरूप शरीर से कर्म उत्पन्न होता है। यह ब्रह्म अक्षर यानी जीवत्मा से बना है। इसीलिए सर्वगत ब्रह्म अर्थात् शरीर सदैव यज्ञमें प्रतिष्ठित है।।१५।।

व्याख्याः- इस श्लोक में प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में व्यापक मतभेद है। अनेक भाष्यकारों ने इस श्लोक में प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ वेद, ब्रह्म, परमात्मा आदि माना है। श्रीमत् श्रीधरस्वामी, गीताशास्त्री जगदीशचन्द्र घोष प्रमुख भाष्यकारों ने इस श्लोक में प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द को वेद के अर्थ में लिया है। लेकिन दूसरे उससे असहमत हैं। उनके अनुसार यहाँ 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ प्रकृति से उत्पन्न शरीर है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है - "तस्मात् एतत् ब्रह्म नामरूपम अन्नं च जायते" (१/१/९)। अर्थात् उस सर्वज्ञ अर्थात् ब्रह्म से ब्रह्म, नाम, रूप और अन्न की उत्पत्ति होती है। अब 'ब्रह्म से ब्रह्म उत्पन्न होता है' यह कथन आसानी से बोधगम्य नहीं

है। भाष्यकार शंकराचार्य ने इस बात को बहुत स्पष्ट किया है- "सर्वज्ञात् एतत् उक्तं कार्यलक्षणं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं जायते। किं च नाम असौ - देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादि लक्षणम्, रूपमिदं शुक्लं नीलमित्यादि, अन्नं च ब्रीहियवादिलक्षणं जायते।" अर्थात् इस मंत्र के पहले आठवें मंत्र में वर्णित सर्वज्ञ से हिरण्यगर्भ कार्यब्रह्म उत्पन्न होते हैं और वहाँ से देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नाम, शुक्ल, नील आदि रूप, बृहि, जौ आदि अन्न उत्पादित है। तो शंकराचार्य की व्याख्या के अनुसार इस ब्रह्मका वास्तव में अर्थ कार्यब्रह्म है। फिर, यहाँ हिरण्यगर्भ शब्द का अर्थ प्राण है और प्राण का आसन शरीर है। अत: श्रुति के अनुसार इस श्लोक में ब्रह्म शब्द का प्रयोग वेद के अर्थ में नहीं हुआ है बल्कि प्राणमय शरीर के अर्थ में हुआ है। ऋषि अरविंद के अनुसार, इस श्लोक में प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है - 'सगुण ब्रह्म - भौतिक जगत् में सभी क्रियाओं का निर्माता और प्रवर्तक - प्रकृति में सक्रिय मनुष्य।' श्रुति के अनुसार ब्रह्म शब्द का वास्तविक अर्थ शरीर है जो प्रकृति का परिणाम है। रामानुजाचार्य गीता पर अपनी टिप्पणी में इस श्लोक में प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द को 'प्रकृति के परिणामरूप शरीर' के रूप में लेने की वकालत करते हैं– "अत्र ब्रह्मशब्दनिर्दिष्टं प्रकृतिपरिणामरूपशरीरम्" (श्रीरामानुजभाष्य ३/१५)। इसी प्रकार बाल गंगाधर तिलक ने भी रामानुज के इस मत को स्वीकार किया - Therefore, The meaning of the word 'Brahman', given in the Rāmānujabhāṣya, consistently with its meaning in the stanza "mama yonir mahat brahma (GI. 14.3), (where it means Prakṛiti) namely, `Prakṛi', which is the Fundamental Subsistance of the world' appeals to me as better. (Gītā - Rahasya or Karma-Yoga 3/15, B. G. Tilak)।।१५।।

एवं प्रवर्तितं चक्रं # न अनुवर्तयति इह यः।

अघायुः इन्द्रियारामो # मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

अनुवादः- हे पार्थ! जो व्यक्ति इस तरह के प्रचलित संसार-चक्र के अनुसार नहीं रहता है वह व्यक्ति इंद्रिय सुखों में आसक्त रहता है और पापी है। उसका जीवन व्यर्थ है।।१६।।

यः तु आत्मरतिः एव स्यात् # आत्मतृप्तः च मानवः।

आत्मनि एव च सन्तुष्टः # तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

अनुवाद :- परंतु जो मनुष्य केवल आत्मा में आसक्त है, आत्मा में ही संतुष्ट है, और आत्मा में ही तृप्त है, उसका अपना कोई कर्तव्य नहीं है।।१७।।

व्याख्याः- जो व्यक्ति यह सोचता है कि वही सब कुछ करता है, उसके कार्यों में अत्यधिक अहंकार रहता है। आत्मदंभ से भरा हुआ इस प्रकार का कर्म सकाम कर्म की श्रेणी में आता है और क्योंकि उसके हृदय से आत्म-अहंकार दूर नहीं होती, वह कर्म से बँधा रहता है और ईश्वर से मिलन का मार्ग उसके लिए खुला नहीं रहता। नतीजतन, उसके लिए ब्रह्मपद, यानी मोक्ष प्राप्त करने का कोई रास्ता नहीं है। लेकिन जिसने अपने सभी कार्यों को परमात्मा को समर्पित कर दिया है वह हमेशा सोचता है कि वह कुछ भी नहीं करता है, वह जो कुछ भी करता है वह स्पष्ट रूप से परमात्मा द्वारा किया जाता है। वह निमित्त मात्र है। नतीजतन, सकाम कार्यकर्ताओं की तरह उसके पास करने के लिए अपना कोई काम नहीं है। उसके लिए सभी कार्य परम भगवान् के कार्य हैं। फलत: किसी भी कार्य को करने के पीछे उसका कोई

स्वाभिमान नहीं होता और उसके सभी कर्म निष्काम कर्म माने जाते हैं और इस कारण वह अक्षय ब्रह्मपद को प्राप्त करता है।

कोई व्यक्ति निष्काम कर्मों से युक्त होकर अविनाशी ब्रह्मपद प्राप्त करने के योग्य कैसे बन सकता है, इसका एक उदाहरण महाभारत से उद्धृत किया जा सकता है। युधिष्ठिर एक पूर्णतः निष्काम पुरुष थे, जीवन के सभी पहलुओं, व्यक्तिगत अच्छे और बुरे, सुख और दुःख, आनंद और लाभ के प्रति उदासीन थे। राजसूय यज्ञ पूर्ण सकाम कर्म है। फिर भी उन्होंने राजसूय यज्ञ किया और यह उन्होंने किसी आत्मसंतुष्टि या खुशी के लिए नहीं किया। उन्होंने भगवान् कृष्ण की सलाह पर, विशुद्ध रूप से शाही कर्तव्य के आह्वान पर, शुद्ध ह्रदय से राजसूय यज्ञ किया। महाभारत में द्रौपदी की शिकायत के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा था -

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत।
ददामि देयमित्येव यज्ञे यष्टव्यमित्युत।।

वनपर्व ३१/२

अर्थात् वे कर्मफल की इच्छा से कोई कर्म नहीं करते, वे दान करते हैं क्योंकि दान कर्तव्य है और यज्ञ करना कर्तव्य है इसलिये वे यज्ञ करते हैं।।१७।।

नैव तस्य कृतेन अर्थो # न अकृतेन इह कश्चन।
न च अस्य सर्वभूतेषु # कश्चित् अर्थ-व्यपाश्रयः।।१८।।

अनुवाद :- जो ऐसे आध्यात्मिक आनंद में लीन है उन्हें इस संसार में कोई कर्तव्य करने की आवश्यकता नहीं है। फिर उन्हें अपने कर्तव्यों से विरत होने की कोई आवश्यकता नहीं है और उन्हें ब्रह्मांड में किसी की शरण लेने की कोई आवश्यकता नहीं है।।१८।।

व्याख्या:- इस श्लोक में पहले कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जो आत्मानंद में लीन हैं, उनके लिए कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तब अर्जुन को लग सकता है कि उन्हें लड़ने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन जैसे ही कृष्ण ने उन्हें बताया कि कर्तव्य छोड़ने का कोई मतलब नहीं है तब मामला अर्जुन को विरोधाभासी और संदिग्ध लगता है। लेकिन इस श्लोक के बाहरी अर्थ के पीछे कृष्ण ने अर्जुन को एक सीख दी। उनका कहना है कि भले ही अर्जुन युद्ध न करे, परिणाम वही होगा क्योंकि कालचक्र के अव्यर्थ प्रभाव के तहत, हर कोई जो उनके सामने खड़ा है वह एक दिन देहांतर प्राप्त करेगा। इसलिए अर्जुन को उनकी मात्र मृत्यु के लिए लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन अगर अर्जुन युद्ध नहीं करते हैं तो ये सभी आततायी कम से कम और कुछ समय के लिए अपनी दुष्टता जारी रख सकते हैं जो समाज के लिए हानिकारक होगा। इसीलिए कृष्ण ने अर्जुन को एक निष्काम हृदय से युद्ध करने की सलाह दी। यहाँ श्रीकृष्ण का समस्त मानव समाज को उपदेश है कि होने वाली हानि की आशंका के कारण कार्य से विमुख होने की अपेक्षा सक्षम व्यक्तियों द्वारा मानव जाति के कल्याण के लिए कुछ अच्छे कार्य करना बेहतर है।।१८।।

तस्मात् असक्तः सततं # कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो हि आचरन् कर्म # परम् आप्नोति पूरुषः।।१९।।

अनुवाद :- इसलिए सदा आसक्तिरहित होकर कर्तव्य का पालन करो। निश्चय ही अनासक्त कर्म करने से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है।।१९।।

कर्मणा एव हि संसिद्धिम् # आस्थिता जनकादयः।
लोक-संग्रहम् एव अपि # संपश्यन् कर्तुम् अर्हसि।।२०।।

अनुवाद :- जनक जैसे राजाओं ने कर्म से ही सिद्धि प्राप्त की। इसलिए लोकरक्षा पर दृष्टि रखते हुए अपना कर्तव्य निभाना चाहिए।।२०।।

व्याख्या:- श्रीकृष्ण यहाँ राजा जनक को आदर्श कर्मयोगी बताते हैं। अब, राजा जनक किस प्रकार के कर्मयोगी थे इसे समझाने के लिए यहाँ राजा जनक के बारे में एक उपाख्यान प्रस्तुत करना आवश्यक है। एक बार व्यासदेव ने अपने पुत्र शुकदेव को उपदेश के लिए राजा जनक के पास भेजा। शुकदेव जनक राजा के पास आकर बैठ गए। राजा जनक उस समय सामने बैठे शिष्यों को उपदेश दे रहे थे। जनक को पता नहीं था कि शुकदेव आ गए हैं। शुकदेव यह सोच कर बैठे थे कि राजा जनक तो संसारी हैं पर वे एक सर्वत्यागी संन्यासी हैं। फिर उनके पिता ने उन्हें संसारी जनक से उपदेश लेने क्यों भेजा। उस समय शुकदेव ने देखा कि अचानक आग लग गई है और लपटें तेजी से उनकी ओर आ रही हैं। यह दृश्य देखकर शुकदेव को चिंता हुई कि कहीं उनकी कौपीन आग में भस्म न हो जाए। तब शुकदेव की व्याकुलता देखकर राजा जनक ने शांत भाषा में शुकदेव से कहा- बेटा! तुम अपने छोटे से लंगोटी के लिए इतना चिंतित क्यों हो रहे हो? मैं राजा हूँ। देखो मेरी कितनी दौलत आग से भस्म हो रही है। मेरा दिल इतना बेचैन कभी नहीं हुआ! ऐसा कहकर राजा जनक ने फिर शांत मन से अपने शेष उपदेशों में मन लगाया।

यह उपाख्यान सिद्ध करता है कि कर्म-योगी राजा जनक महान निरासक्त कर्मयोगी थे और इसीलिए उन्होंने संसारी होते हुए भी मोक्ष प्राप्त किया।।२०।।

यत् यत् आचरति श्रेष्ठः # तत् तत् एव इतरो जनः।

स यत् प्रमाणं कुरुते # लोकः तत् अनुवर्तते।।२१।।

अनुवाद :- श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करते हैं, सामान्य लोग वैसा ही आचरण करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष जो भी प्रमाण मान लेता है, सामान्य लोग उसी का अनुसरण करते हैं।।२१।।

न मे पार्थ अस्ति कर्तव्यं # त्रिषु लोकेषु किञ्चन।

न अनवाप्तम् अवाप्तव्यं # वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

अनुवाद :- हे पार्थ! स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल इन तीनों लोकों में मेरा किसी प्रकार का कोई कर्तव्य नहीं है। फिर ऐसा कुछ भी नहीं है जो मुझे प्राप्त नहीं हुआ है या मुझे प्राप्त होना है। फिर भी मैं अनिवार्य रूप से सभी कार्यो से जुड़ा हुआ हूँ ।।२२।।

यदि हि अहं न वर्तेयं # जातु कर्मणि अतन्द्रितः।

मम वर्त्म अनुवर्तन्ते # मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

अनुवाद :- हे पार्थ! यदि मैं सजग रहकर निरंतर कर्म नहीं करूँगा तो लोग सब प्रकार से मेरे मार्ग पर चलेंगे अर्थात् वे भी कुछ नहीं करेंगे।।२३।।

उत्सीदेयुः इमे लोका # न कुर्यां कर्म चेत् अहम्।

संकरस्य च कर्ता स्याम् # उपहन्याम् इमाः प्रजाः।।२४।।

अनुवाद :- यदि मैं अपना कर्तव्य न करूँ तो ये सब लोक नष्ट हो जाएँगे और मैं वर्णसंकर का कारण बन जाऊँगा और ये सब प्रजाओंका नाश हो जाएँगे।।२४।।

सक्ताः कर्मणि अविद्वांसो # यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्यात् विद्वान् तथा असक्तः # चिकीर्षुः लोकसंग्रहम् ।।२५।।

अनुवाद :- हे भरत कुल के अर्जुन! जिस प्रकार कर्मों में आसक्त अज्ञानी लोग कर्म करते हैं, उसी प्रकार लोक-कल्याण की इच्छा रखने वाले ज्ञानी पुरुष को भी आसक्ति को त्यागकर वैसा ही कर्म करना चाहिए ।।२५।।

न बुद्धिभेदं जनयेत् # अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत सर्वकर्माणि # विद्वान् युक्तः समाचरन्।।२६।।

अनुवाद :- ज्ञानीजनों को अपने कर्मों के फल में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम पैदा नहीं करना चाहिए। अनासक्त ज्ञानीजन सब कुछ भली-भाँति जानते हुए कर्म करें और अज्ञानियों को कर्म से जोड़ें।।२६।।

व्याख्याः- इस श्लोक का अर्थ थोड़ा स्पष्ट समझने की आवश्यकता है। यहाँ कहा गया है कि ज्ञानियों को कर्मों में आसक्त अज्ञानियों के बीच कभी बुद्धि में भ्रम पैदा नहीं करना चाहिए, अर्थात् उन्हें भ्रमित नहीं करना चाहिए। हमें स्पष्ट रूप से समझने की कोशिश करनी चाहिए कि श्रीकृष्ण के कहने का वास्तव में क्या आशय था कि ज्ञानियों को अज्ञानियों के बीच बुद्धि में भ्रम पैदा नहीं करना चाहिए। कृष्ण को हम पहले ही कहते सुन चुके हैं कि बड़े जो करते हैं, आम आदमी उसी का अनुसरण करता है। अब, अर्जुन होनेवाला आसन्न युद्ध की भयावहता को मानते हुए, युद्ध को त्याग देने और तपस्या करने और भिक्षा का जीवन जीने की इच्छा व्यक्त करती हैं। अर्जुन निस्संदेह महानतम पुरुषों में से एक हैं। वे कई लोगों के लिए एक आदर्श हैं। ऐसे में यदि अर्जुन संन्यास लेना उचित समझते हैं तो अन्य सामान्य लोग

घर के कामों को छोड़कर संन्यास लेने की ओर प्रवृत्त होंगे। इसे ही उनका बुद्धि में भ्रम कहा जाता है। श्रीकृष्ण ने कभी नहीं कहा कि संन्यास ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। तब सामान्य सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। उनका उपदेश है कि संन्यास लेकर कर्म का त्याग करने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य संसार में भी बिना आसक्ति के सभी कर्तव्यों का पालन करते हुए संन्यासी जीवन के आदर्श को पूरा कर सकता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को समाज के प्रति अपने कर्तव्य के रूप में नि:स्वार्थ रूप से लड़ने की उपदेश दी।।२६।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि # गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार-विमूढ-आत्मा # कर्ता अहम् इति मन्यते।।२७।।

अनुवाद :- सत्त्व, रज और तमः इन तीन गुणों के प्रभाव से सब कर्म ही स्वतः संपन्न होते हैं। लेकिन जो व्यक्ति अज्ञानी, अहंकारी, मूढात्मा है वह सोचता है- 'मैं ही उन चीजों को स्वयं करनेवाला हुँ'।।२७।।

तत्त्ववित् तु महाबाहो # गुणकर्म-विभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त # इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

अनुवाद :- परंतु हे महाबाहो! गुण और कर्म की दो श्रेणियों के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले सभी ज्ञानी लोग जानते हैं कि ये तीन गुण अपने आप में निरंतर खेल रहे हैं, अर्थात् क्रियाएं उनके प्रभाव में की जाती हैं और कार्यों को करने में किसी और की कोई भूमिका नहीं होती है। इस सत्य को जानने के बाद ज्ञानी पुरुष किसी वस्तु में आसक्त नहीं होते।।२८।।

प्रकृतेः गुण-संमूढाः # सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तान् अकृत्स्नविदो मन्दान् # कृत्स्नवित् न विचालयेत् ।।२९।।

अनुवादः- मंद बुद्धि के लोग प्रकृति के गुणों में आसक्त होकर इंद्रियों में आसक्त हो जाते हैं। उन मंदबुद्धि अज्ञानियों को ज्ञानी पुरुष विचालित न करे ।।२९।।

व्याख्याः- यहाँ भगवान् यह कहना चाहते हैं कि अल्पबुद्धि मनुष्य प्रकृति के गुणों पर आसक्त होकर इंद्रियों में आसक्त हो जाता है और उसमें प्रभु की भक्ति का मन या इच्छा नहीं रहती। किंतु जो ज्ञानी हैं वे प्रकृति के गुणों से मोहित नहीं होते। उनका उत्तरदायित्व है उन सभी अल्पबुद्धि लोगों को ईश्वर की भक्ति के मार्ग पर आकर्षित करना। लेकिन भगवान् कहते हैं कि अगर उन्हें अचानक इस रास्ते पर धकेल दिया जाए तो वे उत्तेजित हो जाएंगे और इसका उल्टा असर होगा। इसलिए उन सर्वज्ञ व्यक्तियों को यह रणनीतिक ढंग से करना होगा। उदाहरण के लिए, यदि बहुत अधिक शराब पीने के आदी व्यक्ति को शराब पीना छुड़ाना है तो एक दिन में अचानक ऐसा करने की कोशिश करना नहीं चाहिए क्योंकि शराबी व्यक्ति बहुत परेशान और क्रोधित हो सकता है और कुछ भयानक कर सकता है। नतीजतन, उसे पीने से रोकने के प्रयास विफल हो जाएंगे। इसलिए धीरे-धीरे उसे शराब पीने के नुकसान और शराब न पीने के फायदों के बारे में अच्छी तरह से अवगत करा देना चाहिए। फिर धीरे-धीरे वह व्यक्ति एक दिन शराब पीना छोड़ देगा। इसी प्रकार विषय-सुखों में अत्यधिक आसक्त तामस व्यक्ति के हृदय को निषिद्ध कर्मों से विरत रहने और शास्त्रोक्त कर्मों के द्वारा भगवद्भक्ति के पथ पर अग्रसर होने के लिए धीरे-धीरे प्रेरित करना चाहिए। फिर धीरे-धीरे वह

व्यक्ति एक दिन पाप के रास्ते से हटकर भक्ति के बेहतर मार्ग पर आगे बढ़ेगा। लेकिन अगर यह बहुत जल्दबाजी के साथ किया जाता है, तो वह व्यक्ति बहुत परेशान हो जाएगा और उसे कभी भी सही रास्ते पर नहीं लाया जाएगा। इसलिए भगवान् कहते हैं कि कोई भी शुभ कार्य आवश्यकता से अधिक उत्साह से नहीं करना चाहिए ।।२९।।

मयि सर्वाणि कर्माणि # संन्यस्य अध्यात्मचेतसा।
निराशीः निर्ममो भूत्वा # युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।

अनुवाद :- सब कर्म भगवान् के हैं और मैं उनका दास हूँ, इसी अध्यात्म-चेतना से प्रेरित होकर, समस्त कर्मों को मुझमें समर्पित करके, आशा, आसक्ति से रहित अर्थात् 'मेरा मेरा' भाव त्यागकर शोक-संताप से मुक्त होकर युद्ध करें ।।३०।।

ये मे मतम् इदं नित्यम् # अनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तः अनसूयन्तो # मुच्यन्ते ते अपि कर्मभिः।।३१।।

अनुवाद :- जो मनुष्य मेरे इन उपदेशों का भक्तिपूर्वक और ईर्ष्यारहित हृदय से अहर्निश पालन करते हैं, वे भी समस्त कर्म बंधनों से मुक्त हो जाते हैं।।३१।।

व्याख्या:- इस श्लोक के अंतर्निहित अर्थ को समझने के लिए इस श्लोक में प्रयुक्त 'अनसूया' शब्द के अर्थ पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अत्रि स्मृति 'अनसूया' शब्द की विशेषता बताते हुए कहती हैं -

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति च अन्यान् गुणान् अपि।
न हसेच्चान्यदोषांश्च साऽनुसूया प्रकीर्तिता।।

अत्रिस्मृति – ३७

अर्थात् सत्पुरुषों के गुणों का नाश न करना, दूसरों के गुणों की प्रशंसा करना और दूसरों के दोषों का उपहास न करना- ये अनसूया कहलाती हैं।

'अनसूया' शब्द को पर्याप्त महत्त्व देते हुए यह ठीक से विचार करना होगा कि भगवान् कृष्ण ने इस श्लोक में इस शब्द का प्रयोग क्यों और किस प्रयोजन के लिए किया है और इस श्लोक का अंतर्निहित अर्थ क्या है। बुद्धिमान और अज्ञानी हर कोई जानता है कि भगवान् कृष्ण ने सुंदर और आदर्श जीवन के लिए क्या सलाह दी है। परंतु दोनों ही प्रकार के लोग जन्म-जन्मांतर के संस्कार और अभ्यास के कारण भगवान् कृष्ण की अमूल्य सलाह के महत्त्व को जानते हुए भी उनकी अवहेलना करते हुए, भगवान् कृष्ण द्वारा दिखाए गए उनके उपदेश के अनुसार मार्ग पर आगे बढ़ने के बजाय विपरीत मार्ग अपनाता है। अब यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि क्या भगवान् कृष्ण द्वारा दिखाए गए मार्ग से विचलित होने पर उन सभी लोगों को चाहे वे ज्ञानी हों या अज्ञानी, शास्त्रों के अनुसार दंड का सामना करना पड़ेगा। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण शब्द 'अनसूया' का उल्लेख किया है। श्रीकृष्ण ने कहा कि यदि आत्मनिष्ठ शास्त्रज्ञ व्यक्ति मेरे द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुसरण नहीं करता है या नहीं कर सकता है लेकिन यह दृढ़ विश्वास उनके मन में हमेशा बना रहता है कि मेरी विचार ही सभी शास्त्रों का सार है और वह उसी के अनुसार आचरण करता है अथवा मेरी सलाह के अनुसार कार्य नहीं कर सकता है लेकिन ध्यान में रखता है कि मेरी विचार ही सभी शास्त्रों का सार है और मुझ पर सम्मान रखता है अथवा जो मेरे प्रति सम्मान नहीं रखते हैं लेकिन मेरी इस तरह की निंदा नहीं करते हैं जैसे 'मेरी विचार सभी मतों का सार

नहीं हो सकता' अर्थात् मेरे इस मत के अनुसार कार्य न करने पर भी मेरे महान शास्त्रों में कोई दोष नहीं देखते हैं वे यद्यपि मेरी उपदेश के अनुसार काम नहीं करते हैं, फिर भी उसके मन में मेरे प्रति श्रद्धा और अनसूयाओं के कारण उसके सभी पाप जो अनादि काल से उसके बंधन का कारण रहे हैं, नष्ट हो जाते हैं और शीघ्र ही वह सभी कर्म बंधनों और पापों से मुक्त हो जाते हैं।

गीता के सिद्धांत के अनुसार मोक्ष की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के चरित्र में इन सभी गुणों का होना नितांत आवश्यक है।।३१।।

ये तु एतत् अभ्यसूयन्तो # न अनुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञान-विमुढान् तान् # विद्धि नष्टान् अचेतसः।।३२।।

अनुवाद :- परंतु जो लोग ईर्ष्यावश मेरे उपदेशों का पालन नहीं करते, जान लो कि वे अज्ञानी, बुद्धिहीन, घोर मूर्ख, विनष्ट और चेतनारहित हैं।।३२।।

व्याख्या:- इस संपूर्ण विश्व प्रपंच के केंद्र में हैं भगवान् श्रीकृष्ण। सभी आत्म-पदार्थ उनकी शरीर हैं। हम उनकी दास हैं और उनके द्वारा निर्देशित कार्य कर रहे हैं। लेकिन एक वर्ग ऐसा भी है जो ऐसा नहीं सोचते या नहीं सोच सकते। बल्कि वे कृष्ण का उपहास करते हैं। वे कृष्ण की निंदा करने में मुखर हैं। वे सोचते हैं कि कृष्ण का जन्म चरवाहे के घर में हुआ था, वे अपने बचपन के दौरान गाय की पूंछ पकड़ कर घूमते थे, तालाबों में स्नान करने वाली गोपियों के वस्त्र चुराते थे, अनगिनत स्त्रीयों से प्रेम करते थे। वे सब उनके चरित्र को कलंकित करता है और कृष्ण के प्रति कोई सम्मान नहीं दिखाता है। इस श्लोक में भगवान् कृष्ण ऐसे लोगों के लिए ये शब्द

बोलते हैं। उनका कहना है कि केवल वे लोग जिनके हृदय में चेतना है, वे ही वस्तुओं का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन कृष्ण के प्रति सम्मान के बिना लोग चीजों का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते। इसलिए वे पूरी तरह से चेतनाहीन, मूर्ख, बिगड़े हुए और विपरीत बुद्धि से जुड़ा हुआ हैं।।३२।।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः # प्रकृतेः ज्ञानवान् अपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि # निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

अनुवाद :-ज्ञानी भी अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करने का प्रयत्न करते हैं। सभी जीवित प्राणी अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं। अतः इंद्रियों को बलपूर्वक दबाने से कोई लाभ नहीं है।।३३।।

व्याख्याः- इस श्लोक में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि ज्ञानयोग का अभ्यास कठिन है और इसलिए इसमें गलतियां की जा सकती है। उनका कहना है कि सभी शास्त्र कहते हैं कि आत्मा नित्य, शुद्ध, सत्त्व, रज और तम गुण से रहित है - इसलिए व्यक्ति को हमेशा आत्मा की खोज करनी चाहिए। जो इस बात को जानते हैं अर्थात् जितने भी ज्ञानी महात्मा परमार्थ के सही तत्त्व को जानते हैं, वे ज्ञानी भी अपने पूर्व जन्मों में प्राप्त इच्छाओं के अनुसार प्रकृति विषय का अनुसरण करते हैं। पूर्व जन्मों में अर्जित पाप-पुण्य जो वर्तमान जीवन में प्रकट होता है, इसे प्रकृति कहते हैं। यह सच नहीं है कि अगर इंद्रियों को तुरंत दबा दिया जाए तो उन लोगों के दिल से उन सभी की इच्छाएं दूर हो जाएंगी। जन्मों-जन्मों के बीच पाले हुए

ख्वाहिशों को दिल से आसानी से निकालना मुश्किल होता है। हृदय में दबी हुई इच्छा, क्रोध, लोभ कब अचानक एक मरा हुआ ज्वालामुखी सा जाग उठेगा, कोई नहीं जानता। इस संबंध में एक पौराणिक प्रसंग उद्धृत कर रही हूँ। सांख्यशास्त्र के लेखक कपिलमुनि महान ज्ञान के सच्चे आत्मनिरीक्षण करने वाले पुरुष थे। अपने ज्ञान योग द्वारा उन्होंने पिछले जन्मों की इच्छाओं और संस्कारों को दबा दिया। लेकिन अचानक एक दिन एक छोटी सी घटना पर, बिना आगे-पीछे सोचे, वे सगर राजा के निर्दोष साठ हजार पुत्रों को क्रोध से जला दिया। इसीलिए कहा गया है कि इंद्रियों के निग्रह से मन को वश में नहीं किया जा सकता। श्रीमद्भगवद्गीता (१६/२१) में क्रोध को नरक का द्वार कहा गया है -

त्रिविधं नरकस्यैतद् द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।

इसलिए पहले कहा जा चुका है कि ज्ञानयोग का आचरण बड़ा कठिन है और भ्रम में पड़ने का भय है जो हम कपिलमुनि जैसे महान ज्ञानयोगियों के प्रसंग में देखते हैं। इसकी तुलना में कर्मयोग करना अपेक्षाकृत आसान है और इसमें भ्रम का भय नहीं रहता और शुद्ध कर्मयोग से आत्मज्ञान प्राप्त होता है, इसलिए किसी अन्य साधना की आवश्यकता नहीं है।।३३।।

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे # राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोः न वशम् आगच्छेत् # तौ हि अस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

अनुवाद :- प्रत्येक इंद्रिय को अपने ही विषय में राग और द्वेष छिपे हुये स्थित हैं यानी कुछ चीजें उन्हें पसंद हैं और कुछ चीजें उन्हें नापसंद हैं।

इसलिए इंद्रियों के वासनाओं अर्थात् पसंद-नापसंद के अधीन रहना मनुष्य के लिए अनुचित है क्योंकि ये हानिकारक हैं।।३४।।

व्याख्या:- कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनके लिए मनुष्य के हृदय में आकर्षण उत्पन्न हो जाता है क्योंकि वे भोग में सहायक होती हैं। इस आकर्षण को राग कहा जाता है। महर्षि पतंजलि अपने योगसूत्र के सूत्र २।७ में कहते हैं - ''सुखानुशायी राग:'' अर्थात् किसी वस्तु में सुख का अनुभव करने के बाद उसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति के हृदय में जो इच्छा, आसक्ति, अभिलाष उत्पन्न होती है, वह राग कहलाती है। परंतु कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जिनके लिए मनुष्य के हृदय में विरक्ति उत्पन्न हो जाती है क्योंकि वे भोग के लिए सहायक नहीं होतीं। इस विरक्ति को द्वेष कहते हैं। महर्षि पतंजलि अपने योगसूत्र के सूत्र २/८ में कहते हैं- "दु:खानुशयी द्वेष:।" अर्थात् किसी विषय से जुड़कर हृदय में पीड़ा और दुख का अनुभव होने पर उस विषय के प्रति मन में उत्पन्न होने वाले नकारात्मक और क्रोधी विचारों को द्वेष कहते हैं। मनुष्य को सभी इंद्रिय विषयों के प्रति राग या आकर्षण होता है। लेकिन जब उस विषयभोग में बाधा आती है तो उसके मन में उसके प्रति द्वेष पैदा हो जाता है। लेकिन जिस व्यक्ति ने आत्मचिंतन का अनुभव कर लिया है वह बड़े प्रयास से इंद्रियों में निवास करने वाली इच्छाओं के प्रति राग और द्वेष पर काबू पा लेता है और ज्ञानयोग के मार्ग पर आगे बढ़ता है। परंतु कभी-कभी इंद्रियों के विषयों के प्रति वह राग-द्वेष इतना प्रबल हो जाता है कि वह आत्मदर्शी व्यक्ति की निष्ठा या प्रयास पर हावी हो जाता है जिसके फलस्वरूप आत्मदर्शी व्यक्ति का पतन हो जाता है। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मदर्शन करने वाले पुरुष को शुरू

से ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं वह किसी चीज के प्रति द्वेष यानी क्रोध का शिकार न हो जाए। क्रोध मनुष्य की प्रगति में बाधक है।।३४।।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः # परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः # परधर्मो भयावहः।।३५।।

अनुवाद :– स्वयं का कर्तव्य भले ही गुण रहित हो, अच्छे ढंग से किए गए दूसरे के कर्तव्य से श्रेष्ठ है। अपना कर्तव्य करते हुए मरना अच्छा है, लेकिन दूसरों के रास्ते पर चलना खतरनाक है।।३५।।

व्याख्या:– यहाँ 'धर्म' का अर्थ 'Religion' नहीं है। यहाँ धर्म का अर्थ चार वर्णों के लिए शास्त्रों द्वारा निर्धारित कर्तव्यों या वृत्तियों से है। उस समय समाज में प्रत्येक वर्ण के लोगों के लिए एक एक प्रकार की वृत्ति निर्धारित की गई थी। क्षत्रियों का धर्म थे प्रजा की रक्षा करना, देश की रक्षा करना और प्रजा के कल्याण के लिए शत्रु से युद्ध करना था। तो एक क्षत्रिय के रूप में अर्जुन का पेशा था युद्ध करना। यह उनका वर्ण-धर्म था। लेकिन अर्जुन अपने स्वाभाविक धर्म को त्याग कर भिक्षावृत्ति का सहारा लेने की सोच रहे हैं। लेकिन यदि वे अपने स्वाभाविक क्षत्रधर्म को त्याग कर ब्राह्मण या वैश्य या शूद्र की स्वाभाविक वृत्ति को अपनाते हैं, तो यह उनके लिए या समाज में किसी के लिए भी अच्छा नहीं होगा। इससे पहले, कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि समाज के उच्च वर्ग जो करते हैं, दूसरे उसीका पालन करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि अर्जुन वास्तव में अपने निर्धारित कर्तव्यों का परित्याग कर भिखारी का धर्म अपना लेता है तो समाज पर इसका

प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अपना कर्तव्य में प्रेरित करने के लिए सभी पहलुओं से बार-बार कोशिश की। इसलिए यह आवश्यक है कि यहाँ 'धर्म' शब्द के अर्थ को 'Religion' समझने की गलती न हो, क्योंकि यह गीता के एक मुख्य सार तत्त्व को बाधित होगा।

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि अगर वे स्वधर्म यानी अपने वर्णधर्म का पालन करते हुए मर भी जाए तो अच्छा है। वह पहले भी कह चुके हैं कि कर्म जो भी किया जा सकता है, कर्मयोगी को उनका फल अवश्य मिलता है। श्रीकृष्ण सम्यक जानते हैं कि अर्जुन मरेगा नहीं, वह केवल देहांतरण करेगा। फलस्वरूप अगले जन्म में अर्जुन को इस जन्म में प्राप्त कर्म योग के सभी लाभ प्राप्त होंगे और उस स्थिति में अर्जुन अगले जन्म में इसी स्थान से कर्म योग की शुरुआत करेगा जिससे उनकी इच्छित लक्ष्य पूर्ति आसान हो जाएगी।

शास्त्रों में देखने में आता है कि अनेक महात्माओं ने अपने स्वधर्म को बचाने के लिए मृत्यु को हँसकर स्वीकार कर लिया और इस प्रकार अभिलाषा प्राप्त कर ली। राजा दिलीप ने क्षत्रियों के धर्म का पालन करने के लिए एक गाय के जीवन को बचाने के लिए भोजन के लिए खुद को एक शेर के सामने समर्पण कर दिया और परिणामस्वरूप उनका अभिलाष पूरा हुआ। राजा शिवि ने अपने स्वधर्म की रक्षा के लिए एक कबूतर की जान बचाने के लिए एक बाज को अपने शरीर का सारा मांस चढ़ाकर उनकी मृत्यु को स्वीकार कर लिया और इस तरह उनकी इच्छा पूरी की। भक्त प्रह्लाद ने भगवद्भक्ति के रूप में अपने स्वधर्म का पालन करने के लिए कई तरह से अपनी मृत्यु को

खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया और इसके परिणामस्वरूप उनका परम कल्याण हुआ। महाभारत कहता है कि किसी को भी इच्छा, भय, लोभ आदि से प्रेरित होकर या अपने जीवन को बचाने के लिए स्वधर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि धर्म शाश्वत है और सुख और दुख अनित्य हैं, जीव यानी आत्मा शाश्वत है लेकिन देह अनित्य है -

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतौः।।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।

—स्वर्गारोहणपर्व ५/६३

मनुस्मृति (१०/९७) भी यह कहती है कि यदि अपना धर्म हीन हो तो भी श्रेष्ठ है, लेकिन यदि दूसरे का धर्म अच्छा है तो भी उनका बहिष्कार किया जाना चाहिए। परधर्म के सहारे जीवन व्यतीत करने वाला तुरंत ही जातिभ्रष्ट (श्रेणीभ्रष्ट) हो जाता है –

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन हि सद्यः पतति जातितः।।

गीता एक ऐसा महाग्रंथ है जिसके एक-एक शब्द का गहरा महत्त्व है। इस संसार के परम ज्ञाता भगवान् कृष्ण ने इस श्लोक में 'विगुणः' यानी गुणहीन शब्द का प्रयोग किया है। कृष्ण का कहने का मतलब था कि अच्छाई और बुराई की भावना सापेक्ष है। प्रायः अज्ञानतावश लोग गलत ढंग से किसी विषय या वस्तु को अच्छा या बुरा मान लेते हैं। उदाहरण के

लिए, एक शराबी को लगता है कि शराब नवनीत से बेहतर है। लेकिन जब भी उसके हृदय में ज्ञान का प्रकाश जाग्रत होता है, वह अपने भ्रम को समझ जाता है और वह सही मार्ग पर अग्रसर होता है। विल्वमंगल अपने प्रारंभिक जीवन में दृढ़ता से वासना से प्रेरित थे और एक वारांगना का आदी हो गया। लेकिन बाद में जब जीवन में उन पर सत्य का प्रकाश आया, तो उन्हें अपने भ्रम का एहसास हुआ और उन्होंने खुद को श्रीभगवान् के चरणकमलों में समर्पित कर दिया। वर्तमान, भूत, भविष्य के ज्ञाता भगवान् कृष्ण सम्यक जानते हैं कि वर्तमान में अर्जुन अपने शोकग्रस्त मन के कारण उनके लिए निर्धारित क्षत्रधर्म के विपरीत बोल रहा है। लेकिन जल्द ही उसके दिल से दुख दूर हो जाएगा और फिर अर्जुन अपने क्षत्रधर्म पालन के मार्ग पर आगे बढ़ेगा।।३५।।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तः अयं # पापं चरति पुरुषः।
अनिच्छन् अपि वार्ष्णेय # बलात् इव नियोजितः।।३६।।

अनुवादः- अर्जुन ने कहा- हे कृष्ण! तो ये सभी लोग, न चाहते हुए भी, किसके द्वारा पापपूर्ण व्यवहार में संलग्न होने के लिए मजबूर होते हैं? ।।३६।।

व्याख्याः- पहले ही कहा जा चुका है कि गीता का लगभग हर शब्द गहरा अर्थ रखता है। इसलिए यह कर्तव्य है कि जितना संभव हो सके गीता के प्रत्येक शब्द के अंतर्निहित अर्थ को जानने का प्रयास करना चाहिए। इस श्लोक में अर्जुन 'अथ' शब्द का प्रयोग करते हैं। सामान्यतः 'अथ' शब्द का प्रयोग तब, इसलिये आदि के अर्थ में किया जाता है। वामन

शिवराम आप्ते अपनी पुस्तक The Practical Sanskrit-English Dictionary में लिखते हैं कि आम तौर पर 'अथ' शब्द का अंग्रेजी अनुवाद 'Here' 'Now' आदि होता है। लेकिन यहां 'अथ' शब्द एक विशेष महत्त्व रखता है। शास्त्रों के अनुसार 'अथ' शब्द का अर्थ चाहे जो भी हो, इस शब्द का उच्चारण शुभ संकेत देता है। शास्त्रों में कहा गया है कि सृष्टि के आरंभ में ब्रह्मा की वाणी से निकले पहले दो शब्द थे 'ॐ' और दूसरा 'अथ'—

ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं निर्भिद्य निर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ।।

अमरकोष में कहा गया है - "मङ्गलान्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येवाथो अथ" अर्थात् अथ शब्द का प्रयोग मंगल, अनंतर, आरंभ, प्रश्न, संपूर्ण आदि के अर्थ में होता है।

अतः ये दो शब्द मध्य स्थान में बोलने पर शुभ माने जाते हैं। यह शुभ शब्द श्रीमद्भगवद्गीता में दस बार बोला गया है जैसे कि श्लोक संख्या १।२०,१।२६, २।२६, ३।३६,११।५, ११।४०, १२।९, १२।११ तथा १८।५८ में। वेदों, उपनिषदों, पौराणिक साहित्य आदि जैसे कई अन्य स्थानों में इस शब्द का प्रयोग 'मंगलप्रद' अर्थ में कई बार किया गया है- 'तब वृक्षः अथ विल्व (ऋग्वेद ४/४/३५/६), 'अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा' (कठोपनिषद ३/७), 'अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते' (छान्दग्योपनिषद ५/१०/३), 'वैयासकिः स भगवान् अथ विष्णुरातम् (श्रीमद्भागवत १०/१/१४), 'अथ सुदर्शनतां प्रयाति शस्त्रो', (भविष्य पुराण), 'अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये...' (रघुवंश) प्रभृति।

श्रीभगवान् उवाच

काम एष क्रोध एष # रजोगुण-समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा # विद्धि एनम् इह वैरिणम्।।३७।।

अनुवाद :- श्रीभगवान् ने कहा- काम, क्रोध आदि रजोगुण से आते हैं। यह सर्वग्रासी और घोर पापी हैं। इसे इंसान का सबसे बड़ा दुश्मन जानिए।।३७।।

धूमेन आव्रियते वह्निः # यथा आदर्शो मलेन च।
यथा उल्बेन आवृतो गर्भः # तथा तेन इदम् आवृतम्।।३८।।

अनुवाद :- जैसे धुआँ अग्नि को, जैसे मैल दर्पण को और झिल्ली गर्भ को ढक लेता है, वैसे ही वासना ज्ञान को ढक लेती है।।३८।।

आवृतं ज्ञानम् एतेन # ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय # दुष्पूरेण अनलेन च।।३९।।

अनुवाद :- कौन्तेय! ज्ञान बुद्धिमान व्यक्ति का कट्टर शत्रु कामरूप की अजेय आग से आच्छादित रहता है। जिस प्रकार सर्व भस्म करने वाली अग्नि को कभी नहीं रोका जा सकता, उसी प्रकार इच्छा का भी कभी अंत नहीं होता।।३९।।

व्याख्याः- सामान्य बोलचाल में 'काम' शब्द का अर्थ कर्म है। लेकिन श्रैमद्भगवद्गीता में 'काम' शब्द का प्रयोग सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के अर्थ में किया गया है। साथ ही इस पुस्तक में अन्यत्र प्रयुक्त 'राग', 'आसंग' आदि शब्द काम के पर्यायवाची हैं, वे भगवद-संबंधी राग का भाव नहीं हैं।

यहाँ ज्ञान का अर्थ है परमार्थ का यथार्थ ज्ञान। काम ज्ञाननिष्ठा का शाश्वत शत्रु है। इसीलिए ज्ञाननिष्ठा में इंद्रियों को हमेशा दबा कर रखना चाहिए। यदि काम वह ज्ञानी व्यक्ति में थोड़ी सी भी कमजोरी पाता है, तो यह उसके ज्ञान को एक सर्व-भस्म करने वाली आग की तरह भस्म कर देता है और लगातार उसे विषयभोग की इच्छा की ओर आकर्षित करता है और वह ज्ञानी व्यक्ति जितना अधिक भोग में लिप्त होता है, उतना ही यह दुष्ट काम उसे प्रेरित करता है। भोग की इच्छा कभी तृप्त नहीं होती। इसीलिए श्रीमद्भागवत में कहा गया है -

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

—श्रीमद्भागवत ९/१९/१४

अर्थात् कि जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से अग्नि बढ़ती है, वैसे ही काम के भोग से काम समाप्त नहीं होता, बल्कि बढ़ जाता है।।३९।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः # अस्य अधिष्ठानम् उच्यते।
एतैः विमोहयति एष # ज्ञानम् आवृत्य देहिनम्।।४०।।

अनुवाद :- कहा जाता है कि इंद्रियाँ, मन और बुद्धि के भीतर काम निवास करती हैं। यह काम इंद्रियों द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है।।४०।।

व्याख्याः- इंद्रियों, मन और बुद्धि को बहुत ही महत्त्वपूर्ण रूप से काम का घर कहा जाता है। हमारे स्वास्थ्य, मन, निरापदता आदि तब तक

सुरक्षित रहेंगे जब तक कि हमारे घर में रोग, चोर, हानिकारक चीजें और जंगली जानवर, कीड़े आदि प्रवेश न कर लें। लेकिन हमारे अनवधान की वजह से जब भी वो दुश्मन हमारे घर में घुस पाएंगे तो हमारा सारी खुशियां और सुरक्षा खत्म हो जाएगी। काम मनुष्य की इंद्रियों, मन और बुद्धि के कल्याण के खिलाफ दुर्जेय दुश्मन है। यह काम मिथ्या अनित्य सुख की लालच दिखाकर मनुष्य की इंद्रियों, मन और बुद्धि को खा जाता है और उन पर प्रभुत्व जमाता है और इंद्रियों, मन और बुद्धि की वासना से आत्मा के पारमार्थिक ज्ञान को आच्छादित कर देता है और उसे माया के कारागार के घोर अंधकार में डाल देता है और मनुष्य को जीवन के अंतिम लक्ष्य यानी मोक्ष की प्राप्ति से वंचित कर उसके अमूल्य मानव जीवन को नष्ट कर देता है। अतः जिस प्रकार गृहस्थ को अपने घर की सुख-शांति, अच्छे स्वास्थ्य और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए हमेशा सतर्क रहना पड़ता है और हर संभव प्रयास करके शत्रुओं का प्रतिरोध करना पड़ता है, उसी प्रकार पारमार्थिक ज्ञान के इच्छुकों को भी इंद्रियों, मन और बुद्धि के कल्याण के विरोधी कामरूपी शत्रु का विरोध करना और उसे दूर भगाना चाहिए। और यदि ऐसा न हो तो काम इंद्रियों, मन और बुद्धि की गहराइयों में अपनी इच्छा के रूप में प्रवेश करेगा, मनुष्य की अंतरात्मा की शक्ति को नष्ट करके उसके जीवन को विषैला बना देगा।।४०।।

तस्मात् त्वम् इन्द्रियाणि आदौ # नियम्य भरत-ऋषभ।
पाप्मानं प्रजहि हि एनं # ज्ञान- विज्ञान-नाशनम् ।।४१।।

अनुवाद :- हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! अतः सर्वप्रथम इंद्रियों को वश में

करके ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करने वाले इस दुष्ट काम को अवश्य ही जीत लो ।।४१।।

व्याख्या:- परंपरागत अर्थ में 'ऋषभ' शब्द का अर्थ बैल होता है। फिर उन्नत अर्थ में 'ऋषभ' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ पुरुष है। श्रीमद्भागवत-महापुराण के प्रथम स्कंध के तीसरे अध्याय के तेरहवें श्लोक में राजा नाभि और मेरुदेवी के पुत्र ऋषभदेव को भगवान् विष्णु का आठवां अवतार बताया गया है। जैनगण ऋषभदेव को अपना मूल तीर्थंकर मानते हैं।

ज्ञान और विज्ञान क्या है - शंकराचार्य कहते हैं - ज्ञानं शास्त्रत आचार्यत: च आत्मादीनाम् अवबोध:, विज्ञानं विशेषत: तदनुभव: (शाङ्करभाष्य ३।४१)। अर्थात् विभिन्न शास्त्रों को पढ़ने और गुरु के उपदेश से मानव हृदय में जो आत्मा-अनात्मा, विद्या-अविद्या आदि पदार्थोंका बोध होता है उनका नाम ज्ञान है एवं उसका जो विशेषरूपसे अनुभव है उसका नाम है विज्ञान ।।४१।।

इन्द्रियाणि पराणि आहु: # इन्द्रियेभ्य: परं मन:।
मनस: तु परा बुद्धि: # यो बुद्धे: परत: तु स:।।४२।।

अनुवाद :- इन्द्रियों को प्रबल कहते हैं। स्थूल शरीर से इंद्रियाँ श्रेष्ठ हैं, इंद्रियाँ से मन श्रेष्ठ है, बुद्धि मन से बेहतर है। लेकिन जो बुद्धि से ऊपर है वह आत्मा है।।४२।।

व्याख्या :- यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि स्थूल शरीर से श्रेष्ठ इंन्द्रियाँ हैं, इंद्रियों से श्रेष्ठ मन है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है और बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा है। इस बिंदु को विस्तार से बताने की जरूरत है। चूंकि यहां कृष्ण का भाषण बहुत संक्षिप्त है, इसलिए हमें मामले को ठीक से स्पष्ट करने के लिए

कठोपनिषद का सहारा लेना होगा। कठोपनिषद कहते हैं –

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।

—कठोपनिषद १/३/३-४

अर्थात् स्थुल शरीर एक रथ के समान है। उस रथ के सबसे ऊपर जो बैठता है वह सारथी है अर्थात् रथ का स्वामी अर्थात् आत्मा। रथ को चलाने वाला सारथी है बुद्धि। रथ को खींचने वाले घोड़े हैं इंद्रियाँ, घोड़ों को नियंत्रित करने वाली लगाम है मन, और रथ जिस मार्ग पर चलता है वह हैं इंद्रियाँ। तो देखा जाता है कि विषय के मार्ग से चलता हुआ शरीर रूपी रथ निर्जीव है। वह अपने दम पर आगे बढ़ने के लिए शक्तिहीन है। कोई खींचेगा तो भागेगा। यह खिंचाव इंद्रियरूप अश्व द्वारा किया जाता है। जब इंद्रियों का कार्य समाप्त हो जाएगा, रथ रुक जाएगा अर्थात् शरीर बेकार हो जाएगा। तो इंद्रियाँ शरीर से बड़ा हैं। फिर, घोड़ों को एक लगाम की जरूरत होती है ताकि वे भटक न सकें और खतरा पैदा न कर सकें, और इंद्रियरूपी घोड़े के मामले में यह लगाम है मन। तो मन का स्थान इंद्रियों से ऊपर है। जो लगाम को नियंत्रित करता है वह है सारथी और शरीर के मामले में सारथी है बुद्धि। तब बुद्धि की स्थिति मन से ऊपर होती है और बुद्धि को धारण करने वाला शरीर अर्थात् रथ का स्वामी होता है आत्मा। अतः आत्मा का स्थान बुद्धि से ऊपर है। कठोपनिषद यह भी कहता है - ''इन्द्रियेभ्यः परा हि अर्था'' (कठोपनिषद १/३/१०) अर्थात् जो वस्तुएँ अनुभव की जाती हैं वे

इंद्रियों से श्रेष्ठ हैं। यह इंद्रियभोग्य विषय हैं जो इंद्रियों को पारमार्थिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रतिकूल मार्ग पर ले जाने के लिए आकर्षित करते हैं, और इस प्रकार जब इंद्रियाँ अनियंत्रित रूप से वस्तुओं के आनंद की ओर आकर्षित होती हैं, तो जीवन के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी रास्ते बंद हो जाते हैं। अत: इस श्लोक में कृष्ण के कथन का मुख्य बिंदु यह है कि चूँकि जीवात्मा परम शक्तिशाली है, इसलिए जब तक वह बुद्धि, मन और इंद्रियों को वश में करने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करती है, तब तक इंद्रिय विषय इंद्रियों पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते हैं, अर्थात्, जीवन अपने ईप्सित पथ पर चलता रहेगा। परंतु जब कभी आत्मा अपनी शक्ति को भूलकर सब पर नियंत्रण खो देती है, तब शक्तिशाली इंद्रियाँ मोहक वस्तुओं से मोहित होकर बड़ी तेजी से जीवन को नरक की ओर ले जायेगा। अत: अर्जुन को कृष्ण की सलाह है कि अर्जुन को मन की दुर्बलता, इंद्रिय सुख, दु:ख, ममता, अनुकंपा, विषाद, दया आदि से लकवाग्रस्त होने के कारण युद्ध का परित्याग नहीं करना चाहिए। तब उसके हृदय की यही दुर्बलता उसके पतन को निमंत्रण देगी।।४२।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा # संस्तभ्य आत्मानम् आत्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो # कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

अनुवाद :- हे महाबाहो! इस प्रकार बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा को जानकर, आत्मशक्ति द्वारा मन को स्थिर करके काम जैसे दुष्ट शत्रु को जीतो।।४३।।

व्याख्या:- श्रीकृष्ण इस श्लोक में अर्जुन को सलाह देते हैं कि आत्मा को सर्वोच्च जानकर बुद्धि द्वारा मन को स्थिर करके तीव्र प्रबल कामनाओं

को वश में कर लो। अर्जुन एक बुद्धिमान व्यक्ति हैं। वे निस्संदेह कृष्ण की इस सलाह के गहरे अर्थ को समझ गया था। लेकिन आम लोगों के लिए यह मामला इतना आसान नहीं है। अत: यहाँ इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

प्राचीन काल से ही हमारे देश के विभिन्न शास्त्रों, वेद पुराणों ने लोगों के कल्याण के लिए आत्मा की संप्रभुता का संदेश जन-जन तक पहुँचाया है। उस संदेश को हृदय में धारण करके सीमित संख्या में ज्ञानी जन ही जीवन के परम सत्य को जान कर अपने को बहुत ऊँचे स्तर पर स्थापित कर पाए हैं। लेकिन आदिकाल से ही शास्त्रों का यह संदेश अधिकांश लोगों के कानों तक नहीं पहुंचा है। क्योंकि अनादि काल से मानव हृदय अविद्या और अज्ञानता से आच्छादित रहा है। इसलिए भिन्न-भिन्न शास्त्रों से या ऋषियों से आत्मा के विषय में सुनते हुए भी जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है और सर्वशक्तिशाली होते हुए भी अपनी शक्ति का अनुभव नहीं करता और आत्मा के चिरशत्रु काम के अधीन रहता है। लेकिन यदि वह आत्मा को समझ सके तो अपने मन से राग और द्वेषरूपी कामको आसानी से निकाल सकता है। अत: काम को नष्ट करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि आत्मतत्त्व क्या है। लेकिन आत्मतत्त्व बड़ी गूढ़ विषय है। केवल सूक्ष्मदर्शी पुरुष ही इस तत्त्व को समझ सकते हैं। कठोपनिषद में कहा गया है कि आत्मा हर जीव में निवास करती है लेकिन दिखाई नहीं देती। केवल सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति ही अपनी सूक्ष्म बुद्धि के माध्यम से उन्हें देख सकते हैं –

एष सर्वेषु भूतेषु गूढो आत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि:।।

बुद्धि द्वारा मन को कैसे वश में किया जाए, यह जानना भी आवश्यक है। गीता में बुद्धि द्वारा मन को जीतने के दो उपाय बताए गए हैं – अभ्यास

और वैराग्य - "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते" (६/३५)। लेकिन इस अभ्यास और वैराग्य को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? बुद्धि के द्वारा मन को सदा परमात्मा के चिंतन में लगाये रखना और सुख की इच्छा को हृदय से निकालकर परमात्मा के चिंतन में निरंतर लगे रहने का प्रयत्न करना अभ्यास कहलाता है। इस प्रकार निरंतर अभ्यास करते रहने से परमेश्वर का चिंतन मन का स्वभाव बन जायेगा और हृदय में इंद्रियसुख की इच्छा नहीं रहेगी। और यदि आप विषयसुखों में सभी दोषों और उस सुख से कितना दुख होता है उसके बारे में लगातार मन को समझाने की कोशिश करते हैं, तो अंत में मन में उन सुखों के प्रति वितृष्णा पैदा होगी। इस अवस्था में विषय उसे 'जहरीला' प्रतीत होगा, अर्थात् तब विषय उसे वांछनीय संपत्ति के रूप में नहीं दिखाई देगा। इसे वैराग्य कहा जाता है। पतंजलि के योग सूत्र ने वैराग्य को यह कहते हुए परिभाषित किया है—दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् (१/१/१५) अर्थात् चेतन और अचेतन दृष्ट वस्तुओं के प्रति वितृष्णा वैराग्य कहलाती है। इस प्रकार निरंतर प्रयास से यदि मन भोगवासना से विमुख हो जाए तो मन में वास्तविक सत्य का प्रकाश जगमगा उठेगा और मन फिर वस्तुओं की वासना की ओर आकर्षित नहीं होगा। इन दोनों मामलों में, बुद्धि द्वारा निर्देशित मन परमेश्वर में स्थिर रहेगा और काम जैसी कोई अन्य हानिकारक सामग्री मन में प्रवेश नहीं कर सकेगा। फलस्वरूप मन में काम की पराजय होगी। इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि बुद्धि के द्वारा मन को परमात्मा में स्थिर करके काम को जीत लो क्योंकि बुद्धि ही मन को वश में कर सकती है क्योंकि बुद्धि मन से श्रेष्ठ है।।४३।।

।। तीसरा अध्याय समाप्त ।।

चौथा अध्याय

ज्ञान-कर्मसंन्यास-योग

श्रीभगवान् उवाच

इमं विवस्वते योगं # प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह # मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत् ।।१।।

अनुवादः- श्रीभगवान् ने कहा – अभी तक मैंने आपको सनातन कर्मयोग के बारे में बताया है जो मैंने सबसे पहले सूर्य को बताया था। सूर्य ने फिर अपने पुत्र मनु को उस योग के बारे में बताया और फिर मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को इस कर्मयोग के बारे में बताया ।।१।।

एवं परम्पराप्राप्तम् # इमं राजर्षयो विदुः।
स कालेन इह महता # योगो नष्टः परन्तप।।२।।

अनुवाद :- हे परंतप अर्जुन! इस प्रकार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को प्राप्त हुए इस कर्मयोग को राजर्षियोंने जानते थे। वह कर्मयोग इस संसार में धीरे-धीरे एक लंबे समय में (प्राय) लुप्त हो गया है।।२।।

व्याख्याः- उपरोक्त दो श्लोकों में भगवान् ने गीता के विषय में दो महत्त्वपूर्ण संदेश दिये हैं। वे कहते हैं कि उन्होंने सबसे पहले सूर्य को यह ज्ञान-भक्तिमिश्र कर्म योग (जिसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया है) बताया। इसके बाद इस योग के बारे में सूर्य के पुत्रों और पौत्रों ने आपस में

चर्चा की। फिर समय के साथ-साथ यह योग धीरे-धीरे इस संसार में एक लंबी अवधि में (प्राय) गायब हो गया। उनका मतलब है कि कुछ लोग गलती से यह सोच सकते हैं कि कृष्ण ने अर्जुन को लड़ने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए इस कर्म योग का सृष्टि किया था। लेकिन भगवान् के शब्दों से साबित होता है कि अर्जुन पहले व्यक्ति नहीं थे, जिन्हें कृष्ण ने कुरूक्षेत्र के मैदान में खड़े होकर एक विशेष उद्देश्य से इस कर्मयोग का सुनाया था। यह योग कोई नई बात नहीं है, यह योग प्राचीन काल से चला आ रहा है और राजर्षियों ने (राजा होते हुए भी वेद मंत्रों का अर्थ और तत्त्व जानने वाले को राजर्षि कहलाते हैं) इस योग को जानते थे। अत: इस प्रकार का कपटपूर्ण विचार मन में लाना सर्वथा अनुचित है कि कुरुक्षेत्र में खड़े होकर अर्जुन को युद्ध करने के लिए उकसाने के लिए कृष्ण का इस योग का वर्णन करने का कोई विशेष मंशा थी। दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में हम देख चुके हैं कि अर्जुन ने स्वयं को कृष्ण के शिष्य के रूप में प्रस्तुत करते हुए सच्चे भक्ति के साथ उनसे अपने कर्तव्यों के बारे में उचित सलाह मांगी और शिष्य की इस प्रार्थना को पूरा करने के लिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस योग के बारे में बताया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि गीता के प्राय: प्रत्येक श्लोक का विशेष अर्थ है। जैसा कि इस श्लोक में वे कहते हैं कि कालांतर में यह योग इस संसार मे धीरे-धीरे नष्ट हो गया है, अर्थात् वे यह नहीं कहते कि यह योग पूर्णतया लुप्त हो गया है। क्योंकि इन लोक के अलावा और भी कई लोक हैं। पतंजलि के योग सूत्र में सात प्रकार के लोक का उल्लेख है- "तत्प्रस्तार: सप्त लोका:। तत्रावीचै: प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोक:। मेरुपृष्टादारभ्य – आध्रुवान्ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोक:। तत: पर: स्वर्लोक: पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोक:। चतुर्थ: प्राजापत्यो महर्लोक:। त्रिविधो ब्राह्म: तद्यथा – जनलोकस्तपोलोक: सत्यलोक" इति (३/२६) अर्थात् हमारा नश्वर संसार सबसे नीचे, उसके ऊपर ग्रह, नक्षत्र, सितारों से सजे

हुए अंतरिक्ष लोक, पांच प्रकार के स्वर्गलोक, उस से ऊपर इंद्रलोक, उसके ऊपर प्रजापति के महालोक और ऊपर तीनों प्रकार के ब्रह्मलोक अर्थात् - जनलोक, तपलोक और सत्यलोक। और परमेश्वर इन सब लोगों का सब समयों का प्रभु हैं। तो श्रीकृष्ण कहना चाहते हैं कि यह योग उन सभी लोकों में मौजूद था भले ही यह योग धीरे-धीरे हमारी दुनिया से गायब हो गया। लेकिन यह अविनाशी परमात्मा का अविनाशी योग हमारे नश्वर संसार में कैसे लुप्त हो गया? वास्तव में, इस संसार में लोगों के हृदय रेगिस्तान में अंतहीन रेत के टीलों के समान हैं। जैसे रेगिस्तान में जब रेत पर पानी डाला जाता है तो उसकी धारा कुछ ही दूरी पर बहती है और अचानक अंतहीन रेत में समा जाती है। मानव मन ऐसा ही है। यहाँ स्नेह, प्रेम, वात्सल्य, दया, करूणा, आदर, भक्ति कुछ भी अधिक समय तक नहीं टिक सकता। थोड़ी देर के बाद, रेगिस्तान की रेत पर गिरने वाली बारिश की धारा की तरह, यह पुरुषों के दिलों से जल्दी गायब हो जाती है। इसलिए समय-समय पर मानव हृदय के भावों को जगाना पड़ता है। इसीलिए शिष्ट के पालन और दुष्टों के विनाश के उद्देश्य से भगवान् कृष्ण ने फिर से अवतार लिया और अर्जुन को इस महान योग के बारे में बताया और साथ ही श्रीमद्भगद्गीता के अक्षर-अवतार का रूप लेकर हम जैसे अकिंचनों पर परम दया की ।।३।।

स एव अयं मया ते अद्य # योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तः असि मे सखा च इति # रहस्यं हि एतत् उत्तमम्।।३।।

अनुवाद :- तुम मेरे भक्त और सखा है। इसलिए आज मैंने आपको वह प्राचीन कर्मयोग बताया। यह वास्तव में एक बहुत ही उत्तम रहस्य है।।३।।

व्याख्याः- इस श्लोक में भगवान् कहते हैं कि अर्जुन उनका भक्त और सखा है। इसके लिए उन्होंने उन्हें इस उत्तम रहस्यमयी कर्मयोग की व्याख्या

की। श्रीकृष्ण के इस कथन का अर्थ समझना आवश्यक है। सर्वशास्त्रसार श्रीमद्भगवद्गीता इतनी महान पुस्तक है कि जो इसे सुनना चाहता है उसे सुनने का योग्य होना चाहिए। अत: किसी योग्य व्यक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य को इस महान ग्रंथ का वर्णन या प्रचार करना उचित नहीं है। भगवान् कृष्ण ने स्वयं अठारहवें अध्याय के ६७वें श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा है कि किस प्रकार का व्यक्ति इस सर्वशास्त्र शिरोमणि श्रीमद्भगवद्गीता के महान उपदेशों को सुनने का अधिकारी है। अर्जुन निस्संदेह इस उपदेश को सुनने के लिए चरित्र और मानसिक गुणवत्ता में एक योग्य व्यक्ति हैं। इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस योग की सलाह दी थी।

अर्जुन के पूर्व जिन महात्माओं ने इस ब्रह्मविद्या को सुना उनके विषय में मुण्डकोपनिषद में कहा गया है-

> 'ब्रह्मा...... स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्।
> अथर्वाय ज्येष्ठ्यपुत्राय प्राह।।
> अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा-अथर्वा तां
> पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
> स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह
> भारद्वाज: अङ्गिरसे परावराम्।।
>
> —मुण्डकोपनिषद १/१/१-२

अर्थात्, ब्रह्मा ने इस ब्रह्मविद्या को अपने पुत्र अथर्व को बताया, अथर्व ने ऋषि अंगिरा को बताया, अंगिरा ने अपने शिष्य भारद्वाज गोत्र के सत्यवह को इस के बारे में बताया और सत्यवह ने इस ब्रह्मविद्या को अपने ही शिष्य अंगिरस को बताया।

फिर से, वासुदेवसंहिता में उल्लेख है कि भगवान् नारायण ने एक बार इस योग वैकुंठ में लक्ष्मी देवी से कहा था, लक्ष्मी देवी ने वही मंत्र भगवान्

के सेनापति विष्वक्सेन से कहा, विष्वक्सेन ने उसी मंत्र को शट्कोप मुनि से कहा जो कुरूकानगरी में एक इमली के पेड़ के नीचे रहते थे -

श्रीविष्णुलोके भगवान् हरिर्नारायणः स्वयम्।
प्रोक्तवान् मन्त्रराजादीन् श्रियै तापादिपूर्वकम्।।
सा च प्रोक्तवती प्रीत्या तापपुण्डादिपूर्वकम्।
सेनेशाय प्रिया विष्णोर्मूलमंत्रद्वयादिकम्।
सेनेस्स्वयमागत्य प्रीत्या श्रीनगरीं शुभाम्।
शठकोपाय मुनये तितिण्डिमूलवासिने।
तापादिपूर्वकं श्लोकं मन्त्ररत्नद्वयादिकम्।
विष्णुपत्या विशालाक्ष्या नियोगादुपदिष्टवान्।।

इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् ने अर्जुन को यह परम रहस्य बताना क्यों उचित समझा। साथ ही इन सब तथ्यों से यह भी सिद्ध होता है कि भगवान् ने इस योग का सृष्टि कुरुक्षेत्र में खड़े अर्जुन को अचानक युद्धपथ पर धकेलने के लिए नहीं किया था। उन्होंने कल्पकाल से पूर्व जीवों के कल्याण के लिए इस योग की रचना की थी।।३।।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म # परं जन्म विवस्वतः।
कथम् एतत् विजानीयां # त्वम् आदौ प्रोक्तवान् इति।।४।।

अनुवाद :- अर्जुन ने कहा- आपका जन्म तो बाद में हुआ है परंतु विवस्वान अर्थात् सूर्य आपसे पहले अवश्य उत्पन्न हुआ है। तो आपने सूर्य को यह बात अदिकाल में बताई - ऐसा कैसे जानुँ? ।।४।।

श्रीभगवान् उवाच

बहूनि मे व्यतितानि # जन्मानि तव च अर्जुन।
तानि अहं वेद सर्वाणि # न त्वं वेत्थ परन्तप।।५।।

अनुवाद :- श्रीभगवान् ने कहा- हे परंतप अर्जुन! आप और मैं पहले भी कई बार जन्म ले चुके हैं। मुझे वे सभी जन्म याद हैं, लेकिन आप उन्हें याद नहीं कर सकते।।५।।

व्याख्या:- पिछले श्लोक में जब अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से सुना कि उन्होंने सूर्यदेव को यह ज्ञान प्रदान किया था, तो अर्जुन के विस्मय की सीमा न रही। वे जानते हैं कि कृष्ण का जन्म वसुदेव के घर उनके समय में ही हुआ था। लेकिन सूर्यदेव का प्राकट्य बहुत पहले हो गया था। तो कृष्ण के लिए सूर्य को इस परम सत्य का वर्णन करना कैसे संभव था! उसके उत्तर में, भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि उन्होंने और अर्जुन दोनों ने अतीत में कई जन्म लिए हैं। वे उन सभी जन्मों को याद कर सकते हैं लेकिन अर्जुन उन्हें याद नहीं रख पाता। बहुत ही उचित और स्वाभाविक है। अर्जुन महावीर होते हुए भी हाड़-मांस का मनुष्य है। उनकी मौलिक जैविक विशेषताएँ अन्य सामान्य मनुष्य के समान ही हैं। । फलत: उन्हें अपने पूर्व जन्मों का स्मरण नहीं हो पाता। लेकिन अविनाशी सर्वज्ञ होने के नाते भगवान् श्रीकृष्ण सब कुछ जानते हैं कि उनका आविर्भाव कहाँ कहाँ और किन किन रूप में हुआ था। वे स्पष्ट रूप से जानते हैं कि उन्होंने वर्तमान जन्म से पहले के युगों में दुनिया के लाभ के लिए उन्नीस और अवतार लिए हैं - पहली बार उन्होंने कौमारसर्ग में सनक, सनंदन, सनातन और सनत कुमार ये चार ब्राह्मणों के रूप में अवतार लिया। फिर वे दूसरे अवतार में वराह के रूप में, तीसरे अवतार में देवर्षि नारद के रूप में, चौथे अवतार में धर्म की पत्नी मूर्ति के

गर्भ में नरनारायण के रूप में, पांचवें अवतार में कपिल के रूप में, छठे अवतार में अत्रिमुनि के पुत्र दत्तात्रेय के रूप में प्रकट हुए। फिर उन्होंने सातवें अवतार में रुचि नाम का प्रजापति की पत्नी आकुति के गर्भ में यज्ञ के रूप में, आठवें अवतार में राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ में ऋषभदेव के रूप में, नवें अवतार में राजा पृथु, दसवें में मत्स्य, ग्यारहवें में कूर्म, बारहवें में धन्वंतरि, तेरहवें में मोहिनी, चौदहवें में नृसिंह, पंद्रहवें में वामन, सोलहवें में परशुराम, सत्रहवें में व्यासदेव, अठारहवें में राम और उन्नीसवें में बलराम के रूप में उन्होंने अवतार लिया। बीसवें अवतार में वे स्वयं भगवान् कृष्ण के मानव रूप में अर्जुन के सामने मौजूद हैं। इसके अलावा, इस ब्रह्मांड के सभी प्राणी उनका ही विभूति यानी मूर्त प्रकाश हैं! अत: प्रत्येक जीव का जन्म उनका जन्म है, संसार के प्रत्येक जीव का शरीर उनका अपना शरीर है। इसलिए, उनके जन्मों का कोई अंत नहीं है और वे सभी जन्मों को स्पष्ट रूप से याद कर सकता है। तो वे सीधे कह सकता है कि उन्होंने अनगिनत जन्म लिए हैं और प्रत्येक जन्म को स्पष्ट रूप से याद कर सकते हैं।।५।।

अजः अपि सन् अव्यय आत्मा # भूतानाम् ईश्वरः अपि सन्।
प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय # सम्भवामि आत्म-मायया।।६।।

अनुवाद :- मेरा जनम नहीं है, मेरा मरण नहीं है। मैं समस्त प्राणियों का स्वामी हूँ। फिर भी मैं अपनी स्वभाव को साथ लेकर अपनी ही माया से प्रकट होता हूँ।।६।।

व्याख्याः- यह एक महत्त्वपूर्ण श्लोक है जिसका प्रत्येक पद को बहुत ध्यान से देखे बिना भगवान् कृष्ण के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा जा

सकता है। यहाँ वे कहते हैं कि वे अज: अर्थात् अजन्मा हैं अर्थात् वे पैदा नहीं हुआ है, और वे कहते हैं 'सम्भवामि' अर्थात् वे प्रकट होते हैं। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न आता है कि जब उनका जन्म नहीं होता तो वे प्रकट होते हैं कैसे? सामान्य तौर पर देखा जाए तो बिना जन्म के किसी का भी इस दुनिया में आना संभव नहीं है। तो यहाँ बात क्या है? बात यह है कि यदि कोई कृष्णतत्त्व की गहराई में जा सके तो पता चलेगा कि वे सचमुच अज यानी जन्महीन हैं। वे बार-बार धराधाम में आते हैं, लेकिन प्राकृत जीव की तरह बार-बार योनिसंभूत होकर नहीं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नरसिंह अवतार है। वे दुनिया के सृष्टि से पहले से ही मौजूद हैं। वे अव्यय, अविनाशी, सनातन, शाश्वत हैं, संसार की विशेष आवश्यकताओं को छोड़कर हमेशा दिखाई नहीं देते। फिर भी वे वहाँ हैं। वे इस सृष्टि में सर्वव्यापी हैं। वे पर्दे के पीछे हमेशा हमारा भला कर रहे हैं। उन्हें धराधाम में प्रकट होने के लिए प्राकृत जीव के तरह जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है। श्रीमद्भागवत-महापुराण के प्रथम श्लोक में उन्हें 'स्वराट्' कहा गया है अर्थात् उन्हें प्रकट होने के लिए उन्हें दूसरों की सहायता की आवश्यकता नहीं है। वे स्वयं प्रकाश होते हैं, वे स्वयं को बनाते हैं। वे सदैव सर्वत्र प्रकट रहते हैं। जैसे हवा। वायु पृथ्वी पर सर्वत्र सदैव विद्यमान है। जब हवा को बहने की जरूरत नहीं होती है, तो वह शांत, स्थिर, अविचल रहती है। तब हम यह अनुभव नहीं कर सकते कि वायु नामक पदार्थ सर्वत्र है। वह हमें एक कड़े बंधन में बंद रखता है और हमारी जानकारी के बिना हमें सुरक्षित रखता है। लेकिन जब प्रकृति की गोद में एक विशेष स्थिति पैदा होती है, तो हवा बहती है और हमें पता चलता है कि हवा है। यह नहीं कहा जा सकता कि हवा जब चलने लगती है यह तब पैदा होती है। इसी

प्रकार श्रीकृष्ण सृष्टि के पूर्व से ही इस सृष्टि में सदैव विद्यमान हैं। वे उस सृष्टि के आरंम्भ से नहीं बदला है। कितनी ही बार हम उन्हें नए रूपों में देखा, यह नहीं कहा जा सकता कि उनका बार-बार जन्म हुआ हैं। उन्होंने हर बार दुनिया की जरूरतों के लिए खुद को एक नए रूप में प्रकट किया हैं। कृष्णदास कविराज ने अपनी पुस्तक चैतन्य-चरितामृत में उनके स्वरूप की सुंदर व्याख्या की है -

कृष्ण लीला – नित्य, ज्योतिश्चक्र-प्रमाणे।।
ज्योतिश्चक्रे सूर्य येन फिरे रात्रि-दिने।।

अर्थात् अनादि काल से प्रतिदिन सूर्य पूर्व में उगता है और पश्चिम में अस्त होता है। कृष्ण की लीलाएँ भी ऐसी ही हैं।

जब-जब दुनिया को जरूरत होती है तब तब वे दुनिया के सामने प्रकट हो जाते हैं और जब दुनिया की जरूरतें पूरी हो जाती हैं तो वे अंतरालमें चले याते हैं।

सूखी नदी के नीचे रेगिस्तान की तरह केवल सूखा रेत ही रहती है। पानी की एक बूंद नजर नहीं आती। ऐसा लगता है कि कहीं पानी नहीं है। लेकिन यदि रेत की खुदाई की जाए तो उसके नीचे साफ पानी का भंडार मिलता है। अर्थात् सूखी नदी के सीने में पानी है, लेकिन उस पानी ने खुद को रेत से ढक लिया है। बिल्कुल भगवान् कृष्ण की तरह। वे हर जगह है, लेकिन अपनी माया से खुद को ढक लेते हैं जैसे नदी के तल में रेत पानी को ढक लेती है। मन की रेत को खोदकर ही कृष्ण के मनोहर रूप के दर्शन किए जा सकते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण इस श्लोक में कहते हैं कि वे अपने प्रकृतिमें स्थित होकर अपनी माया से प्रकट होते हैं। अब हम 'प्रकृति' और उनका अपनी 'माया' के विषय का विश्लेषण करते हैं। अमरकोष कहता है कि 'प्रकृति' शब्द का अर्थ 'स्वभाव', 'स्वरूप' (नाट्यवर्ग, प्रथम कांड) है। रामानुजाचार्य

ने भी गीता पर अपनी टीका में 'स्वभाव' को 'प्रकृति' शब्द के अर्थ के रूप में लिया है - "प्रकृतिः स्वभावः" (रामानुज-भाष्य ४/६)। भगवान् कृष्ण की माया उनका दिव्य स्वरूप है। तो यहाँ तात्पर्य यह है कि भगवान् कृष्ण अपने स्वयं के दिव्य रूप में पूर्ण ज्ञान और दृढ़ संकल्प के साथ स्वयं प्रकट होते हैं जैसे सूर्य अपने स्वयं के रूप में प्रकट होता है। यहाँ उनके स्वभाव का अर्थ है कि वे अविनाशी, नित्य शुद्ध, दोषरहित, दिव्य गुणों वाले, किसी भी सांसारिक बंधन से मुक्त हैं, वे जब भी आते हैं अपने ज्ञान, बल, वीर्य, समस्त ऐश्वर्य के साथ आते हैं। प्राकृत जीव की तरह अलग-अलग जन्मों में उनका अलग-अलग स्वभाव नहीं होते। कहा जाता है कि वे अपने स्वरूप में प्रकट होते हैं। तो उनका स्वरूप क्या है, इस पर चर्चा आवश्यक है। यजुर्वेद का मंत्र ३१।१८ कहता है – 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' अर्थात् उनका रंग आदित्य के समान और अंधकार से दूर है। सामवेद में कहा गया है - 'क्षयन्तमस्य रजसः पराके' अर्थात् वे रजोमय लोक से दूर हैं। छांदोग्योपनिषद कहता है - 'भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' अर्थात् वे प्रकाशरूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्म, सर्वकाम, सर्वगंधा, सर्वरसः आदि हैं। वे सदा स्वेच्छा से, अपनी संकल्प से और अपने ही रूप में प्रकट होते हैं, इसका स्पष्ट प्रमाण हमें श्रीमद्भागवद्-महापुराण में उनके जन्म के वर्णन से मिलता है-

तमद्भुतं बालकम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभितकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्।।
महार्हबैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्त्रकुन्तलम्।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कनादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत।।

अर्थात् उनके जन्म के समय उनके नेत्र कमल के समान बड़े और लाल थे, उनके चार हाथों में शंख, चक्र, गदा और कमल, छाती पर श्रीवत्स का निशान, गले में चमकीला कौस्तुभ मणि, सुंदर पीताम्बर थे। घने मेघ के समान शरीर, बहुमूल्य मोतियों से सुशोभित मुकुट और कुण्डल के प्रकाश में चमकते टेढ़े कुंतललराजी, कटि पर कांची, भुजाओं में अंगद और कंकणादि अलंकारों से विभूषित। उस बालक के सभी अंगों से एक अद्भुत प्रकाश फैल रहा था।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्ण सदैव अपने रूप और स्वभाव में प्रकट होते हैं। हरिवंश, विष्णुपुराण, पद्मपुराण आदि हर जगह कृष्ण के जन्म के समय प्रकट होने का यही वर्णन मिलता है।।६।।

यदा यदा हि धर्मस्य # ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य # तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।७।।

अनुवाद :- हे अर्जुन! जब-जब धर्म अर्थात् न्याय का हानि और अधर्म अर्थात् दुष्टता का उदय होता है, तब-तब मैं स्वयं को प्रकट करता हूँ ।।७।।

परित्राणाय साधूनां # विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय # संभवामि युगे युगे।।८।।

अनुवाद :- सत्पुरुषों की रक्षा के लिए, दुष्टों का विनाश करने के लिए और धर्म अर्थात् न्याय की स्थापना के लिए मैं युग-युग में अवतरित होता हूँ।।८।।

व्याख्या:- इस श्लोक में 'साधूनाम्' और 'धर्मसंस्थापनार्थाय' पदों की व्याख्या आवश्यक है। 'साधुनाम्' शब्दका अनुवाद अक्सर 'संत' के रूप में किया जाता है और 'धर्मसंस्थापनार्थाय' शब्द का अर्थ वैदिक धर्म की स्थापना है। तो इस श्लोक का अर्थ है- वे संतों के उद्धार और बैदिक धर्म की स्थापना के उद्देश्य से अवतरित हुआ। लेकिन यदि इस अर्थ को लिया जाए तो भगवान् कृष्ण ने संपूर्ण मानव जाति को जो महान अभय संदेश दिया है, उसे स्पष्ट और सटीक रूप से समझने में आम जनता के लिए एक बाधा उत्पन्न होगी। यदि इन दोनों श्लोकों की इस प्रकार व्याख्या की जाए तो श्रीमद्भगवद्गीता का सार और उद्देश्य समझना लोगों के लिए अधुरा ही रह जाएगा। यहाँ 'साधूनाम्' शब्द से भगवान् वनों में विचरण करने वाले तपस्वी भिक्षुओं का उल्लेख नहीं कर रहे हैं। वे इस शब्द से उन महान व्यक्तियों को संदर्भित करते हैं जो सत्, सदाचारी और पवित्र जीवन जीते हैं, जो बृहत्तर समाज और मानव जाति के शुभचिंतक हैं, न्याय और सत्य के उपासक हैं। इसलिए, यदि 'साधुनाम्' शब्द को 'संतों' के संकीर्ण अर्थ में लिया जाता है, तो आम पाठक भ्रमित हो जाएगा और यह सोच सकता है कि भगवान् कृष्ण केवल सर्वत्यागी संतों के बारे में सोचते हैं, आम आदमी के बारे में नहीं। तब आम जनता में श्रीकृष्ण के बारे में गलत संदेश जा सकता है।

फिर यदि 'धर्मसंस्थापनार्थाय' शब्द को धर्म अर्थात् वैदिक धर्म की स्थापना के अर्थ में लिया जाय तो गीता के माहात्म्य का बोध असफल हो जायेगा। इस महान पुस्तक में भगवान् ने कभी किसी विशेष धर्म का प्रचार नहीं किया। उन्होंने यहाँ 'धर्मसंस्थापनार्थाय' शब्द का प्रयोग न्यायधर्म, सत्य, सुविचार की स्थापना के अर्थ में किया है। इस कारण इस श्लोक का उचित अर्थ यह होगा कि वे समाज में न्याय, सत्य की स्थापना करने तथा सज्जनों की रक्षा करने तथा अधर्मियों का नाश करने के लिए विभिन्न युगों में इस लोक में अवतरित होते हैं।।८।।

जन्म कर्म च मे दिव्यम् # एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म # नैति मामेति सः अर्जुन।।९।।

अनुवाद :- हे अर्जुन! जो मेरे ऐसे दिव्य जन्म और कर्म को ठीक से जान सकता है उसे मृत्यु के बाद फिर से जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है। तब वह मुझे प्राप्त कर लेता है, अर्थात् तब उसका उद्धार हो जाता है।।९।।

व्याख्याः- यह श्लोक ईश्वर के दिव्य जन्म और कर्मों के बारे में बताता है। अब यह जानना आवश्यक है कि ईश्वर के दिव्य जन्म का क्या अर्थ है। अक्षर, अब्यय अमर सर्वशक्तिमान पूर्णब्रह्म परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण प्राकृत पुरुष की तरह नश्वर नहीं हैं। प्राकृत पुरुष जब पृथ्वी पर आता है तो उसके साथ रोना आता है। लेकिन जब भगवान् आते हैं, तो उनके चेहरे पर एक आकर्षक मुस्कान होती है। साधारण लोगों का जीवन व्यक्तिगत स्वार्थों का जीवन है। लेकिन परमेश्वर के जीवन में कोई व्यक्तिगत दिलचस्पी नहीं है। वे लोककल्याण के लिए, अपने दर्शन, उपस्थिति, स्पर्श आदि से लोगों के जीवन को सुखी और धन्य बनाने के लिए आते हैं। केवल मनुष्य ही नहीं - उनके आगमन पर संपूर्ण जीवजगत्, संपूर्ण चेतन और अचेतन पदार्थ आनंदित हो जाते हैं, उनका अलौकिक प्रेम सभी प्राणियों के जीवन में स्वर्गीय पवित्र नशा लाते हैं। उनकी बांसुरी की ध्वनि सुनकर गायें मग्न हो जाती हैं, नील यमुना उमड़ पड़ती है, उनका दिव्य रूप देखकर मोर अपना पेखम खोलने के बावजूद भी नाचना भूल जाता है। वे पार्थिव संसार का स्वाद लेने नहीं आते हैं, वे पृथ्वी से पापियों का नाश करने और धर्मियों को स्थापित करने आते हैं । उनका जीवन केवल एक दिव्य लीला है। उनका जन्म एक माया है। इसलिए उनका जन्म जन्महीन का जन्म है, उनका कर्म है संतों की रक्षा करना। तो यह दिव्य कर्म है जो ईश्वरशक्ति

द्वारा की जाती है, उनका शरीर प्रकृति के तत्त्वों से बना नहीं है, उनका जीवन शुद्ध, प्रकाशमान और अलौकिक है। साधारण लोग माया के अधीन पैदा होते हैं, लेकिन भगवान् कृष्ण के प्रकट होने के पीछे माया का हाथ नहीं है, बल्कि माया उनके अधीन है। उनके तथाकथित जन्म के समय योगमाया ने उनकी सुरक्षा के लिए उन्हें कर्तव्यपरायणता से आगे बढ़ाया। वे मानव जाति को करुणा प्रदान करने के लिए प्रकट होते हैं। फिर वे जो काम करते हैं वह पूरी तरह से नि:स्वार्थ, आकांक्षा रहित होता है। उनके दिल में कर्तापन का कोई बोध पैदा नहीं होता है। फलत: वे कर्म के बंधन में नहीं बंधते। वह अनंत ब्रह्मांड के स्वामी होते हुए भी सभी को समान दया, करुणा, प्रेम देकर सामान्य व्यवहार करते हैं। जैसे भक्त उनकी पूजा करता है, वैसे ही वे भी उनकी भजना करते हैं। इन्हीं सब कारणों से उनकी जन्म और कर्म को दिव्य जन्म-कर्म कहलाते हैं।।९।।

वीत-राग-भय-क्रोधा # मन्मया माम् उपाश्रिता:।
बहवो ज्ञान-तपसा # पूता मद्-भावम् आगता:।।१०।।

अनुवाद :- मन से समस्त राग, भय और क्रोध को त्यागकर, मेरा आश्रय लेकर, ज्ञानरूप तपस्या से शुद्ध होकर अनेकों ने मेरे भाव अर्थात् मुझमें नित्य आश्रित स्थान को प्राप्त किया है।।१०।।

व्याख्या:- यहां भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भक्तों को स्पष्ट संदेश दिया है कि उनका प्रेम पाने के लिए भक्त को मन से सभी प्रकार की काम, क्रोध, लोभ, मोह, (मात्सर्य) का त्याग कर देना चाहिए और सभी मन और प्राण को उनमें समर्पित कर देना चाहिए और एकाग्रचित्त होकर उनकी भजना करनी चाहिए। तभी उनकी प्रेम हासिल किया जा सकता है। जब तक भक्त

का हृदय सांसारिक वस्तुओं में आसक्त रहता है, तब तक उस भक्त के लिए कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करना संभव नहीं है।।१०।।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते # तान् तथा एव भजाम्यहम्।
मम वर्त्म अनुवर्तन्ते # मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

अनुवाद :- हे पार्थ! जो मुझे जैसे भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी प्रकार भजता हूँ, अर्थात् उन्हें तृप्त करता हूँ। लोग सब प्रकार से मेरे ही मार्ग पर चलते हैं।।११।।

व्याख्याः- यह एक अत्यंत मूल्यवान श्लोक है। यहां श्रीकृष्ण अपने विचार का एक अतुलनीय पहलू प्रस्तुत करते हैं। श्रीकृष्ण के विचार अत्यंत पवित्र, अत्यंत पेलव, संकीर्णता रहित, सभी प्रकार के ग्लानि, और कालिमा से मुक्त हैं। ऐसा भाव केवल कृष्ण की ही हो सकता है। चूंकि उनमें अहंकार नहीं है, अधिकार की भावना नहीं है, इसलिए वे आसानी से कह सकते हैं कि उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए किसी को उनकी पूजा एक निर्धारित मार्ग से या निर्धारित तरीके से करनी होगी एसा नहीं। उन्होंने अपने भक्तों को किसी भी रूप में अपनी पूजा करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी है और उन्होंने भक्तों को आश्वासन दिया है कि भक्त जिस भी रूप में, मार्ग से या तरीके से उनकी पूजा करेगा, वे उनकी इच्छाओं को पूरा करेंगे। जैसे, भक्त उन्हें कृष्ण, विष्णु, श्रीराम, महादेव, देवी के रूप में, साकार या सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म के रूप में या देवकी और यशोदा की तरह एक बच्चे के रूप में, सुदामा जैसे मित्र के रूप में, मीराबाई जैसी स्वर्गीय प्रेमी के रूप में आदि किसी भी रूप में स्वर्गीय विचारों के साथ उनकी पूजा करता हैं, तो कृष्ण उससे प्रसन्न होते हैं और उसी तरह उसे आशीर्वाद देते हैं। जाहिर तौर पर भले ही लोग अलग-अलग देवताओं की पूजा कर रहे

हों, लेकिन वास्तव में वह सभी पूजा कृष्ण के लिए हैं क्योंकि उन सभी देवताओं में एक और एकमात्र परमपुरुष परमेश्वर भगवान् कृष्ण ही हैं, वे सभी मार्ग कृष्ण के मार्ग हैं।।११।।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं # यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके # सिद्धिः भवति कर्मजा।।१२।।

अनुवाद :- जो कर्मों में सफलता चाहते हैं वे सब मनुष्य विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं। ऐसे लोगों को अपने कार्यों में त्वरित सफलता मिलती है।।१२।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् कृष्ण इंद्र आदि विभिन्न देवताओं के बारे में बात करते हैं। कृष्णभक्ति बहुत दुर्लभ वस्तु है। उस भक्ति का मार्ग बहुत ही सरल और सुगम होते हुए भी उस मार्ग पर चलना आम लोगों को रुचि नहीं आता। इस मार्ग का एक ही नियम है कि मनुष्य जहाँ भी रहे, मन की सभी आकांक्षा, कामना और वासनायों को छोड़कर पवित्र, निर्मल और निष्कलंक मन से कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। कृष्ण की भक्ति करने के लिए उनसे किसी सांसारिक फल की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। सांसारिक वस्तुओं के लिए मन की आकांक्षा कामना और वासना इस मार्ग की मुख्य बाधा है। इसलिए लोग शुद्ध कृष्ण भक्ति के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ना चाहते। कृष्ण की सच्ची भक्ति केवल एक ही परिणाम की ओर ले जाती हैं और वह हैं मोक्ष। हालाँकि, सच्चे कृष्ण भक्त को अपनी कृष्ण भक्ति का एक और परिणाम भी मिलता है - दिल के भीतर एक अपार अलौकिक आनंद और खुशी, और यह बहुत समय लेने वाली प्रक्रिया है। लेकिन आम लोगों में इतना सब्र नहीं होता। वे शीघ्र परिणाम चाहते हैं। इंद्र, अग्नि, वरुण आदि देवताओं की पूजा करने से शीघ्र फल प्राप्त होते

हैं। अतएव सांसारिक सुखों में आसक्त मंदबुद्धि मनुष्य स्त्री, पुत्र, धन, जन, फसल, पशु आदि भोग्य पदार्थों को शीघ्र प्राप्त करने के लिए इंद्र, अग्नि, वरुण आदि देवताओं की पूजा करते हैं, यद्यपि उन फलों का स्थायित्व बहुत कम होता है। क्योंकि ऐसे व्यक्तियों की चेतना विभिन्न प्रकार के सुखों की इच्छा से आच्छादित रहती है, वे यह समझने में विफल रहते हैं कि परमेश्वर परमपुरुष कृष्ण ही एकमात्र भगवान् हैं। इसलिए कृष्ण की पूजा किए बिना वे शीघ्र फल की आशा में उन देवताओं की पूजा करते हैं, और एक बार पूजा का अनुष्ठान पूरा हो जाने पर, वे देवता तुरंत उपासक को जो फल देने की शक्ति रखते हैं और उस पूजा से जो भी फल प्राप्त हो सकता है उसे तुरंत दे देते हैं। वह फल उपासक के लिए अच्छा नहीं हो सकता है। हमने पुराणों में देखा है कि बहुत से असुरों, दैत्यों, दानवों ने विभिन्न देवताओं की तपस्या करके ऐसे भयानक वरदान प्राप्त किए जो उसके विनाश का कारण बने। लेकिन कृष्ण इतनी जल्दी भक्त की इच्छाओं को पूरा करने के लिए कार्य नहीं करते हैं। उनकी दया प्राप्त करने में समय लगता है और कृष्ण भक्त से प्रसन्न होते हैं और वरदान देते हैं जो भक्त के लिए फायदेमंद होते हैं, जो भक्त को स्वर्गसुख का आनंद पाने के लिए नहीं बल्कि मोक्ष के लिए योग्य बनाते हैं।।१२।।

चातुर्वण्यं मया सृष्टं # गुण-कर्म-विभागशः ।
तस्य कर्तारम् अपि मां # विद्धि अकर्तारम् अव्ययम्।।१३।।

अनुवाद :- मैंने गुण और कर्म के अनुसार चार प्रकार के वर्णों की रचना की है। हालाँकि, यह जान लें कि भले ही मैं इसका निर्माता हूँ, मैं इसका मालिक नहीं हूँ, मैं अकर्ता हूँ और मैं क्षय या लयरहित हूँ ।।१३।।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति # न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां यः अभिजानाति # कर्मभिः न स बध्यते।।१४।

अनुवाद :– कर्मबंधन का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, मुझे कर्म फल की कोई आकांक्षा नहीं है। कर्म उन्हें नहीं बाँध सकता जो मेरे बारे में ऐसा पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है।।१४।

व्याख्याः– इस श्लोक में भगवान् कह रहे हैं कि उन्हें कोई कर्म लिप्त नहीं कर सकता और उन्हें कर्म के फल की कोई आकांक्षा नहीं है। लेकिन उन्होंने ऐसा क्यों कहा, यह जानना जरूरी है। गीता में विभिन्न स्थानों पर कहा गया है कि कर्मके प्रति आसक्ति कर्मबंधन का कारण है और चूँकि उन्हें किसी कर्म में आसक्ति नहीं है, इसलिए कोई कर्म उन्हें बांध नहीं सकता। मनुष्य का मन उस कर्म में आसक्त हो जाता है जो वह करता है। लेकिन क्या वह उन कार्यों का आदी होगा जो उन्होंने नहीं किया? यह प्रश्न इस श्लोक के अंतर्निहित अर्थ को प्रकट करने में एक महत्त्वपूर्ण सुराग देता है। हम सभी सोचते हैं कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण इस संसार के निर्माण के कारण हैं और वे इस सृष्टि के स्वामी हैं। लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण ऐसा नहीं सोचते। वे कभी नहीं सोचते कि वे इस सृष्टि का कारण या कर्ता हैं। उनमें कोई अहंभाव अर्थात् 'मैं हूँ मैं हूँ' नहीं है। वे जानते हैं कि वे सृष्टि के केवल निमित्त मात्र हैं। बनाने वाली वस्तु के भीतर जो शक्ति छिपी होती है, वही उसके सृजन का कारण होती है। पदार्थ अपनी शक्ति से भौतिकता प्राप्त करता हैं। उदाहरण के लिए, जब आकाश से वर्षा होती है तो बीज अंकुरित हो जाते हैं और कुछ बीज पानी में अंकुरित हुए बिना ही नष्ट हो जाते हैं। बीज के अंकुरण के पीछे वर्षा कर्ता या कारण नहीं है, बल्कि केवल बीज में छिपा हुआ अंकुरण-क्षमता ही अंकुरण का

कारण है, वर्षा केवल निमित्त मात्र है। विष्णु पुराण में पराशर श्रीहरि के बारे में यही कहते हैं -

निमित्तमात्रमेवासीत् सृज्यानां सर्गकममणि।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तय:।।
निमित्तमात्रं मुक्त्वैकं नान्यत् किञ्चिदवेक्षते।
नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तुताम्।।

—विष्णुपुराण १/४/५१-५२

चूँकि भगवान् कृष्ण स्वयं को सृष्टि का स्वामी नहीं मानते हैं, वे सोचते हैं कि वे इस संसार की रचना के लिए केवल निमित्त है, इसलिए उनका इस सृष्टि पर कोई कर्तापन या ममता (आकर्षण) या लगाव नहीं है और चूँकि किसी भी वस्तु के ऊपर उनका कोई कर्तापन या आकांक्षा या आसक्ति नहीं है इसलिए उनका कोई कर्मबंधन नहीं होता। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि कर्म उन्हें लिप्त नहीं कर सकता।

फिर, कृष्ण का इस पर कोई हाथ या कर्तृत्व नहीं है कि संसार के कुछ प्राणी सुखी हैं तो कुछ दु:खी हैं। लोग अपने कर्मों के कारण सुख या दुख का अनुभव करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद कहता है कि यदि कोई व्यक्ति अच्छे कर्म करता है तो उसे पुण्य मिलता है और यदि वह बुरे कर्म करता है तो वह पाप कमाता है, यह परमेश्वर नहीं, जीव ही है जो दोनों प्रकार के भोगों के लिए जिम्मेदार है– ''पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप: पापेनेति'' (३/२/१३)। इसलिए यह सोचने का कोई कारण नहीं है कि जीवों के सुख-दु:ख के पीछे भगवान् ही मालिक हैं। भगवान् के कर्ता न होने के कारण के बारे में ब्रह्मसूत्र में कहा गया है कि भगवान् का चरित्र पक्षपात या निर्दयता से मुक्त है - ''वैषम्यनैर्घृन्ये न सापेक्षत्वात्''(२/१/३४)। एक संगठन का मालिक अच्छे कर्मचारियों को पुरस्कृत करता है और दुष्ट कर्मचारियों को दंडित करता है। लेकिन भगवान् ऐसा कुछ नहीं करते।

परमेश्वर ने यह जानते हुए रचना की कि उनकी सृष्टि में अच्छाई और बुराई दोनों होंगे। तो हम उन देवताओं को जानते हैं जो परम सुखी हैं और मनुष्यों जिसका एक हिस्सा खुश है और दूसरा हिस्सा दुखी है और प्राणियों को अत्यधिक पीड़ा होती है और इसके लिए उनके संबंधित कर्म जिम्मेदार हैं। अब यदि ईश्वर इस सृष्टि का स्वामी है तो वह सभी देवताओं, मनुष्यों, पशुओं का स्वामी होगें। तब कहा जाएगा कि ईश्वर एक वर्ग पर कृपा करते हैं और दूसरे वर्ग के प्रति निर्दयी बनकर उन्हें कष्ट में रखते हैं। ऐसे में भगवान् के चरित्र की पवित्रता, उदारता, न्याय बड़े प्रश्नचिन्हों के सामने होगा। इसलिए वे किसी का स्वामी नहीं है, केवल सृष्टि के निमित्त है। इन सभी कारणों से उनके मन में कोई भी कर्तापन, आकांक्षा या आसक्ति नहीं है, इसलिए उनके कर्मबंधन का कोई सवाल ही नहीं है।

तो ऐसा प्रतीत होता है कि आम मनुष्य एक छोटा सा कर्म करके ही अपने को उनका स्वामी समझने लगता है, अतः वह कर्म के बन्धनों में फंस जाता है, अतः उसे नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। लेकिन इतने बड़े ब्रह्मांड की रचना करने के बावजूद परमपुरुष भगवान् कृष्ण अपने आप को इसका स्वामी नहीं मानते हैं, वे अपने को इसके लिए केवल एक निमित्तमात्र सोचते हैं। इसलिए उनका कोई कर्मबंधन नहीं होता। यहाँ ईश्वर ने समस्त मानव जाति को एक बड़ी सीख दी है कि अपने काम में कभी भी आत्म-प्रशंसा का भाव नहीं रखना चाहिए। यह काम के सार को दूषित कर देगा।।१४।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म # पूर्वैः अपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्म एव तस्मात् त्वं # पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

अनुवाद :- प्राचीनकाल के मुमुक्षु महात्माओं ने यह जान लिया था कि मैं कर्म करता हुआ भी कर्ता नहीं हूँ और मुझे कर्म के फल की कोई

आकांक्षा नहीं है। इस सच्चे ज्ञान को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने कर्म किए। इसलिए आप उसी विचार के साथ कर्म करें जैसे प्राचीन महात्माओं ने किया था।।१५।।

व्याख्या:- जो पुरुष संसार के सुखों को दु:खमय और क्षणभंगुर मानता है और जन्म-मरण के बंधनों से विरक्त है तथा उन बंधनों से सदैव के लिए मुक्त होना चाहता है और जो सच्चिदानंदघन परमात्मा को प्राप्त करना चाहता है, जिसे परलोक के सुखों की कोई इच्छा नहीं है और जो ममता, आसक्ति, कर्म के फल की इच्छा से रहित है, जो अपना निर्धारित कर्तव्य पूर्ण वैराग्य से करता है वह मुमुक्षु कहलाता है। बृहन्नारदीयपुराण के मंत्र १/३३/५१ में मुमुक्षु व्यक्ति के लक्षणों का वर्णन है –

रागद्वेषविहीनो य: शमादिगुणसंयुक्त:।
हरिध्यानपरो नित्यं मुमुक्षुरभिधीयते।।

अर्थात् जिसने राग अर्थात् किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति आकर्षण, द्वेष अर्थात् किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति वैर आदि का सर्वथा त्याग कर दिया हो, जिस में शम अर्थात् मन और बाह्य इंद्रियों का संयम एवं दम अर्थात् बाह्य शुचिता आदि दिव्य गुण हों, और जो हमेशा परमपुरुष भगवान् वासुदेव के चिंतन में लीन रहता है, उसे मुमुक्षु अर्थात् मुक्ति पाने की इच्छा रखने वाला कहा जाता है।।१५।।

किं कर्म किम् अकर्म इति # कवय: अपि अत्र मोहिता:।
तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि # यत् ज्ञात्वा मोक्ष्यसे अशुभात्।।१६।।

अनुवाद :- ज्ञानिगण भी इस बात को ठीक से समझने में परेशान हो जाते हैं कि कर्म किसे कहते हैं और अकर्म किसे कहते हैं। इसलिए मैं तुम को उन कर्मों और अकर्मों के बारे में बता रहा हूँ जिन्हें जानकर आप अशुभ तथा संसारवंधन से मुक्त हो जाओगे ।।१६।।

कर्मणो हि अपि बोद्धव्यं # बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणः च बोद्धव्यं # गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

अनुवाद :- कर्म अर्थात् प्रकृत कर्म क्या है, विकर्म अर्थात् अशुभ कर्म क्या है और अकर्म क्या है यह जानना है क्योंकि कर्म का गति दुज्ञेय है।।१७।।

कर्मणि अकर्म यः पश्येत् # अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु # स युक्तः कृत्स्न-कर्मकृत्।।१८।।

अनुवाद :- जो कर्मों में अकर्म और अकर्मों में कर्म देखता है वही मनुष्यों में सच्चा ज्ञानी है, वही सच्चा योगी है और वही वास्तव में सब कर्मों को करने वाला है।।१८।।

व्याख्याः- कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखना गीता का यह कथन आम पाठक की समझ से परे है। कहा जा सकता है कि गीता में बार-बार कहा गया है कि जो कर्म निर्दोष रूप से किए जाते हैं और जिनके पीछे कर्तापन का भाव न हो उन कर्मों को ही भगवान् स्वीकार करते हैं। अकर्म शब्द के दो अर्थ हैं- एक अशुभ कर्म या अनुचित कर्म और दूसरा कर्महीनता या निष्क्रियता। मनुष्य अनेक प्रकार के कर्म करता है- हत्या, सामान की चोरी, झूठ बोलना आदि। ये कर्म नहीं हैं - ये अकर्म यानी दुष्ट कर्म हैं। बहुत से लोग सोचते हैं कि यदि संसार में सब कुछ ईश्वर के अधीन है तो इस प्रकार का कार्य करना क्या अपराध है? अज्ञान, अविद्या से घिरे मन के लिए ऐसे विचार स्वाभाविक हैं। लेकिन जिनके हृदय ज्ञान के प्रकाश से भरे हुए हैं वे जानते हैं कि ये अशुभ कर्मों हैं और इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। तो गीता की भाषा में ये कर्म नहीं हैं, अकर्म अर्थात् निकृष्ट कर्म हैं। परंतु यदि उस प्रकार के कर्म करने के पीछे कोई वासना, आकांक्षा

या कर्तापन का भाव न हो तो उस कर्म को करने वाले पर कोई दोष पैदा नहीं होता। उदाहरण के लिए, जब सैनिक अपने देश की रक्षा के लिए युद्ध के मैदान में जाते हैं, तो दूसरे पक्ष के कई निर्दोष सैनिक उनके द्वारा मारे जाते हैं। लेकिन इसमें विजेता सैनिक की कोई इच्छा या कर्तापन काम नहीं करता। इसलिए गीता की भाषा में यह कर्म है। बहुत से लोग सोचते हैं कि कर्म करने से ही कर्मबंधन प्रकट होगा। इसलिए बिना किसी तरह का काम किए लेटे-लेटे जीवन बिताना बेहतर है। यह अकर्म अर्थात् निष्क्रियता है। लेकिन इस तरह भी कर्मबंधन या कर्म का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। गीता में कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति बिना कर्म किए एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता है। यदि वह इस तरह आलस्य का जीवन व्यतीत करता है, तो वह निश्चित रूप से कर्मबंधन विकसित करेगा और इसके कारण जो कर्म का फल उसे मिलेगा वे हैं शारीरिक बीमारी, परिवार की आर्थिक बरबादी आदि। इसलिए जो बुद्धिमान हैं वे इस प्रकार के अकर्म में भी कर्म देखते हैं। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि अगर वे युद्ध छोड़ देता है तो भी वे कर्म के बंधन से मुक्त नहीं होगा क्योंकि उनके अकर्म के परिणामस्वरूप समाज में अधर्म का उदय होगा जिसका वे भी हिस्सा होंगे यानी वे कर्म के बंधन से मुक्त नहीं हो पाएंगे। परंतु कर्म करने से कोई कर्म के बंधन में नहीं बँधता यदि वह नेक नीयत से किया गया हो और उसमें कर्तापन का भाव न हो।

अब लोग अकर्म को कर्म में और कर्म को अकर्म में यानी इसके विपरीत कैसे देखते हैं, इसका ठोस उदाहरण दें तो बात साफ हो जाएगी। दिन के समय लोग सोचते हैं कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर गति कर रहा है। सूर्य स्थिर है और पृथ्वी घूमती है यह कर्म है। लेकिन सूर्य घूम रहा है और पृथ्वी स्थिर है यह कर्म नहीं है। इसलिए यहां लोग

अकर्म में कर्म और कर्म में अकर्म यानी उल्टा देखते हैं। ये सभी अवधारणाएँ माया या अविद्या के कारण हैं। लेकिन जो वास्तविक सत्य को जानते हैं वे समझते हैं कि वास्तव में सूर्य स्थिर है और पृथ्वी गतिमान है। इसलिए अज्ञानी जिसे कर्म समझता है, ज्ञानी उसे कर्म नहीं मानता और अज्ञानी लोग जिसे अकर्म समझते हैं, ज्ञानी उसी में भी कर्म पाते हैं।।१८।।

यस्य सर्वे समारम्भाः # काम-संकल्प-वर्जिताः।
ज्ञाग्नानि-दग्ध-कर्माणं # तम् आहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

अनुवाद :- ज्ञानाग्नि के दहकने से जो पवित्र होते हैं और समस्त कामनाओं को त्यागकर कर्म करने में समर्थ होते हैं तथा 'मैं कर्म कर रहा हूँ' की भावना नहीं रखते हैं, वे ज्ञानियों के द्वारा विद्वान कहलाते हैं।।१९।।

व्याख्या:- इस संसार या परलोक में उपलब्ध सभी वस्तुओं जैसे पत्नी, पुत्र, धन, संपत्ति, घर, पद, मान, आयु, प्रतिष्ठा, सुख आदि को भोगने की इच्छा को काम, और इन सभी वस्तुओं के प्रति राग अर्थात् इच्छा, द्वेष, ममता यानी आकर्षण, मोह, मान, लोभ आदि को संकल्प कहा जाता है।।१९।।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं # नित्य-तृप्तो निराश्रयः।
कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि # नैव किञ्चित् करोति सः।।२०।।

अनुवाद:- जो कर्मफल की आसक्ति को त्यागकर सदा संतुष्ट रहता है और जो किसी आवश्यकता में किसी की शरण नहीं लेता, वह किसी प्रकार का कर्म करता हुआ भी दिखाई देता है, तो भी वह निश्चित रूप से कुछ नहीं करता है।।२०।।

व्याख्या:- इस श्लोक में प्रयुक्त 'निराश्रय' पद की चर्चा आवश्यक है। दुनिया में कुछ ऐसे लोग हैं जो महसूस करते हैं कि किसी खास व्यक्ति या वस्तु के साथ के बिना उनका जीवन रुका हुआ है। ये लोग उन व्यक्तियों या चीजों के इतने अधिक आदी होते हैं कि वे उनके बिना कुछ समय तक नहीं रह सकते हैं। वह व्यक्ति या वस्तु उनके जीवन में एक बहुत बड़ा बंधन बनाती है। फलस्वरूप वे लोग उन व्यक्तियों या वस्तुओं की पकड़ से छूटकर बाहर नहीं आ पाते। परिणामस्वरूप उनका जीवन विषैला हो जाता है। गीता कहती है कि दूसरों के प्रति इस प्रकार का मोह नहीं रखना चाहिए और इन व्यसनी व्यक्तियों या वस्तुओं से छुटकारा पाना चाहिए। यदि मनुष्य ऐसे आसक्त व्यक्ति या वस्तु का आश्रय पूरी तरह से छोड़ सकते हैं, तो वह अपने दिल में महसूस करेंगे कि उन्होंने अब तक जो कुछ भी सोचा है वह गलत है, कोई काम उसका नहीं है, कोई काम उसके द्वारा नहीं किया जाता है, सभी क्रियाएं हैं परमपुरुष भगवान् की खातिर। जब मैं हवाई जहाज में चढ़ता हूँ और आसमान से ऊपर उठता हूँ, तो इतनी ऊँची उड़ान भरने में मेरी कोई व्यक्तिगत भूमिका नहीं होती है। मैं इतना ऊपर उठ सकता हूँ क्योंकि विमान मुझे वहां ले जाता है और जब वह उतरता है तो मैं नीचे आ सकता हूँ । मैं इसमें सिर्फ निष्क्रिय रूप से बैठता हूँ। इस उड़ान को अंजाम देने में मेरी कोई भूमिका नहीं है। बस ऐसे ही प्रभु ने मुझ से काम करवाया। मैं तो मशीन जैसा केवल अपने हाथ और पैर हिलाता हूँ। दरअसल मैं कोई काम नहीं करता। जब मनुष्य के हृदय में यह भाव उत्पन्न हो जाता है, तब वह पुरुष पूर्णकाम कहलाता है और वह परमात्मा से जुड़ जाता है।।२०।।

निराशीः यत-चित्त-आत्मा # त्यक्त-सर्व-परिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म # कुर्वन् न आप्नोति किल्विषम्।।२१।।

अनुवाद:- जिसके हृदय में आशा अर्थात् कामना नहीं है, जिसका

हृदय और बुद्धि संयमित है, जिसने 'अपना' होने का सारा बोध त्याग दिया है और जो शरीर नामक यंत्र के सहारे ही कार्य करता है, उसे पाप या कर्मबंधन छू नहीं सकते।।२१।।

व्याख्या:- इस श्लोक का अंतर्निहित अर्थ यह है कि जो वास्तव में ज्ञानी है वह जीवन के वास्तविक रहस्यों को जानता है। अतएव वह हृदय में कुछ पाने की आशा से कर्म नहीं करता और उसका हृदय विचलित नहीं होता, उसका हृदय बिखरा नहीं है, वह वास्तविक सत्य में समाया हुआ है, स्थिर है, अचल है। काम शरीर को करना पड़ता है। ज्ञानी व्यक्ति भी अन्य सभी की तरह शरीर को काम के साधन के रूप में उपयोग करता है। लेकिन शरीर उसके लिए एक यंत्र की तरह है। जब कोई मशीन काम करती है, तो उसे उसके ऑपरेटर द्वारा नियंत्रित तरीके से काम करने के लिए निर्देशित किया जाता है और मशीन खुद इस काम को करने के बदले में कुछ भी उम्मीद नहीं करती है। सच्चा ज्ञानी भी अपने हृदय में कर्म की कोई आशा नहीं रखता और संसार के संचालक प्रभु के मार्गदर्शन में निष्काम भाव से कर्म करता है। इस तरह से कार्य करने के लिए उसे कोई पाप या कर्म बंधन नहीं होता है।।२१।।

यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टो # द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धौ असिद्धौ च # कृत्वा अपि न निबध्यते।।२२।।

अनुवाद :- जो बिना किसी विशेष प्रयास के जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है उसी में संतुष्ट रहता है, जो सर्दी और गर्मी, सुख और दु:ख के परस्पर विरोधी भावों से मुक्त है, जिसके हृदय में कोई लोभ नहीं है, जिसके हृदय में दूसरों के प्रति ईर्ष्या नहीं है, जो सफलता और असफलता दोनों को बराबर मानता है, यद्यपि वह कर्म करता है, फिर भी उसे कर्म का कोई बंधन बांध नहीं सकता।।२२।।

गत-सङ्गस्य मुक्तस्य # ज्ञान-अवस्थित-चेतसः।
यज्ञाय आचरतः कर्म # समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

अनुवाद :- जिसका हृदय आसक्ति से मुक्त हो गया है, जिसका हृदय आत्म-ज्ञान से भर गया है और जो भगवान् को ध्यान में रखते हुए निष्काम रूप से कर्मयज्ञ संपादन करता है, उसके सभी कर्म बंधन छूट जाते हैं।।२३।।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः # ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्म-एव तेन गन्तव्यं # ब्रह्म-कर्म-समाधिना।।२४।।

अनुवादः- यज्ञ में आहुति ब्रह्म, यज्ञ में अर्पित घृत ब्रह्म, आहुति देने वाला ब्रह्म, यज्ञ की अग्नि ब्रह्म, जो होम करता है वह ब्रह्म, उसके द्वारा किया गया कर्म ब्रह्म है – जो व्यक्ति ऐसे विचारों पर ध्यान केंद्रित करता है वह अवश्य ही ब्रह्म को प्राप्त करता है।।२४।।

व्याख्याः- छांदोग्योपनिषद का मंत्र ३/१४/१ कहता है - "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् सभी वस्तुओं में केवल ब्रह्म को देखें। ब्रह्म को प्राप्त करने का यही एकमात्र उपाय है। यदि कोई व्यक्ति सभी वस्तुओं में ब्रह्म को देख सकता है, तो कोई अन्य भावना, आकांक्षा, वासना, आसक्ति आदि उसके हृदय में आश्रय नहीं पाएगी। तब मनुष्य एकचित्त होकर ब्रह्म का ध्यान कर सकेगा और फलस्वरूप उसे निश्चय ही ब्रह्म की प्राप्ति होगी। श्रीकृष्ण ने यहां लोगों को यह बड़ी सलाह दी है। ऐसी थी श्री चैतन्य महाप्रभु की स्थिति। उन्होंने हर चीज में कृष्ण को देखा। इसलिए उन्होंने कृष्ण को प्राप्त किया और एक समय कृष्ण में लीन हो गए।।२४।।

दैवम् एव अपरे यज्ञं # योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्म-अग्नौ-अपरे यज्ञं # यज्ञेन एव उपजुह्वति।।२५।।

अनुवाद :- कुछ अन्य योगी देवताओं की पूजा के रूप में यज्ञ करते हैं, जबकि अन्य ब्रह्म के रूप में अग्नि को आहुति देकर यज्ञ करते हैं अर्थात् समस्त कर्मों को ब्रह्म को अर्पण कर देता है ।।२५।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् ने अनेक बार 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया है। अब हमें यह जानने की आवश्यकता है कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है और 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ क्या है। तैत्तिरीय उपनिषद मंत्र २/१/३ में कहता है - ''सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म'' अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान, सनातन रूप है; बृहदारण्यक् उपनिषद का मंत्र ३।९।२८ कहता है - 'विज्ञानानंदं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म विज्ञान और आनंद है; बृहदारण्यकोपनिषद मंत्र ३।४।१ कहता है– ''यत्साक्षाद-परोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर:'' अर्थात् ब्रह्म वह है जो साक्षात् देखता है और जो शाश्वत आत्मा है। शंकराचार्य कहते हैं - ''अशनायादिसर्वसंसारधर्मवर्जितम्, नेति नेति इति निरस्ताशेषविशेषं ब्रह्मशब्देन उच्यते'' (शाङ्करभाष्य ४/२५) अर्थात् जो भूख-प्यास जैसे समस्त संसारधर्म से रहित है, जो वेदों द्वारा 'ऐसा नहीं', 'ऐसा नहीं' जैसे सभी विशेषणों से ऊपर है, वह 'ब्रह्म' कहलाता है। बृहदारण्यकोपनिषद का मंत्र ४/५/१५ कहता है - ''स एष नेति नेति आत्मा'' अर्थात् जिसे नेति नेति कहते हैं वही आत्मा अर्थात् ब्रह्म है।

ब्रह्म और ब्रह्मा दो नामों के वास्तविक अर्थ के बारे में आम लोगों को बहुत भ्रम होता है। दरअसल ब्रह्म और ब्रह्मा नाम दो पुरुषों को संदर्भित करते हैं। सृष्टि की रचना के प्रारंभ में ईश्वर द्वारा रचित प्रथम पुरुष ब्रह्मा हैं और इस ब्रह्मा के रचयिता विष्णु, नारायण, परब्रह्म हैं जो द्वापर युग में श्रीकृष्ण के नाम से जाने जाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद के मंत्र ३/१ में ब्रह्म

कौन हैं, इस बारे में बहुत स्पष्ट विचार दिया गया है – ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत प्रयन्ति अभिसंविशन्ति .... तत् ब्रह्म" इति। अर्थात् जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, जिससे सृष्टि के बाद सब प्राणियों का पालन-पोषण होता है, जीवन के अंत में जिसमें वे प्रवेश करते हैं और जिसमें वे विलीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण ही वही ब्रह्म हैं। तो ब्रह्म और ब्रह्मा दो अलग-अलग पुरुषों के नाम हैं।।२५।।

श्रोत्र-आदीनि इन्द्रियाणि अन्ये # संयम-अग्निषु जुह्वति।
शब्द-आदीन् विषयान् अन्य # इन्द्रिय-अग्निषु जुह्वति।।२६।।

अनुवाद :- अन्य कर्मयोगी आँख, कान आदि इंद्रियों को आत्मसंयम रूप अग्नियों में आहुति देते हैं। दूसरे योगी आंख, कान, जीभ, नाक और त्वचा से संबंधित शब्दादि वस्तुओं को इंद्रियरूपी अग्नियों मे हवन करते हैं।।२६।।

व्याख्या:- योगी दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार का योगी होता है जो आँख, कान, जिह्वा, नाक और त्वचा पाँचों ज्ञानेंद्रियों को पूरी तरह से संयमित करके इंद्रियरूपी अग्नियों मे यज्ञ संपन्न करते हैं। उनकी चेतना में कोई भी इंद्रिय कोई क्रिया नहीं कर सकती, वे सभी निष्क्रिय रहते हैं। इसे संयमयज्ञ कहा जाता है। परंतु एक अन्य प्रकार का योगी भी है जो इन इंद्रियों को संयमित किये बिना रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की वस्तुओं को संबंधित इंद्रियों में आहुति देते हैं अर्थात् उन सभी इंद्रियों की सहायता से वह पार्थिव वस्तुओं को ग्रहण करते हैं परंतु इस ग्रहण में उनके कुछ भी आसक्ति नहीं हैं। जैसे वे फूलों की सुगंध तो लेते हैं, परंतु उससे उनका मन उद्वेलित नहीं होता, और न कोई दुर्गन्ध उन्हें विचलित कर

सकती है। वे अपने कानों से गड़गड़ाहट की आवाज सुनते हैं लेकिन इससे वे डरते नहीं हैं। फिर से उनके कानों में खूबसूरत महिलाओं का नूपुर की आवाज सुनाई देती है लेकिन यह उनके मन को विचलित नहीं कर सकती। इसलिए इसे यज्ञ माना गया है। शास्त्रों में इसे इंद्रिय-यज्ञ कहा गया है। गीता के अनुसार पूर्ण वैराग्य से किया गया कोई भी कर्म योग है। निम्नलिखित श्लोकों में विभिन्न प्रकार के योगों का वर्णन है।।२६।।

सर्वाणि इन्द्रिय-कर्माणि # प्राणकर्माणि च अपरे।
आत्म-संयम-योग-अग्नौ # जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

अनुवाद :- अन्य कर्मयोगी इंद्रियों की समस्त क्रियाओं तथा सभी प्राण वायुओं की गतिविधियाँ को आत्म-ज्ञान द्वारा प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योगाग्नि में स्वाहा कर देते हैं।।२७।।

व्याख्या:- इस श्लोक में वर्णित आत्मसंस्यम का ही दूसरा नाम है योग समाधि-अवस्था । जब कर्मयोगी अपने मन से अपनी सभी इंद्रियों को वश में कर लेता है तब योगी समाधि-अवस्था को प्राप्त करता है । जब योगी इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, तो उनकी इंद्रियों की सभी गतिविधियाँ जैसे देखना, सुनना, चखना, बोलना, चलना और यहाँ तक कि साँस लेना भी अपने आप बंद हो जाता है। यहाँ आत्मसंयम योग की तुलना जलती हुई अग्नि से की गई है। जैसे अग्नि में जो कुछ भी अर्पित किया जाता है वह पूरी तरह से भस्म हो जाता है, तद्रुप इस आत्म-संयम-योग में, जो कुछ भी अर्पित किया जाता है वह जल जाता है और योगी का हृदय शुद्ध सोने में बदल जाता है जिससे योगी अपनी खोज में सफल हो जाता है अर्थात् वह भगवान् को प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है।।२७।।

द्रव्ययज्ञाः तपोयज्ञाः # योगयज्ञाः तथा अपरे।
स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञाः च # यतयः संशितव्रताः।।२८।।

अनुवाद :- कुछ योगी द्रव्ययज्ञ करते हैं, कुछ तपोयज्ञ करते हैं, अन्य योगयज्ञ करते हैं। और कोई दृढ़निश्चयी व्यक्ति सावधानीपूर्वक वेदों का अध्ययनरूप स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ करते हैं ।२८।।

व्याख्या :- भगवान् ने इस श्लोक में चार प्रकार के यज्ञों का उल्लेख किया है - द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ और स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ। कुछ बुद्धिमान कर्मयोगी सही तरीके से पैसा कमाते हैं, इस अर्थ में वे इसे देवताओं की पूजा, परोपकारी कार्यों जैसे कि तालाब खोदना, सड़कें बनाना, मंदिर, अस्पताल, गौशाला, धर्मशाला, पीने का पानी आदि बनाना आदि पर खर्च करते हैं। इसे द्रव्ययज्ञ कहते हैं। कुछ योगी कृच्छ्र- चांद्रयानदि व्रत का पालन करते हैं। इसे तपोयज्ञ कहते हैं। कई योगी अपने मानसिक वृत्तियों को संयमित करके समाधि में तल्लीन हो जाते हैं। इसे योगयज्ञ कहा जाता है। फिर, कई योगी वेदों को सुनते हैं, ध्यान करते हैं और इसके अर्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसे स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ कहते हैं।।२८।।

अपाने जुह्वति प्राणं # प्राणे अपानं तथा अपरे।
प्राण-अपान-गती रुद्धा # प्राणायाम-परायणाः।
अपरे नियत-आहाराः # प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।।२९।।

अनुवाद :- दुसरे कितने ही योगीजन अपानवायु में प्राणवायु को हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपानवायु को हवन करते हैं और कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणायाम परायण योगी प्राण और अपाण दोनों की गतिको रोककर प्राणों का प्राणों मे ही हवन करते हैं।।२९।।

व्याख्या:- इस श्लोक में वर्णित 'नियत-आहारा' शब्द का क्या अर्थ है? इस श्लोक का अर्थ समझाते हुए श्रीधराचार्य कहते हैं - "द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्हमवशेषयेत इत्वेवमादिवचनोक्त नियत आहारो" इति। अर्थात् पेट के दो भाग को भोजन से भरकर, एक भाग को जल से भरकर और शेष भाग को वायु की गति के लिए खाली छोड़ कर आहार पूरा करना 'नियत आहार' कहलाता है।।२९।।

सर्वे अपि एते यज्ञविदो # यज्ञक्षयित-कल्मषा:।
यज्ञशिष्ट-अमृत-भुजो # यान्ति ब्रह्म सनातनम्।।३०।।

अनुवाद :- ये सभी यज्ञको जाननेवाले साधकों ने यज्ञों द्वारा पापों से मुक्ति पाई। जो योगी यज्ञ के अमृत रूपी अवशेष का सेवन करने वाले हैं वह शाश्वत ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं।।३०।।

न अयं लोक: अस्ति अयज्ञस्य # कुत: अन्य: कुरुसत्तम।।३१।।

अनुवाद :- हे अर्जुन! जो यज्ञ नहीं करता उसे इस लोक में शांति नहीं मिलती, वह परलोक में सुखी कैसे होगा?।।३१।।

एवं बहुविधा यज्ञा # वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान् # एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

अनुवाद :- ब्रह्म के मुख में (दूसरे शब्दों में वेदों में) ऐसे नाना प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है। ये सब मन, इंद्रियों और शरीर की क्रियाओं द्वारा सिद्ध होते हैं और यदि तुम इस ज्ञान को प्राप्त कर लोगे तो तुम मुक्ति को प्राप्त हो जाओगे।। ३२।।

व्याख्या:- सामान्य पाठक को इस श्लोक का अर्थ कुछ अस्पष्ट लग सकता है। हम देख चुके हैं कि इस श्लोक से पहले भगवान् ने अर्जुन को मोक्ष के लिए उपयोगी योग या क्रिया के बारे में सलाह दी थी। यहाँ भगवान् का कहना है कि पूर्ववर्ती श्लोकों में वर्णित यज्ञों परमात्मा से जुड़े हैं और इसलिए मुक्तिदायक हैं। लेकिन उन यज्ञों के अलावा, ब्रह्म या वेद कई अन्य यज्ञों की बात करते हैं जो सभी क्रियाओं द्वारा सिद्ध होते हैं - केवल वाणी, मन और शरीर की क्रिया द्वारा किए जाते हैं और जिनसे आत्मा का कोई संबंध नहीं है क्योंकि आत्मा कर्म के अधीन नहीं है, वह कोई कर्म नहीं करता है। वह निष्क्रिय और निरासक्त है। तो वे सभी कार्य भगवान् कृष्ण द्वारा नहीं किए गए थे। वे कर्म लोगों को मुक्ति दिलाने में असमर्थ हैं। इसलिए वे अर्जुन से कहते हैं कि यदि वे अब तक बताए गए सभी योगों के तत्त्व को अच्छी तरह से जानता है और उसके अनुसार कार्य करता है, तो अर्जुन अब कर्म से बंधा नहीं रहेगा और वे मोक्ष प्राप्त करने में सक्षम होगा। अर्थात् भगवान् का कथन है कि वेदों या अन्यत्र वर्णित सभी सकाम क्रियाएं मोक्ष नहीं देता हैं सिवाय उन कार्यों के जिन्हें उन्होंने श्रीमदभगवद्गीता में दर्शाया हैं।।३२।।

श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञात् # ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्म अखिलं पार्थ # ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।

अनुवाद :- हे परंतप! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। हे पार्थ! सभी कर्म ज्ञान में समाप्त होते हैं।।३३।

व्याख्या:- ईश्वर ने ज्ञानयज्ञ को द्रव्यमय यज्ञ से श्रेष्ठ क्यों कहा है ? शंकराचार्य ने अपनी टीका में इस प्रश्न का बहुत ही सारगर्भित उत्तर दिया है - ''द्रव्यमयो हि यज्ञः फलस्य आरम्भको ज्ञानयज्ञो न फलारम्भकः अथ

श्रेयान् प्रशस्यतर:।'' अर्थात् द्रव्यमय यज्ञ हमें फल देते हैं लेकिन ज्ञान यज्ञ हमें पुनर्जन्म का फल नहीं देते हैं। अत: ज्ञानयज्ञ बेहतर है। द्रव्यमय यज्ञ किस प्रकार किया जाता है, इसकी चर्चा हम इस अध्याय के २८वें श्लोक में कर चुके हैं। इस यज्ञ को करने का उद्देश्य सामान्यतया पुण्य प्राप्त करना होता है जिसकी सहायता से यज्ञ करने वाला स्वर्ग में जा सकता है और उस पुण्य को प्राप्त करके शाश्वत सुख प्राप्त कर सकता है। लेकिन जैसा कि पहले चर्चा की गई है, स्वर्ग की प्राप्ति मानव जीवन का ईप्सित लक्ष्य नहीं है। मानव जीवन का असल लक्ष्य है मोक्ष। द्रव्ययज्ञ में मोक्ष के मार्ग में बाधा डालने वाली पार्थिव वस्तुओं को फैलाने की इच्छा और आकांक्षा होती है। द्रव्ययज्ञ के द्वारा पुण्य प्राप्त करने के फलस्वरूप मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, लेकिन जब उस पुण्य का संचय समाप्त हो जाता है, तो उसे फिर से जन्म लेना पड़ता है। लेकिन ज्ञानयज्ञ में संसार के किसी भी मामले को फैलाने की इच्छा नहीं होती है। ज्ञानयज्ञ का संबंध विवेक, विचार, आध्यात्मिक ज्ञान से है। इस योग में क्रोध, द्वेष, हिंसा, ईर्ष्या, वासना, आकांक्षा नहीं है, ज्ञान यज्ञ के मामले में भावनाओं की प्रधानता है, सांसारिक सुख का प्रसार नहीं है। ठीक से किए गए ज्ञानयज्ञ में कर्मबंधन उत्पन्न नहीं होते हैं। इसलिए ज्ञानयोगी को मोक्ष की प्राप्ति होती है। परिणामस्वरूप ज्ञानयोगी का पुनर्जन्म नहीं होता है। इसलिए भगवान् ने ज्ञानयज्ञ को द्रव्ययज्ञ से श्रेष्ठ बताया है।।३३।

तत् विद्धि प्रणिपातेन # परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं # ज्ञानिन: तत्त्वर्शिन:।।३४।।

अनुवाद :- तुम गुरु के चरणों में शरण लो, उन्हें श्रद्धा से प्रणाम करो, विनम्रतापूर्वक शास्त्रों के बारे में विभिन्न प्रश्न पूछो, एक मन से उनकी सेवा करो और उस तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करो। वह ज्ञानी तत्त्वदर्शी सद्गुरु तुम को इस संबंध में उचित उपदेश देंगे।।३४।।

यत् ज्ञात्वा न पुनः मोहम् # एवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतानि अशेषाणि # द्रक्षसि आत्मनि अथो मयि।।३५।।

अनुवाद :- हे पाण्डव! इस ज्ञान को जानने के बाद, आप फिर कभी इतने मोह को प्राप्त नहीं होंगे। इससे आप इस ब्रह्माण्ड में असीम जीवों को पहले अपने आत्मा में और फिर परमात्मा से जुड़े हुए अर्थात् मुझमें देखेंगे।।३५।।

अपि चेत् असि पापेभ्यः # सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञान-प्लवेन एव # वृजिनं संतरिष्यसि।।३६।।

अनुवाद :- (इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के फलस्वरूप) यदि तुम पापियों से भी अधिक पाप करते हो, तो भी यह आत्मज्ञानरूपी नाव तुम्हें पापों के गहरे सागर से अवश्य पार ले जाएगी।।३६।।

यथा एधांसि समिद्धः अग्निः # भस्मसात् कुरुते अर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि # भस्मसात् कुरुते तथा।।३७।।

अनुवाद :- हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि समस्त ईंधनों को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों के फलों को भस्म कर देती है।।३७।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् कहते हैं कि ज्ञानरूपी अग्नि कर्मों के समस्त फलों को भस्म कर देती है। लेकिन वह ज्ञान क्या है जो कर्म के समस्त फलों को अग्नि के समान भस्म कर देता है और मनुष्य को कर्म बंधन से मुक्त कर देता है? ऐसा कैसे होता है? उत्तर यह है कि यह ज्ञान आत्मतत्त्व का ज्ञान है। भगवान् ने पहले भी कई जगह कहा है कि आत्मा नित्य अर्थात् अविनाशी, सनातन है लेकिन शरीर नश्वर, अनित्य है। ईश्वर

सत् है लेकिन स्थूल जीव असत् है। ईश्वर ने इस महान संसार का निर्माण किया। वे इस संसार का पालनहार हैं। फिर भी उन्हें कर्तापन का बोध नहीं है अर्थात् वे स्वयं को इस संसार की रचना का कारण नहीं मानते। वे सोचते हैं कि उन्होंने प्रकृति के गर्भ में ही केवल इस संसार के निर्माण के बीज बोए हैं, यह संसार अपने भीतर की शक्ति के बल से अस्तित्व में आया है, उन्होंने स्वयं कुछ नहीं किया है, वे इस रचना का निमित्त मात्र हैं। फलतः उनके मन में इस सृष्टि के प्रति कोई ममता, आकांक्षा, आसक्ति या अधिकार का भाव नहीं है, वे अपने कार्यों के परिणामों के बारे में पूरी तरह से निरासक्त, निस्पृह हैं। इसलिए उनका कोई कर्मबंधन नहीं है। परंतु मनुष्य कुछ तुच्छ कर्म करके उच्च आत्म-अहंकार दिखाता है और उस काम के फल से गहरा लगाव रखता है। प्राकृत जीव अपने शरीर और जीवन को शाश्वत मानकर आत्म-दंभ में मदहोश हो जाता है, अपने को सबका स्वामी समझता है। इसलिए कर्म का बंधन उसे खा जाता है। फलस्वरूप उसे बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फंसना पड़ता है जिसके फलस्वरूप उसके लिए जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं होता। यह सब जन्मों-जन्मों से संचित हृदय की अज्ञानता और अविद्या के कारण होता है। लेकिन यदि वह उपरोक्त सम्यक ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तो उसके हृदय से अज्ञान और अविद्या का अंधकार दूर हो जाता है और उसके हृदय में सत्य का प्रकाश आलोकित हो जाता है। तब उसे अपने कर्मों के फल में कोई आसक्ति नहीं रहती, 'अपना' का भाव नहीं रहता। उसके हृदय में सुख-दुःख, लाभ-हानि, प्राप्ति-अप्राप्ति, स्वयं और परादि में कोई भेद नहीं रहता। सब मिलकर एक हो जाते हैं। वह फिर पूरी तरह से अनासक्ति के साथ सभी काम करता है, वह अब खुद को किसी भी वस्तु का स्वामी नहीं मानता है। न तो जन्म और न ही मृत्यु उसे सुख या दुख दे सकती है। तब उसे पता चलता है कि जीवों का जन्म प्रकृति के स्वाभाविक नियमों के अनुसार ही होता है,

यह जीवन पूरी तरह से नश्वर है, क्षणभंगुर है। अतः जीव की मृत्यु उसका स्वाभाविक परिणाम है। वह जान सकता है कि शरीर के मरने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता, कोई हानि नहीं होती। यही उसका यथार्थ आत्मतत्त्व-विषयक ज्ञान है। इस ज्ञान को प्राप्त करने से, उसके सभी कर्मबंधन समाप्त हो जाते हैं जिससे वह अब पुनर्जन्म के अधीन नहीं होता है। वह तब भगवान् के परमपद यानी मोक्ष को प्राप्त करता है।।३७।।

न हि ज्ञानेन सदृशं # पवित्रम् इह विद्यते।
तत् स्वयं योग-संसिद्धः # कालेन आत्मनि विन्दति।।३८।।

अनुवाद :- निश्चय ही इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र कोई दूसरी वस्तु नहीं है। कर्मयोग में सिद्ध साधक धीरे-धीरे उस ज्ञान को अपनी आत्मा में प्राप्त करता है।।३८।।

व्याख्याः- कर्मयोग के दीर्घकाल तक अभ्यास करने पर योगी के हृदय से राग और द्वेष का नाश हो जाता है और तब उसके समस्त हृदय निर्मल और पवित्र होने के कारण वह कर्मयोग में सिद्धि को प्राप्त होता है। फिर वह अपने हृदय से ममता, मोह, फल की इच्छा को त्याग देता है और ईश्वर की इच्छा के अनुसार ईश्वर के लिए कर्म करता है। तब उसे 'योग-संसिद्ध' पुरुष कहा जाता है। इस प्रकार जब वह पुरुष 'योग-संसिद्ध' की स्थिति को प्राप्त करता है, तो परमपुरुष भगवान् की कृपा से सारा ज्ञान स्वतः ही उसके अंतरात्मा में प्रकट हो जाता है। अर्थात् इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उसे किसी अन्य साधन का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। तब वह स्वयं महसूस करता है कि सभी प्रकार में प्रकृति के गुणों से परे, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ वे परमपुरुष भगवान् ही इस ब्रह्मांड का रक्षक, चालक और निर्वाहक हैं। उन्हीं की अंगुली के निर्देशन में यह संसार

चलता है, उन्हीं की अंगुली के निर्देशन में इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति, संहार होता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के बाद उसके हृदय में परम शांति, परम आनंद व्याप्त हो जाता है।।३८।।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं # तत्परः संयत-इन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् # अचिरेण अधिगच्छति।।३९।।

अनुवाद :- जिसका हृदय सात्त्विक श्रद्धायुक्त है, जो तत्पर और एकनिष्ठ है तथा जिसने अपनी इंद्रियों को संयमित कर लिया है, वह आत्मज्ञान प्राप्त करता है और इस ज्ञान को प्राप्त करके वह शीघ्र ही मन की परम शांति को प्राप्त करता है।।३९।।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में कहते हैं कि उपरोक्त ज्ञान को प्राप्त करके योगी शीघ्र ही अपने हृदय में परम शांति को प्राप्त कर लेता है। शंकराचार्य अपने गीता भाष्य में इसका कारण बताते हैं– ''सम्यग्दर्शनात् क्षिप्रं मोक्षो भवति'' अर्थात् हृदय में सही ज्ञान जाग्रत हो जाए तो द्रुत ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। वास्तव में मोक्ष ही जीवन का परम लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करने के बाद मनुष्य के पास प्राप्त करने के लिए और कुछ नहीं रहता। इंसान के हृदय में बेचैनी तब तक होती है जब तक उसे वह नहीं मिल जाता जो उसे सबसे ज्यादा प्रिय है। लेकिन जैसे ही वह उस परम वांछित वस्तु को प्राप्त कर लेता है, उसकी मन शांत हो जाता है, हालांकि यह शांति उसके दिल में स्थायी रूप से नहीं रहती क्योंकि उसकी वासना का कोई अंत नहीं है। लेकिन श्रद्धावान योगी का एकमात्र लक्ष्य मोक्ष है, इसलिए जब उसके हृदय में सही ज्ञान के जागरण से सनातन वांछित मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तो उसकी मन में कोई व्याकुलता नहीं रहती। इसलिए उसकी हृदय में परम शांति का वास होता है।।३९।।

अज्ञश्च अश्रद्दधानश्च # संशय-आत्मा विनश्यति।
न अयं लोकः अस्ति न परो # न सुखं संशय-आत्मनः।।४०।।

अनुवाद :- जो अज्ञानी है, जिसके हृदय में श्रद्धा नहीं है, जिसका हृदय संशय से भरा है, वह नष्ट हो जाता है। जिसका हृदय संदेह से भरा है, उसे न इस लोक में सुख है, न परलोक में। उसका इहलोक और परलोक सभी व्यर्थ है।।४०।।

योग-संन्यस्त-कर्माणं # ज्ञान-संछिन्न-संशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि # निबध्नन्ति धनञ्जय।।४१।।

अनुवाद :- हे धनंजय! जिसने शुद्ध कर्म योग द्वारा कर्म के समस्त फलों को ईश्वर को समर्पित कर दिया है, जिसने ज्ञान के द्वारा अपने हृदय से संदेह को दूर कर लिया है, उस आत्मवान पुरुष को कर्म नहीं बाँध सकते।।४१।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् 'योगसंन्यस्तकर्मा' के बारे में बोलते हैं। हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि 'संन्यासी' शब्द का अर्थ है त्याग करने वाला। अब, एक योगसंन्यस्तकर्मा क्या है और उसका स्वभाव क्या है? शंकराचार्य इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर देते हैं- "परमार्थदर्शनलक्षणेन योगेन सन्न्यस्तानि कर्माणि येन परमार्थदर्शिना धर्माधर्माख्यानि तं योगसन्न्यस्तकर्माणं।" अर्थात् एक व्यक्ति जो परमार्थदर्शी है, जिसने परमार्थरूप ज्ञान के माध्यम से सभी पाप और पुण्य कर्मों का त्याग कर दिया है, वह योगसंन्यस्तकर्मा है। वह आत्मा और ईश्वर के बीच एकता देखता है। इसलिए उसके हृदय से ज्ञानयोग और कर्मयोग के संशय बिल्कुल दूर हो जाते हैं। इसलिए उसे 'ज्ञान-संचिन्न-संशय' कहा जाता है। निष्काम कर्म योग करने से उसके हृदय से मैल दूर हो जाता है। तब उसके हृदय में आत्म-ज्ञान का प्रकाश जगमगा उठता है और

उनकी मन ज्ञान की अग्नि से जलता हुआ पवित्र हो जाता है। फिर कोई कर्म उसे बांध नहीं सकता।।४१।।

तस्मात् अज्ञान-सम्भूतं # हृत्स्थं ज्ञान-असिना-आत्मनः ।
छित्त्वा एनं संशयं योगम् # आतिष्ठ उत्तिष्ठ भारत।।४२।।

अनुवाद :- हे भारत! इसलिये हृदयमे स्थित अज्ञान से उत्पन्न इस संशयको आत्मज्ञानरूप तलवार के द्वारा काटें, केवल कर्म-योग का आश्रय लें और युद्ध के लिए सीधे खड़े हों।।४२।।

व्याख्या:- भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से इतनी देर बात करके यह जान लिया कि अर्जुन को इतना समझाने के बाद भी अर्जुन के मन में युद्ध को लेकर संशय बना रहा। लेकिन यह युद्ध तब तक नहीं होगा जब तक कि अर्जुन इस युद्ध को नहीं लड़ने का फैसला करता है और उस स्थिति में भगवान् कृष्ण का अधर्म को विनाश करने और दुनिया में धर्म की स्थापना करने का उद्देश्य पूरा नहीं होगा। अर्जुन युद्ध के लिए पूरी तरह से तैयार होकर युद्ध के मैदान में आ गया है। लेकिन जब उन्होंने यहां आकर अपने सामने असंख्य बुजुर्गों-भाइयों-मित्रों-रिश्तेदारों को देखा और उनकी आसन्न मृत्यु का चित्र मन की आंखों से देखा तो उनके मन में संशय का घना काला बादल छा गया कि क्या इससे लड़ना उचित होगा और उन्होंने न लड़ने का फैसला किया। भगवान् कृष्ण ने उन्हें आत्मा की अविनश्वरता और स्थूल शरीर की नश्वरता के बारे में पर्याप्त जानकारी दी। फिर भी अर्जुन के मन से संदेह के काले बादल नहीं हटे। एक बार वे कहते हैं कि वे गुरुओं पर तीर नहीं चला सकते, तो वे फिर कहते हैं कि गुरुओं और रिश्तेदारों को मारने से उसे जो धन प्राप्त होगा वे उनके रिश्तेदारों के खून से सना हुआ होगा, कभी-कभी वे कहते हैं कि भले ही कौरव आततायी

हैं वे उनके भाई हैं। इसीलिए वे अर्थशास्त्र के निर्देशों का पालन करते हुए उन्हें नहीं मार सकते। इसलिए वे क्षत्रिय धर्म छोड़कर भिक्षावृत्ति अपनाना चाहते हैं और भिक्षाटन करके अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। तब भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को यह कहते हुए सलाह दी कि अर्जुन के मन में अज्ञान ने बहुत सारी शंकाएँ पैदा कर दी हैं। इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सलाह दी कि वे अपने दिल के आत्म-ज्ञान को एक तेज तलवार के रूप में उपयोग करके अपने हृदय के संदेहों को जड़ से काटकर निष्काम कर्म योग में स्थित होकर युद्ध करे अन्यथा अर्जुन अपने क्षत्रिय धर्म का पालन न करने के कारण घोर पाप में लिप्त होंगे।।४२।।

।। चौथा अध्याय समाप्त ।।

पाँचवाँ अध्याय

कर्मसंन्यासयोग

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण # पुन: योगं च शंससि।
यत् श्रेय: एतयो: एकं # तत् मे ब्रुहि सुनिश्चितम्।।१।।

अनुवाद:- हे कृष्ण! आप मुझसे एक बार कहते हैं कि कर्म छोड़ दो और तुरंत फिर से कहते हैं कि कर्मयोग अपना लो। मुझसे कहिये इन दोनों में से कौन बेहतर है।।१।।

श्रींभगवान् उवाच

संन्यास: कर्मयोगश्च # नि:श्रेयसकरौ उभौ।
तयो: तु कर्मसंन्यासात् # कर्मयोगो विशिष्यते ।।२।।

अनुवाद:- श्रींभगवान् ने कहा- संन्यास अर्थात् कर्मत्याग और कर्मयोग दोनों से ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। लेकिन इन दोनों के बीच कर्मत्याग से कर्मयोग बेहतर है ।।२।।

व्याख्या:- गीता में पहले ही कहा जा चुका है कि ज्ञान योग कर्म योग से भी अधिक कठिन है। निष्काम कर्म योग करना अपेक्षाकृत आसान है। यदि ज्ञान योग को अपनाने वाला व्यक्ति कभी भी ज्ञान योग के मार्ग का परित्याग कर देता है और सांसारिक जीवन के सुखों के प्रति आकर्षित हो जाता है, तो उसका अंतिम पतन होता है। शास्त्रों में इस कार्य को हेय

दृष्टि से देखा गया है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति पहले धर्म, अर्थ और काम के आधार गृहस्थ धर्म को त्याग देता है, और उसके बाद फिर से उसमें प्रवेश करता है और संसार धर्म का सुख भोगना चाहता है, तो उसे कुत्ते की तरह अपनी ही उल्टी फिर खानी पड़ती है –

य: प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुन:।
यदि सेवेत तान् भिक्षु: स बै वान्ताश्यपत्रप:।।(७/१५/३६)

दूसरी ओर, निष्काम कर्मयोगी को ये सारे भय नहीं होते। यदि वह योग के इस मार्ग को बीच में ही छोड़ देता है और संसार की सामान्य गतिविधियों का आदी हो जाता है तो उसे कोई नुकसान नहीं है क्योंकि वह निष्काम कर्म-योग में लगे हुए संसार धर्म में ही था, उसे संसार में फिर से प्रवेश करने की कोई आवश्यकता नहीं है और यदि वह फिर से निष्काम कर्म-योग में लग जाता है तो उसने पहले निष्काम कर्म योग का सहारा लेकर जहाँ तक पुण्य प्राप्त किया था उसके पुन:प्राप्ति की शुरुआत उस बिंदु से ही फिर से शुरू हो जाते हैं। यद्यपि कर्मयोगी कार्य करता है, वह वास्तव में एक संन्यासी है। वह कर्म फल और मोह को त्यागकर सब कुछ श्रीभगवान् को समर्पित करके काम करता है। गीता में कहा गया है कि कर्मयोगी आसानी से संसार-बंधन से मुक्त हो जाता है (५/३) और वह जल्दी से भगवान् को प्राप्त करता है (५/६) और भगवान् हमेशा उनकी रक्षा करते हैं (९/२२), इस धर्मका थोड़ा सा भी अंश बड़े भारी भयसे रक्षा कर लेता है(२/४०)। दूसरी ओर, ज्ञान योग का अनुशीलन कहीं अधिक कठिन है। पहले कर्म योग (५।६) का अभ्यास किए बिना ज्ञान योग का अभ्यास करना संभव नहीं है (गीता ५/६) । इन्हीं सब कारणों से भगवान् ने कर्मयोग को ज्ञानयोग से श्रेष्ठ बताया ।

कर्म करना या उससे विरत रहना - इन दोनों में से क्या उचित है? इस संबंध में मन के द्वंद्व को दूर करने के लिए योगवशिष्ट ने इसे बहुत ही उपयुक्त ढंग से स्पष्ट किया है –

मम नास्ति कृतेन अर्थ न अकृतेन इह कश्चन।
यथा-प्राप्तेन तिष्ठामि हि अकर्मणि क आग्रह।।

अर्थात् मैं कार्य करूँ या न करूँ, दोनों का मेरे लिए एक ही अर्थ है, क्योंकि वस्तुतः मैं स्वयं कुछ नहीं करता। भगवान् की आज्ञा के तहत जो कुछ भी मुझे मिलता है मैं वह करता हूँ। फिर काम न करने में रुचि क्यों?।।२।।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी # यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निदद्वन्द्वो हि महाबाहो # सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।।३।।

अनुवादः- हे महाबाहो! जो ईर्ष्या नहीं करता, आकांक्षा नहीं करता, जानो कि वह सदा संन्यासी है। जो क्रोध, हिंसा, और कलह में लिप्त नहीं होता है, सुख-दुःख के द्वंद्व से रहित है वह निश्चय ही बड़े सुख में सभी कर्म बंधनों से मुक्त हो जाता है।।३।।

व्याख्याः- किसी के हृदय में क्रोध, द्वेष, हिंसा, कलह आदि के भाव होते हैं अर्थात् उसके मन में संसार की किसी वस्तु की कामना होती है और वह उस कामना के कारण ही ऐसा करता है और यदि उसके दिल में वासना है, वह कोई भी बंधन से मुक्त नहीं होगा। इसलिए उसे फिर से पुनर्जन्म के चक्र में पड़ना पड़ता है। परंतु जिसके हृदय में राग, द्वेष, अहङ्कार, क्रोध आदि की यह भावना नहीं है, उसके हृदय में निश्चय ही किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं है। इसलिए वह मृत्यु के बाद मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार का मनुष्य मन और शरीर से हमेशा संन्यासी ही होता है।।३।।

सांख्य-योगौ पृथक् बालाः # प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकम् अपि आस्थितः सम्यक् # उभयोः विन्दते फलम्।।४।।

अनुवादः- जो अज्ञानी और बचकाने हैं वे सांख्य-योग और कर्मयोग को भिन्न-भिन्न कहते हैं, पर ज्ञानी ऐसा नहीं कहते। यदि इन दोनों में से किसी एक को ठीक से आयत्त किया जाए, तो दोनों का ही फल मिलेगा।।४।।

व्याख्याः- इस श्लोक में भगवान् कहते हैं कि सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दोनों में से किसी एक को यदि ठीक से भक्तिपूर्वक आयत्त किया जाए तो उसका फल एक ही होता है। लेकिन ऐसा कैसे होता है इसके लिए कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता है क्योंकि कर्म योग का सार कर्म करना है और ज्ञान योग का सार कर्म का त्याग और ज्ञान की खोज है। भगवान् पहले भी कई बार कह चुके हैं कि पूर्ण भक्ति से सभी प्रकार की आकांक्षा, क्रोध, द्वेष, ममता आदि को त्याग कर, सभी कर्मों को भगवान् को समर्पित करके और पूरी तरह से शुद्ध हृदय से काम करते हुए व्यक्ति परमगति यानी मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। फिर से वे कहते हैं कि यदि योगी पूर्ण भक्ति और एकचित्तता के साथ शास्त्रों का पालन करते हुए ज्ञानयोग का अभ्यास करता है, तो योगी परमज्ञान प्राप्त करता है, जिसके परिणामस्वरूप उसका मोक्ष प्राप्ति होता है। तो ऐसा प्रतीत होता है कि योग के दो मार्ग अलग-अलग होते हुए भी वे एक ही संगम यानी मोक्ष पर मिलते हैं जैसा नदियाँ अलग-अलग स्रोतों से अलग-अलग दिशाओं में आगे बढ़ती हैं और सभी समुद्र में विलीन हो जाती हैं। गीता के अनुसार मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष है और कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों एक ही परिणाम देते हैं। लेकिन भगवान् ने यह भी कहा कि कर्मयोग को अपनाना ज्ञानयोग की तुलना में बहुत आसान है, ज्ञानयोग को अपनाना हर किसी के लिए संभव नहीं है लेकिन कोई भी व्यक्ति निष्काम कर्मयोग के मार्ग का अनुसरण कर सकता है। इसलिए

उन्होंने निष्काम कर्म योग अर्थात् युद्ध के परिणामों के बारे में सोचे बिना अर्जुन को अपने वर्णधर्म अर्थात् युद्ध लड़ने की उपेदश दी।।४।।

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं # तत् योगैः अपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च # यः पश्यति स पश्यति।।५।।

अनुवादः- सांख्य अर्थात् ज्ञानयोग करने वाले ज्ञानियों को जो स्थान प्राप्त होता है, निष्काम कर्मयोग करने वालों को भी वही स्थान प्राप्त होता है। जो सांख्य अर्थात् ज्ञान और कर्मयोग को समान देखता है वह यथार्थ देखता है।।५।।

व्याख्याः- जो कर्मयोग को ज्ञान प्राप्ति का साधन मानकर, शुद्ध हृदय से श्रद्धापूर्वक समस्त कर्मों का फल ईश्वर को अर्पण करता है और अपने सुख के लिए कुछ नहीं चाहता, वह भी उसी मोक्ष को प्राप्त करता है जैसा कि ज्ञान योगियों को प्राप्त होता है। अतः सत्य दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि कर्मयोग और ज्ञानयोग में प्रक्रिया भिन्न है, लेकिन उद्देश्य में कोई अंतर नहीं है, दोनों का उद्देश्य एक ही हैं। बारिश के पानी से भी प्यास बुझती है और कुएं के पानी से भी प्यास बुझती है। तो जो ज्ञानी है अर्थात् तत्त्व को सम्यक जानता है उसे प्यास बुझाने में वर्षा के जल और कुएँ के जल में कोई अंतर नहीं दिखता। ऐसा साधक कर्मयोग और ज्ञानयोग के फलों में कोई अंतर नहीं देखता। यदि कोइ पुरुष भक्ति और श्रद्धा के साथ जिस किसी भी मार्ग का अनुसरण करते हैं, वह अंत में एक ही स्थान पर पहुँच जाएगा - परमेश्वर परमपुरुष भगवान् का परम धाम।।५।।

संन्यासः तु महाबाहो # दुःखम् आप्तुम् अयोगतः।
योगयुक्तो मुनिः ब्रह्म # न चिरेण अधिगच्छति।।६।।

अनुवादः- हे महाबाहो! यदि आप निष्काम कर्म योग से जुड़े बिना

केवल संन्यास अर्थात् काम का त्याग करते हैं, तो आपको इससे दु:ख ही मिलेगा। दूसरी ओर, निष्काम कर्मयोग में लगे योगी शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।।६।।

व्याख्या:- भगवान् यहाँ कहते हैं कि जो कर्मयोग के बिना संन्यास लेता है उसे केवल कष्ट ही प्राप्त होता है। वास्तव में यदि मन शुद्ध नहीं है और अंतर से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद्, मात्सर्य पूर्णतया त्याग नहीं किया गया तो केवल एक कमंडलु धारण करके वन-वन भटकने से कुछ भी लाभ नहीं होगा। बल्कि यह उसके लिए अनंत दुख का कारण बनेगा। ऐसा साधु सच्चा त्यागी नहीं होता। बृहदारण्यकवार्तिक्सार में कहा गया है -

प्रमादिनो वहिश्चित्ता: पिशुना: कलहोत्सुका:।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसंदूषिताशाया:।। (१।४।११६७)

अर्थात् दैवयोग के कारण दूषित वृत्तिवाला संन्यासी प्रलाप करने वाला, बाह्य सुखों में लिप्त, शरारती और झगड़ालू होता है।

ऐसा यौगी को आदर्श त्यागी नहीं माना जा सकता। यदि एक मुमुक्षू पुरुष केवल यह सोचता है कि यह दृश्यमान संसार भ्रम है, एक सपने की तरह झूठा है, केवल ब्रह्म ही सत्य है और दुनिया में और कुछ भी मौजूद नहीं है, और इसलिए वह केवल ब्रह्म को स्वीकार करता है, लेकिन उसका अंत:करण शुद्ध नहीं है, उसके हृदय से कामनाएँ, क्रोध, द्वेष, लोभ, अहंकार अर्थात् 'मैं', 'मेरा' आदि आत्माभिमान नहीं गया है और यदि वह अपने हृदय को शुद्ध करने का कोई प्रयास नहीं करता है, तो उसके लिए किसी भी प्रकार के अनन्यचित्त होकर ज्ञानयोग में संलग्न होना संभव नहीं है। क्योंकि जब तक उपर्युक्त दोष उसके हृदय से पूरी तरह से नष्ट नहीं हो जाते, तब तक उसके लिए निराकार निर्गुण ब्रह्म के साथ, जो कि नित्य सच्चिदानंदघन है, एकात्म होकर रहना संभव नहीं होगा। परंतु, उसका मन शुद्ध नहीं होने के कारण, उसका हृदय मोह से प्रभावित हो जाएगा और

वह अच्छे रास्ते से भटक जाएगा, परमेश्वर भगवान् और स्वर्ग-नरकादि कर्मफलों में उसका कोई विश्वास नहीं होगा, वह पाप के कलंक में डूबा रहेगा और ज्ञान का मार्ग से गिर जाएगा। नतीजतन, उसका अनंत पीड़ा की प्रबल संभावना होगी। इसलिए उसे अपने साथ इस प्रकार की घटना घटित होने से रोकने के लिए निष्काम कर्मयोग के अपेक्षाकृत सरल मार्ग का अपने हृदय से अभ्यास करना चाहिए, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, आत्माभिमान अर्थात् 'मैं', 'मेरा' आदि अहङ्कार दूर करके मन की शुद्धि करनी चाहिए। इसके बाद ज्ञान योग के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए उसके लिए सिद्धि प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त होगा और कर्मयोग से जुड़ाव के कारण वह जल्द ही ब्रह्मपद को प्राप्त करेगा। इसलिए भगवान् कहते हैं कि यदि कोई कर्मयोग में सिद्ध हुए बिना ज्ञानयोग के मार्ग पर आगे बढ़ता है, तो उसे कष्ट के अलावा कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।।६।।

योगयुक्तो विशुद्ध-आत्मा # विजित-आत्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूत-आत्मभूत-आत्मा # कुर्वन् अपि न लिप्यते ।।७।।

अनुवादः- जो निष्काम कर्मयोग में लगा हुआ है, जिसका मन शुद्ध है, जिसका हृदय संयमित है, जिसने अपनी इंद्रियों को जीत लिया है, जो सभी प्राणियों में व्याप्त आत्मा में अपनी ही आत्मा को देखता है, यदि वह कर्म करता है, तो भी कर्म का बंधन उसे छू नहीं सकता।।।७।।

व्याख्याः- 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' (सर्वभूत-आत्मभूत-आत्मा) शब्द का क्या अर्थ है? शंकराचार्य कहते हैं कि जिसका मन शुद्ध और संयमित है, जिसने सभी रूपों में इंद्रियों को जीत लिया है, जो ब्रह्म से लेकर स्तंभ तक सभी प्राणियों में परमात्मा को देखता है, अर्थात् जो संसार के कण-कण, अणु, परमाणु, चेतन और अचेतन सभी वस्तु में ईश्वर की उपस्थिति देखता है, वह व्यक्ति 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' कहा जाता है - ''सर्वेषां ब्रह्मादीनां

स्तम्बपर्यन्तानां भूतानाम् आत्मभूत प्रत्येक चेतनो यस्य स सर्वभूतात्मभूतात्मा सम्यग्दर्शी'' इति। श्रीगौरांग महाप्रभु इस स्थिति का एक प्रमुख उदाहरण हैं।।७।।

नैव किञ्चित् करोमि इति # युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् # अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्
।।८।।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् # उन्मिषन् निमिषन् अपि।
इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु # वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

अनुवादः- निष्काम कर्म योग में लगा हुआ साधक देखता, सुनता, छूता, सूंघता, खाता, चलता, स्वप्न देखता, श्वास लेता, बोलता, मल-मूत्र त्यागता, बहुत कुछ ग्रहण करता, पलकें खोलता और बंद करता, फिर भी सोचता कि इंद्रियाँ अपने-अपने अर्थो में बरत रही हैं और इस दृढ़ विश्वास के साथ वह सोचता है कि वह खुद कुछ नहीं करता है।।८-९।।

व्याख्याः- तत्त्ववित् या तत्त्वदर्शी शब्द का क्या अर्थ है? शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा का यथार्थ स्वरूप का तत्त्व कहलाता है और जो उस तत्त्व को ठीक-ठीक जानता है वह तत्त्वदर्शी है - ''आत्मनो याथात्म्यं तत्त्वं वेत्ति इति तत्त्ववित् परमार्थदर्शी इत्यर्थः।'' बात को थोड़ा और स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि जो इस दृश्य संसार की घटनाओं को नश्वर, असत्य, स्वप्न के समान, मृगतृष्णा के समान भ्रम मानता है और सच्चिदानंद ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मानता है और इस प्रकार सदैव सनातन और नश्वर के तत्त्व को उचित रूप से जानकर निर्गुण, निराकार, सच्चिदानंदघन परब्रह्म परमात्मा के साथ संयुक्त रहता है, उसे तत्त्वदर्शी, तत्वविद्, परमार्थदर्शी पुरुष कहा जाता है।।८-९।।

ब्रह्मणि आधाय कर्माणि # सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन # पद्मपत्रम् इव अम्भसा।।१०।।

अनुवादः– जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल का पत्ता को जल स्पर्श नहीं कर सकता, उसी प्रकार जो स्वयं को ब्रह्म के प्रति समर्पित कर देता है और आसक्ति से मुक्त होकर समस्त कर्म करता है, उसे पाप स्पर्श नहीं कर सकता।।१०।।

कायेन मनसा बुद्ध्या # केवलैः इन्द्रियैः अपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति # सङ्गं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये।।११।।

अनुवादः– कर्मयोगी कर्मफल की आसक्ति और कर्तापन का अहंकार को त्याग कर आत्मशुद्धि के लिए केवल शरीर, मन, बुद्धि और इंद्रियों से ही कर्म करते हैं।।११।।

व्याख्याः– इस श्लोक में भगवान् कृष्ण मोक्षाभिलाषी निष्ठावान कर्मयोगी के एक महत्त्वपूर्ण लक्षण का उल्लेख करते हैं- 'केवलैः इन्द्रियैः अपि' अर्थात् निष्काम कर्मयोगी में कर्तापन का अहंकार नहीं होता। ऐसा लगता है कि वह जो कुछ भी कर रहा है, उसके साथ उसका कोई आंतरिक संबंध नहीं है। उसका किसी से कोई लगाव नहीं है। वह सोचता है कि वह नहाना आदि शौच की क्रिया करता हैं क्योंकि उसका काया यानी शरीर है। इसके साथ 'मैं' अर्थात् आत्मा का संबंध नहीं है। आत्मा नित्य पवित्र है। उसे किसी शुद्धि की आवश्यकता नहीं है।

उसके पास आंखें हैं इसलिए वह देखता है, कान है इसलिए वह सुनता है, नाक है इसलिए वह सूंघता है, जीभ है इसलिए वह स्वाद लेता है, मन है इसलिए वह ध्यान करता है, बुद्धि है इसलिए वह सिद्धांत करता है। इंद्रियाँ जो कुछ भी करता हैं वह प्रकृति के माया द्वारा निर्देशित हो कर ही करता है। इसके साथ 'मैं' अर्थात् आत्मा का संबंध नहीं है। आत्मा नित्य शुद्ध

है। उसे किसी शुद्धि की आवश्यकता नहीं है। इंद्रियों की कार्यप्रणाली का कोई भी प्रभाव उसे प्रभावित नहीं कर सकता। उसे देखी, सुनी आदि किसी भी वस्तु के प्रति कोई आकर्षण या ममता नहीं होती।

इस प्रकार आसक्ति से मुक्त होकर, निष्काम कर्मयोगी कार्य करते हैं जैसा कि जनकराजा किया करते थे। उन्होंने राज्य शासन किया, प्रजा पालन किया। लेकिन किसी बात में अहंकार का भाव नहीं था। शंकराचार्य निष्काम कर्मयोगियों की इस मानसिकता की समझाते हुए कहा- ''ममत्त्ववर्जितैः ईश्वराय एव कर्म करोमि न मम फलाय इति ममत्त्वबुद्धिशून्यैः'' अर्थात् वे सभी प्रकार के मोह से मुक्त हो जाते हैं और सभी कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर देते हैं और सभी प्रकार के कर्मफलों के प्रति आसक्ति त्याग कर कर्म करते हैं। कर्मयोगी अन्य सभी मनुष्यों की तरह ही कार्य करते क्यों प्रतीत होते हैं इसके बारे में रामानुजाचार्य कहते हैं कि वे पूर्व जन्मों के कर्म बंधनों को नष्ट करने के लिए कार्य करते हैं जो उनके हृदय में पिछले असंख्य जन्मों से संचित हैं- "आत्मगतप्राचीनकर्मबन्धनविनाशाय।" श्रीमद्भगवद्गीता कहती है कि जीवात्मा युगों-युगों में कई बार जन्म लेते हैं और उस जन्म के कुछ कर्म-बंधन अगले जन्म में रह जाते हैं। जब तक इनका नाश न हो जाए तब तक आत्मा की मुक्ति नहीं होती। फिर गीता भी कहती है कि कर्म न करो तो कर्म का बंधन नहीं छूटता। यही कारण है कि योगी कर्म के फल के लिए ममत्व बुद्धि के बिना मन की शुद्धता के लिए कार्य करते हैं, किसी वासना या इंद्रियों की इच्छा की पूर्ति के लिए नहीं।।११।।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा # शान्तिम् आप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण # फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

अनुवादः- जो निष्काम कर्म योग से जुड़े हैं, वे कर्म के फल को त्याग देते हैं और नैष्ठिकी शांति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं। जो लोग निष्काम

कर्मयोग में नहीं लगे हैं अर्थात् जो सकामचित्त हैं वे वासना से प्रेरित हैं और कर्म के फल के आदी हैं और कर्म के बंधनों से बंध जाते हैं।।१२।।

व्याख्या:- नैष्ठिकी शांति क्या है ? नैष्ठिक शब्द का अर्थ है अंतिम, परम आदि अर्थात् जिसके बाद कुछ भी न हो। जीवन का वास्तविक उद्देश्य है दिन के अंत में सच्चिदानंदघन परम प्रेममय विश्वविधाता परमपुरुष के श्रीचरणकमल में अभय परमाश्रय को प्राप्त करना। पृथ्वी दु:ख का आगार है जैसे मरुस्थल में रेत का अंतहीन ढेर, जल की एक-एक बूँद को देखना अत्यंत कठिन है, वैसे ही इस मायावी संसार में चारों दिशाओं में दुखों का अंतहीन सैलाब है। कहीं भी शांति नहीं है। इसलिए लोग थोड़ा शांतिसुधा पीने के लिए रोते हैं। परंतु मोहग्रस्त प्राणी को यह नहीं पता कि शांति कहाँ है। उसके सामने ठंडे पानी से भरा एक तालाब है। लेकिन वह उसे नहीं देख सकती। इसलिए वह माया से भरे हुए नेत्रों के कारण मृगतृष्णा के भ्रम को भूलकर उस दिशा में दौड़ पड़ता है। तो अंत में वह प्यास से मर जाता है। लेकिन सत्यद्रष्टा ऋषि जानता है कि जीवन की अंतिम, परम शांति भगवान् के शाश्वत, परम निवास में संग्रहीत है। इसलिए, वे जीवन में बड़ी निष्ठा के साथ योगाभ्यास करते हैं और परमेश्वर भगवान् की करुणा से उनके श्रीचरणकमल में आश्रय पाते हैं और परम शांति प्राप्त करते हैं। इस शांति से ऊपर या उसके बराबर कोई शांति नहीं है। इसे नैष्ठिक शांति कहते हैं।।१२।।

सर्वकर्माणि मनसा # संन्यस्य आस्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही # नैव कुर्वन् न कारयन् ।।१३।।

अनुवाद:- आत्म संयमित कर्मयोगी मन के द्वारा सभी कर्मों को त्यागकर नौ द्वारों वाले नगर में अर्थात् शरीर में स्वयं न कुछ करता हुआ, न कराता हुआ सुखपूर्वक रहता है ।।१३।।

व्याख्या:– देही अर्थात् आत्मा वह है जो हमारे शरीर में निवास करती है। अज्ञानता के कारण साधारण लोग अपने को ही देही समझते हैं। श्रीमद्भावद्-महापुराण के ग्यारहवें स्कंध में कहा गया है- "न आत्मा वपु: पार्थिवम् इन्द्रियाणि" इति। अर्थात् इनमें से शरीर या इंद्रियाँ कोई भी आत्मा नहीं है। हमारा शरीर विभिन्न इंद्रियों जैसे कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेंद्रिय आदि से बना है। उनमें से प्रत्येक के पास विशिष्ट कार्य हैं जो वे करना जारी रखेंगे। अज्ञानी व्यक्ति सोचता है कि यह वह है जो इंद्रियों के सभी कार्यों को करता है, इंद्रियाँ नहीं। और इंद्रियों को वश में करने का कोई प्रयत्न उसमें दिखाई नहीं पड़ता। कर्मों के फल में उसका मन आसक्त रहता है और उन्हीं के कारण उसके हृदय में क्षणिक सुख और दीर्घकालीन तीव्र दु:ख उत्पन्न होता है। परंतु जो सत्य द्रष्टा है वह जानता है कि ये कर्म केवल इंद्रियों द्वारा ही किए जाते हैं, इसमें उसकी कोई भूमिका नहीं है, इसलिए उसके मन में उनसे कोई आसक्ति नहीं है, सुख-दु:ख का बोध नहीं है, अधिकार का बोध नहीं है। इसलिए इन इंद्रियों के कर्मों के फल से उसके मन में कोई सुख या दुख उत्पन्न नहीं होता। जिस प्रकार जल में कमल के पत्ते को जल नहीं छू सकता, उसी प्रकार इंद्रियों द्वारा किए गए सभी कर्मों का फल उसे स्पर्श नहीं कर सकता, भले ही वह उसके चारों ओर रहता हो। सभी चीजों में रहते हुए भी, वह हर चीज के प्रति पूरी तरह से उदासीन है। हृदय में सच्चा ज्ञान प्रकाशित हो जाने के कारण उसे पूर्ण बोध हो जाता है कि वह स्वयं न तो कोई कर्म करता है और न ही किसी के द्वारा कोई कर्म कराता है। वह जानता है कि प्रकृति की क्रिया प्रकृति द्वारा ही की जाती है, उसमें उसके या किसी अन्य के हस्तक्षेप की कोई गुंजाइश नहीं है। इस सत्य के प्रकाश में वह अपने मन को तैयार करता है और ऐसे तैयार मन की सहायता से वह कर्तापन की भावना को हृदय से दूर करने में सक्षम होता है और परिणामस्वरूप देही अर्थात् आत्मा सदानंदचित्त होकर हमेशा दो

आंखें, दो नासिका, दो कान, मुंह, गुदा और मूत्रालय आदि नौ द्वारों वाले नगर में सुख और चैन के साथ रहता है। यहाँ गीता की शिक्षा है कि मन ही सब कुछ का मूल है। यह मन ही है जो मनुष्य को उसके ईप्सित मार्ग पर चलने में मदद करता है। मन के बारे में मैत्रेयी संहिता के चौथे प्रपाठक के छठे मंत्र में कहा गया है कि मन दो प्रकार का होता है - शुद्ध मन और अशुद्ध मन। वासनायुक्त मन को अशुद्ध मन कहा जाता है और वासना रहित मन को शुद्ध मन कहा जाता है -

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं च अशुद्धम एव च।
अशुद्धं कामसम्पर्कात शुद्धं कामविवर्जितम्।।

श्रीमद्भगवद्गीता के सिद्धांत के अनुसार यदि मन में वासना है तो मनुष्य जीवन में कर्मबंधन सृष्टि होता है और इसके परिणामस्वरूप मनुष्य जीवन की परम मुक्ति कभी संभव नहीं होती है। परंतु जब हृदय में सांसारिक पदार्थों के प्रति तीव्र बैराग्य पैदा हो जाती है, तो वासना मन से गायब हो जाती है और तभी योगी भगवान् विभु के परम पद यानी मोक्ष का पात्र बन पाता है। मन की सहायता से ही मनुष्य वह प्राप्त कर सकता है जो वह चाहता है- गिरना या उठना। मन एक जंगली घोड़े के समान है। अगर घोड़े को वश में नहीं किया जा सकता है तो सवार का मरना कोई असामान्य बात नहीं है। फिर, यदि आप उस भयानक घोड़े को ठीक से वश में कर सकते हैं, तो आप उसके साथ कई कठिन रास्तों को आसानी से पार कर सकते हैं। तो मनुष्य का प्राथमिक कर्तव्य है मन के रूप में वह भयानक घोड़े को वश में लाना और आरोही की इच्छा के अनुसार इसका इस्तेमाल करना। तभी लोग सही रास्ते पर आगे बढ़ने और ब्रह्मलोक का मार्ग प्रशस्त करने में सक्षम होगा। अन्यथा, अवज्ञाकारी अनियंत्रित मन इंद्रियों को गुमराह करेगा और लोगों को नर्क की ओर ले जाएगा ।।१३।।

न कर्तृत्वं न कर्माणि # लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल-संयोगं # स्वभावः तु प्रवर्तते।।१४।।

अनुवाद :- प्रभु यानी आत्मा मनुष्य के कर्तापन नहीं बनाता है, न ही वह मनुष्य के लिए कर्म बनाता है और न ही वह मनुष्य को कर्मफल से जोड़ता है। यह सब स्वभाव अर्थात् प्रकृति से जुड़ी वासना के प्रभावके कारण होता है।।१४।।

न आदत्ते कस्यचित् पापं # न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेन आवृतं ज्ञानं # तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

अनुवादः- विभु यानी सर्वव्यापक परमात्मा भगवान् किसी के पाप को स्वीकार नहीं करता और पुण्य को भी स्वीकार नहीं करता। क्योंकि जीवों का ज्ञान, अज्ञान के घोर अंधकार से आच्छादित है, वे भ्रांति से सोचते हैं कि ईश्वर सभी अच्छे और बुरे कर्मो का कर्ता है।।१५।।

व्याख्याः- ऊपर के दो क्रमागत श्लोकों में भगवान् बताते हैं कि वे स्वयं कोई कर्म नहीं करते और न ही किसी को उस कर्म के लिए प्रेरित करते हैं और न ही वे किसी के पाप-पुण्य स्वीकार करते हैं। लेकिन अज्ञान के कारण जीव उन्हें ऐसा ही समझते हैं। वास्तव में, लगभग सभी लोग सोचते हैं कि जो कार्य वे सकामचित्त के साथ करते हैं, वे ईश्वर द्वारा किए जाते हैं। लेकिन उनके यह विचार का कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि उन्हें यह विचार कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद के एक कथन से मिला है– ''एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषत।" अर्थात् ईश्वर जिसे इस दुनिया में ऊंचा उठाना चाहते हैं उसे अच्छे कर्म देते हैं और जिसे पतित करना चाहते हैं

उसे बुरे कर्मों में लगाते हैं। ज्यादातर लोग यही सोचते हैं। परंतु गीता कहती है कि मनुष्य का यह विचार पूर्ण अज्ञान से उत्पन्न हुआ है और पूरी तरह गलत है। यह पहले ही चर्चा की जा चुकी है कि भगवान् के दिल में किसी के प्रति कोई पक्षपात, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा नहीं है, वे किसी को नुकसान नहीं पहुँचाता है, वे पार्थिव जगत् के सभी मामलों के प्रति उदासीन हैं। इसलिए मनुष्य के लिए कोई काम बनाने या किसी को काम करने के लिए प्रेरित करने की उनकी आवश्यकता का कोई सवाल ही नहीं है। चूँकि श्रीमद्भगवद्गीता स्वयं ईश्वर की वाणी है इसलिए गीता और अन्य शास्त्रों के कथनों के बीच किसी भी तरह के विरोध की स्थिति में हम हमेशा गीता के मत को प्राथमिकता देंगे।।१५।।

ज्ञानेन तु तत् अज्ञानं # येषां नाशितम् आत्मनः।
तेषाम् आदित्यवत् ज्ञानं # प्रकाशयति तत् परम् ।।१६।।

अनुवादः- किंतु आत्मतत्त्व के ज्ञान से जिनका अज्ञान दूर हो जाता है, उनके लिए वह परम ज्ञान परम सत्य यानी परम पुरुषको उसी प्रकार प्रकट कर देता है जैसे सूर्य त्रिलोक को प्रकट कर देता है ।।१६।।

तत् बुद्धयः तत् आत्मानः # तत् निष्ठाः तत् परायणाः ।
गच्छन्ति अपुनरावृत्तिं # ज्ञान-निधूर्त-कल्मषाः।।१७।।

अनुवादः- जिसका बुद्धि परमात्मा में स्थित है, जो सदा परमात्मा के ध्यान में एकाग्रचित्त है, जिसका मन ईश्वर में लगा हुआ है, ईश्वर जिसकी शरण है, ज्ञान के प्रकाश से जिसके हृदय से अज्ञान दूर हो गया है, उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता, अर्थात् वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है।।१७।।

विद्या-विनय-संपन्ने # ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च # पण्डिताः समदर्शिनः ।।१८।।

अनुवादः- पण्डितगण विद्वानों, विनम्र ब्राह्मणों, गायों, हाथियों, कुत्तों और चांडालों आदि सभी को समान दृष्टि से देखते हैं यानी उन सभी में परमात्मा को देखते हैं।।१८।।

व्याख्याः- यदि इस श्लोक का अर्थ ठीक से न समझा जाए तो पाठक के मन में बड़ा भ्रम उत्पन्न हो सकता है। वह सोच सकते है कि भगवान् किस तरह की बात कर रहे हैं जब वे कहते हैं कि वे सबसे कम पढ़े-लिखे चांडाल को भी उसी दृष्टि से देखेंगे जिस दृष्टि से वे एक श्रेष्ठ विद्वान ब्राह्मण को देखते हैं। अर्थात् वे सबसे कम पढ़े-लिखे चांडाल को भी वही सम्मान देंगे जो वे विद्वान ब्राह्मण को देंगे और उत्तम पशु गाय और मध्यम वर्ग के पशु हाथी और निम्न वर्ग के पशु कुत्ता में कोई भेद नहीं करेंगे? तो इंसानों या जानवरों में गुण की पहचान कहां है? क्या उन्नत और पिछड़े में कोई फर्क नहीं रहेगा? यहीं सबसे बड़ी गलतफहमी है। भगवान् ने यहाँ ऐसा बिल्कुल नहीं कहा। उनका कहना है कि सिद्ध पुरुष के हृदय में कोई भेसभाव नहीं होती। वह अच्छी तरह जानता है कि संसार में एकमात्र सत्ता परब्रह्म का ही है। कोई दूसरा अस्तित्व नहीं है। इसलिए वह सबको समान रूप से देखता है। जो परमतत्त्व को जानता है वह सूर्य के समान है। जब सूर्य का उदय होता है तो पवित्र, अपवित्र, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, पर्वत, समुद्र, मरुस्थल आदि में कोई भेद किये बिना सभी को समान रूप से प्रकाश देता है। इसी प्रकार, परमतत्त्व का ज्ञानी ऊँच-नीच में कोई भेद नहीं करता। इसका कारण यह है कि वह सभी में एक ही परमात्मा को देखता है। भगवान् यहाँ दो चीजों के बीच के व्यावहारिक अंतर को नकारते नहीं हैं। जैसे सिर और पैर। जो काम सिर से किया जा सकता है वह पैरों से नहीं किया जा सकता। लेकिन अगर सिर और पैर दोनों में चोट लगी हो तो सिर और

पैर दोनों को समान महत्त्व देते हुए उपयुक्त देखभाल दी जानी चाहिए। सिर को अधिक महत्त्व देना और पैरों की उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा। ब्राह्मण और चांडाल दोनों की समाज में अलग-अलग उपयोगिता है। एक का काम दूसरे को नहीं दिया जाएगा। यह व्यावहारिक अंतर है। लेकिन एक और सभी में मौजूद एक ही परमात्मा में कोई अंतर नहीं है। दो सिर में, एक टोपी से ढका हुआ और दूसरा पगड़ी से ढका हुआ। दोनों की शक्ल अलग-अलग है, लेकिन टोपी और पगड़ी उतार दो तो सिर एक ही नजर आता है। इसी प्रकार तत्त्वदर्शी मनुष्य जीव, पशु, कीट, कीड़ों का बाह्य रूप से भिन्न-भिन्न दर्शनों में एक ही वस्तु को देखते हैं - परमात्मा। इसी कारण वह किसी के साथ भेदभाव नहीं करते और सभी को समान रूप से देखते हैं। इसीलिए भगवान् सलाह देते हैं कि किसी को ऊंच-नीच का भेद किए बिना और यह जानते हुए कि सब में वही एक भगवान् ही निवास करते हैं, किसी भी प्राणी को हेय दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। गौरांग महाप्रभु ने इस दृष्टि से ब्राह्मणों, चांडालों, साधुओं, शराबियों, स्वधर्मियों, विधर्मियों सभी को समान रूप से प्रेम बांटा।।१८।।

इह एव तैः जितः सर्गो # येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म # तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

अनुवादः- जिनके हृदय में भेद-भाव नहीं है, वे इस दुनिया में रहकर ही इस नश्वर संसार को जीत लेते हैं। वे परम ब्रह्म की तरह शुद्ध और समबुद्धि हैं। इसलिए वे ब्रह्म में ही रहते हैं।।१९।।

व्याख्याः- यहाँ भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जब किसी व्यक्ति सभी प्राणियों के प्रति समदृष्टि संपन्न होता है, तभी परम पवित्र ब्रह्म उस पर करुणा करते हैं और उसे ब्रह्मलोक में स्थान प्राप्त होता है अर्थात् उसे मुक्ति प्राप्त होती है। अन्यथा, मनुष्य के लिए कभी भी परम ब्रह्म की दया प्राप्त करना संभव नहीं है, चाहे वह कितनी ही पूजा, अनुष्ठान आदि कर ले।।१९।।

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य # न उद्विजेत् प्राप्य च अप्रियम्।
स्थिरबुद्धिः असंमूढो # ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

अनुवादः- जिसकी बुद्धि स्थिर है, जो मोह से मुक्त है, जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म में स्थित है। वह अपनी पसंद की चीजों को पाकर खुश नहीं होता है और न ही वह उन चीजों को पाकर नाराज होता है जो उसे पसंद नहीं है।।२०।।

बाह्यस्पर्शेषु असक्त-आत्मा # विन्दति आत्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्त-आत्मा # सुखम् अक्षयम् अश्नुते ।।२१।।

अनुवादः- इंद्रियों की वस्तुओं से अनासक्त मनुष्य उस सुख को प्राप्त करता है जो आत्मा में विद्यमान है और क्योंकि वह परमात्मा से जुड़ा हुआ है, वह सदैव उस अक्षय सुख का अनुभव करता है।।२१।।

ये हि संस्पर्शजा भोगा # दुःख-योनय एव ते।
आदि अन्तवन्तः कौन्तेय # न तेषु रमते बुधः ।।२२।।

अनुवादः- हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! इंद्रियों के माध्यम से प्राप्त होने वाले सभी सुख हमें दुख देते हैं और वे सभी क्षणभंगुर हैं। इसलिए समझदार लोग इन्द्रिय सुखों से कोई सुख नहीं पाते।।२२।।

शक्नोति इह एव यः सोढुं # प्राक् शरीर-विमोक्षणात्।
काम-क्रोध-उद्भवं वेगं # स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

अनुवादः- जो इस संसार में मृत्यु से पहले ही नश्वर शरीर में काम और क्रोध के सभी प्रलोभनों को त्यागने में सक्षम है, वह निष्काम कर्मयोग में लगा हुआ है, वह सुखी मनुष्य है।।२३।।

व्याख्या:- भगवान् इस श्लोक में मनुष्य वास्तव में कैसे सुखी हो सकता है इस संबंध में कहता है कि जो इस नश्वर शरीर में मरने से पहले काम, क्रोध, मन, नेत्र आदि के संतापों त्यागने में सक्षम है वह सुखी है। काम-क्रोध को जीवन काल में छोड़ने की बात क्या है और किस प्रकार का है, इसकी गहराई को इन दो-चार शब्दों से समझना बहुत मुश्किल है। जीवन काल में सुख-दु:ख के इस त्याग की सीमा के सम्बन्ध में श्रीधराचार्य कहते हैं– ''यथा प्राणशून्य: कामक्रोधवेगं सहते तथा मरणात्प्रागपि जीवन्नेव य: सहते स एव युक्त: सुखी च।'' अर्थात् जब शरीर में प्राण नहीं होते, तब जैसे शरीर काम और क्रोध के वेगों को सह लेता है, अर्थात् कितनी ही सुंदरी स्त्रियाँ शव को छूकर सम्मान देती हैं, बच्चे विलाप करते हैं, आग में जलाते हैं, पर वह शव काम-क्रोध, सुख-दु:ख के प्रति उदासीन रहता है ठीक वैसे ही जब कोई मनुष्य अपने जीवनकाल में काम-क्रोध के वेगों को झेल सके, वही सच्चा निष्काम कर्मयोगी और सुखी मनुष्य है।

नारदपरिव्राजक उपनिषद में हमें इस दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है –

प्राणो गते यथा देह: सुखं दु:खं न विन्दति।
तथा चेत्प्राणयुक्ता अपि स कैवल्याश्रयो भवेत्।।(३।२७)

अर्थात् जिस प्रकार शरीर के मरने पर सुख या दुख की अनुभूति नहीं रहता, उसी प्रकार यदि मनुष्य को जीते-जी सुख-दु:ख का बोध न हो, तो कहा जा सकता है कि उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है।

इसलिए, यदि मनुष्य इस श्लोक में वर्णित भगवान् के कथन का सही अर्थ समझ ले और उसके अनुसार कर्म करे, तो उनका कोई कर्म बंधन पैदा नहीं होगा।।२३।।

य: अन्त:सुख अन्तराराम: # तथा अन्तज्योति: एव य:।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं # ब्रह्मभूत: अधिगच्छति ।।२४।।

अनुवाद:- जो अपने भीतर सुख का अनुभव करता है, जो अपने

अन्त:करण में खुशी और आनंद महसूस करता है, जिसका हृदय सत्य और ज्ञान के प्रकाश से आलोकित है, वह निष्काम कर्मयोगी है, वह ब्रह्म में निवास करता है और ब्रह्म में निर्वाण को प्राप्त होता है ।।२४।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् योगी के ब्रह्मनिर्वाण और ब्रह्मभूत की स्थिति को प्राप्त करने की बात करते हैं। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि ब्रह्मनिर्वाण और 'ब्रह्मभूत अवस्था' किसे कहते हैं। ब्रह्मभूत शब्द अभेदमार्ग के उच्च वर्गों के एक योगी को संदर्भित करता है। जब एक ज्ञानयोगी योगाभ्यास करते समय अपने हृदय में स्थित सभी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि को त्याग देता है, तब उसके हृदय से रजोगुण और तमोगुण शांत हो जाते हैं और वह सच्चिदानंदघन ब्रह्म के साथ एकत्व अनुभव करता है और उसे इस ब्रह्मांड में केवल परब्रह्म के अलावा कुछ भी दिखाई नहीं देता है। तब वह अपने को ब्रह्म समझने लगता है - 'सोऽहमस्मि' (ईशोपनिषद्-१६), 'अहं ब्रह्मस्मि' (वृहदारण्यकोपनिषद १।४।१०) और वह परमात्मा में स्थिरता प्राप्त करता है। लेकिन इस अवस्था में, भले ही रज और तम के ये दो गुण उसके दिल से हटा दिए गए हों, वह प्रकृति के इन गुणों को पूरी तरह से पार नहीं कर सका और इस अवस्था में ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सका, हालाँकि वह हमेशा खुद को ब्रह्म के साथ एकरूप मानता है, हमेशा ब्रह्म के साथ एकाकार रहता है। योगी के ब्रह्म को प्राप्त करने से ठीक पहले की यह अवस्था 'ब्रह्मभूत अवस्था' कहलाती है। परंतु ऐसी अवस्था में दृढ़ और स्थिर रहकर वह शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है और जब योगी ब्रह्मभूत अवस्था की स्थिति को पार कर ब्रह्म को प्राप्त करता है, तो इसे 'ब्रह्मनिर्वाण' कहा जाता है। तो ब्रह्मनिर्वाण ब्रह्मभूत अवस्था का परिणाम है।।२४।।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम् # ऋषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्न-द्वैधाः यत-आत्मानः # सर्वभूत हिते रताः।।२५।।

अनुवादः- जिन ऋषियों अर्थात् सम्यग्दर्शियों के हृदय सभी अशुद्धियों से मुक्त हैं, जिनके हृदय में कोई संशय नहीं है, जिनकी आत्मा संयमित है, जो सभी प्राणियों के कल्याण के लिए समर्पित हैं, जिनके हृदय ब्रह्म में लीन हो जाते हैं वे ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।।२५।।

काम-क्रोध- वियुक्तानां # यतीनां यत-चेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं # वर्तते विदित-आत्मनाम्।।२६।।

अनुवादः- जिन संतों का हृदय काम और क्रोध से रहित है, जो यत्नशील है, जिनका मन संयमित है, जो आत्मतत्त्वज्ञ हैं, उनके चारों ओर ब्रह्मनिर्वाण विराजमान रहता है अर्थात् वे ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं।।२६।।

व्याख्याः- यहाँ कहा गया है कि ब्रह्मनिर्वाण संत के चारों ओर निवास करता है लेकिन कैसे? श्रीचैतन्य महाप्रभु कृष्ण को अपने चारों ओर देखते थे - उन्होंने कृष्ण को जल में देखा, उन्होंने कृष्ण को भूमि, वृक्षों, वन, लताओं, अन्य पशुओं, शराबी, समुद्र के नीले जल, समुद्र के किनारे के वृक्षों, और सभी पर देखा और कृष्ण के लिए उन्हें लगातार आँसू बहाए। और वे कृष्ण के पीछे 'हे कृष्ण, हे कृष्ण' कहते हुए दौड़ते रहते थे क्योंकि वे हमेशा कृष्ण के चिंतन में इतना लीन रहते थे कि उन्हें लग रहा था कि कृष्ण स्वयं हमेशा विभिन्न वस्तुओं का रूप धारण करके उनके चारों ओर मौजूद हैं। इसी प्रकार संतों के हृदय में ब्रह्म-चेतना इस हद तक व्याप्त हो जाती है कि उन्हें सदैव अनुभव होता है कि ब्रह्म हमेशा हर जगह उनके आगे और पीछे, दाएं और बाएं, नीचे और ऊपर सर्वत्र विद्यमान है और उन्हें लगता है कि उनकी मुक्ति ब्रह्म का रूप धारण करके उनके चारों तरफ विद्यमान है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि निष्काम कर्मयोगी उनके चारों ओर ब्रह्मनिर्वाण में रहता है।।२६।।

स्पर्शान् कृत्वा बहिः बाह्यान् # चक्षुः च एव अन्तरे भ्रुवोः ।
प्राण-अपानौ समौ कृत्वा # नासा-अभ्यन्तर-चारिणौ ।।२७।।
यत-इन्द्रिय-मनो बुद्धिः # मुनिः मोक्ष-परायणः।
विगत-इच्छा-भय-क्रोधो # यः सदा मुक्तः एव सः।।२८।।

अनुवादः- बाह्य इंद्रियविषयों को बाहर करके अर्थात् उनका त्याग करके, नेत्रों और भौहों के बीच दोनों नासिका छिद्रों में प्रवाहित प्राण और अपान वायु को स्थिर करके, इंद्रियों, मन और बुद्धि को संयमित करके, मन से इच्छा, भय और क्रोध को दूर करके जो संत मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है वह सदा मुक्त होता है ।।२७-२८।।

भोक्तारं यज्ञ-तपसां # सर्व -लोक-महेश्वरम्।
सुहृदं सर्व-भूतानां # ज्ञात्वा मां शान्तिम् ऋच्छति।।२९।।

अनुवादः- मैं समस्त यज्ञों और तपस्याओं को प्राप्त करने वाला हूँ, मैं सर्व-लोक-महेश्वर अर्थात् सभी लोकों के देवताओं का ईश्वर हूँ, मैं सभी जीवों का उपकार करने वाला हूँ। जो ज्ञानी पुरुष इस परम तत्त्व को जान लेते हैं, वे परम शांति को प्राप्त हो जाते हैं।।२९।।

व्याख्याः- श्रीमद्भगवद्गीता में यहाँ कहा गया है कि इस ब्रह्माण्ड के स्रोत श्रीकृष्ण हैं, प्रत्येक वस्तु का अंत श्रीकृष्ण हैं। इसलिए, जो कुछ भी पूजा करता है, जो भी यज्ञ करता है, जो भी तपस्या करता है, सबका उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। कोई भी भक्त चाहे किसी भी देवता को कुछ भी अर्पित करे, वह सभी भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में ही पहुँचती हैं। इस सत्य को जानकर मनुष्य को केवल भगवान् श्रीकृष्ण की ही शरण लेनी चाहिए।।२९।।

।। पाँचवाँ अध्याय समाप्त ।।

छटा अध्याय

आत्मसंयमयोग

श्रीभगवान् उवाच

अनाश्रितः कर्मफलं # कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च # न निरग्निः न च अक्रियः।।१।।

अनुवादः- श्रीभगवान् ने कहा- जो कर्मफल के बारे में सोचे बिना कर्तव्य कर्म करता है वह संन्यासी और योगी है। जिसने केवल अग्नि-होम, यज्ञ, धार्मिक संस्कार और सभी प्रकार के कार्यों को त्याग दिया है, उसे संन्यासी या योगी नहीं माना जा सकता है। जो सभी शारीरिक क्रियाओं को त्यागकर केवल ध्यान में बैठा रहता है, वह भी योगी नहीं है।।१।।

व्याख्याः- तीसरे अध्याय में भगवान् ने निष्ठा के दो प्रकार बताए हैं- ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा। जो ज्ञान के प्रति समर्पित हैं वे संन्यासी हैं और जो कर्म के प्रति समर्पित हैं वे निष्काम कर्मयोगी हैं। यहाँ भगवान् ने कहा है कि मनुष्य एक ही समय में कब संन्यासी और कर्मयोगी दोनों ही हो सकता है और किन मामलों में कर्म छोड़ देने पर भी मनुष्य को संन्यासी नहीं माना जा सकता है।

जो मनुष्य परमेश्वर से किसी फल की आशा न करके यह सोचता है कि उसका एकमात्र कार्य नि:स्वार्थ भाव से परमेश्वर की सेवा करना और अपना कर्तव्य करना है, वह ज्ञाननिष्ठ अर्थात् संन्यासी और कर्मयोगनिष्ठ अर्थात्

कर्मयोगी दोनों ही है। यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि जो पुरुष पार्थिव संसार के सभी संकल्प अर्थात् वासना और आलस्य को त्याग देकर अपने सामर्थ्य के अनुसार अपने वर्णाश्रम के अनुकूल शास्त्रों द्वारा निर्धारित सभी कर्तव्यों जैसे नैमित्तिक योग, दान, तपस्या, शारीरिक कार्य, लोक सेवा आदि को पालन करता है वह उस ज्ञान को प्राप्त करता है जो सांख्य योग और निष्काम कर्म योग का संयुक्त परिणाम है। इसलिए वह संन्यासी और कर्मयोगी दोनों है क्योंकि वह फल की आशा त्याग कर वेदविहित कर्म कर रहा है, इसलिए वह ज्ञानी अर्थात् संन्यासी है और अन्य कर्तव्य भी अनासक्त चित्त से कर रहा है, इसलिए वह कर्मयोगी है।

जब योगी आँख, कान, जिह्वा, नाक और त्वचा पाँचों ज्ञानेंद्रियों और वाक हाथ, चरण, गुदा और उपस्थ पाँचों कर्मेन्द्रियों को बुद्धि से दूर करके अपने मन में इस प्रकार घोलता है कि उसके मन में सांसारिक वस्तुओं के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता और जब मन में यह निश्चित हो जाता है कि एकमात्र भगवान् ही परम आश्रय हैं, उनके अलावा कोई नहीं है, उसे किसी और चीज में कोई दिलचस्पी नहीं रहता, तो वह एक सच्चे ज्ञानयोगी बन जाता है। इस अवस्था में वह जीवात्मा के भीतर परमात्मा को देखता है। इसलिए कठोपनिषद भी ज्ञानियों को निर्देश देता है कि वे इंद्रियों को मन के हवाले कर दें - "यच्छेद् वाङ मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञान आत्मनि" (१।३।१३)।

परंतु जिसने केवल अग्नि या सभी प्रकार के कर्मों का त्याग करके संन्यास ले लिया है लेकिन मन से राग, दम्भ, आसक्ति, क्रोध, द्वेष आदि को नहीं त्याग सका है, उसे संन्यासी नहीं कहा जा सकता और न ही उसे योगी कहा जा सकता है। संन्यासी या योगी माने जाने के लिए आवश्यक शर्त है हृदय से समस्त पार्थिव वस्तुओं के प्रति आसक्ति का त्याग करना।।१।।

यं संन्यासम् इति प्राहुः # योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न हि असंन्यस्त-सङ्कल्पो # योगी भवति कश्चन ।।२।।

अनुवादः- हे पाण्डुपुत्र अर्जुन! जिसे संन्यास कहते हैं वही योग अर्थात् कर्मयोग है। यदि कोई भी पुरुष संकल्प यानी ममता और राग-द्वेषसे संयुक्त सांसारिक विषयोंका चिंतन त्याग नहीं करता तो वह योगी नहीं बन सकता ।।२।।

व्याख्याः- 'न्यास' = निक्षेप यानी त्याग । संन्यास शब्द का अर्थ है त्याग । लेकिन गीता में जिस त्याग को 'संन्यास' कहा गया है वह क्या है? श्रीधराचार्य गीता में प्रयुक्त 'संन्यास' शब्द का अर्थ बताते हैं - "फलसंकल्पत्यागसाम्यात् संन्यासी।" अर्थात् किए गए कर्मों के फल की आसक्ति को त्यागना ही संन्यास है। भगवान् कहते हैं कि संन्यास और योग पर्यायवाची शब्द हैं। शंकराचार्य गीता में उक्त योगी की व्याख्या करते हुए कहते हैं – "यः कश्चन कर्मी संन्यस्तफलसंकल्पो भवेत् स योगी समाधानवान् विक्षिप्तचित्तो भवेत् चित्तविक्षेपहेतोः फलसंकल्पस्य संन्यस्तात् इति अभिप्रायः।" अर्थात् जिसने हृदय से अपने कर्मों के फल की आकांक्षा का त्याग कर दिया है, वही योगी है। अतः गीता के शब्दों में कोई भी व्यक्ति केवल तभी संन्यासी नहीं बन सकता जब वह अपने कर्मों के फल की इच्छा को त्यागे बिना घर छोड़ कर वन को चला जाता है। दूसरी ओर, यदि कोई घर में रहकर भी मन की सभी लालसाओं, इच्छाओं और अपेक्षाओं के बिना काम कर सकता है, तो उसे एक सच्चा संन्यासी माना जाएगा, जिसके सबसे अच्छे उदाहरण ठाकुर श्रीरामकृष्ण हैं।।२।।

आरुरुक्षोः मुनेः योगं # कर्म कारणम् उच्यते।
योगारूढस्य तस्य एव # शमः कारणम् उच्यते ।।३।।

अनुवादः- जो योग में लगना चाहता है उसे निरासक्त कर्म करना चाहिए। लेकिन जो पहले से ही योग की स्थिति में है, उसके लिए उस अवस्था में रहने का तरीका है 'शम' (कर्मनिवृत्ति) यानी दिल का सभी

संकल्पों को त्याग कर मन की शांति बनाए रखना।।३।।

व्याख्या:- अनासक्त कर्म का पालन ही सिद्धि का साधन है। ईशोपनिषद का दूसरा मंत्र अनासक्त कर्म का गुणगान करता है और कहता है –

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि न अन्यथा अस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

अर्थात् जो मनुष्य सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखता है उसे कर्म करके ही जीना चाहिए। निष्काम कर्म के प्रदर्शन के अलावा उसके पास जीवन में बुराइयों से छुटकारा पाने का कोई दूसरा रास्ता नहीं है। यहाँ कहा गया है कि दीर्घ जीवन जीने के लिए मनुष्य को निरासक्त कर्म करना चाहिए। नहीं तो जीवन कलुषता से भर जाएगा।।३।।

यदा हि न इन्द्रियार्थेषु # न कर्मसु अनुषज्यते।
सर्वसंकल्प-संन्यासी # योगारूढः तदा उच्यते ।।४।।

अनुवाद:- जब योगी जड़-जगत् की कामनाओं से मुक्त होकर इंद्रियों द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं और कर्मों के प्रति आसक्ति छोड़ देता है, तो वह सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़ अर्थात् योग में स्थित कहा जाता है।।४।।

व्याख्या:- यहाँ सर्वसंकल्प-संन्यासी शब्द का प्रयोग योगारूढः अवस्था प्राप्त करने के साधन के रूप में किया गया है। अब सर्वसंकल्प और संन्यासी शब्दों का अर्थ जानना आवश्यक है। ममता, आसक्ति और द्वेष सहित सांसारिक मामलों के माध्यम से वांछित सिद्धि का चिंतन को संकल्प कहलाता है। फिर आनंदगिरि कहते हैं कि संकल्प 'शोभनध्यासः' है अर्थात् जो वास्तव में सुंदर नहीं है, उसे सुंदर समझना। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति भगवान् कृष्ण के शाश्वत सुंदर रूप के प्रति आसक्त हुए बिना मांस और रक्त की महिला की सुंदरता से आकर्षित हो जाता है। यही संकल्प है। तो सर्वसंकल्प का अर्थ है

इस लोक और परलोक में सभी प्रकार के सुखों की वासना। फिर से संन्यास शब्द का अर्थ है काम्य-कर्म का परित्याग। तो सर्वसंकल्प-संन्यास शब्द का अर्थ है इस लोक और परलोक में सभी प्रकार के सुखों का परित्याग। मनुसंहिता (२।३) में कहा गया है कि सभी वासनाएँ संकल्प से उत्पन्न होती हैं - "संकल्पमूल: कामौ"। शंकराचार्य के अनुसार समस्त कर्मों का परित्याग केवल तभी पूर्ण होता है जब समस्त कामनाओं का त्याग कर दिया जाता है - "सर्वकामपरित्यागो च सर्वकर्म संन्यास: सिद्धो भवति।" योगी जब केवल आत्मा को महसूस करने की प्रकृति प्राप्त करता है, तो वह इस दुनिया में और अगले दुनिया में आत्मा के अलावा किसी भी वस्तुओं में आसक्त न हो जाता है जिसका इंद्रियों द्वारा भोग किया जा सके और एक स्थिर, अटूट मन के साथ परमात्मा के चिंतन में तल्लीन रहता है, तब वह योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त करता है। अत: जो योगारूढ़ स्थिति को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें सर्वप्रथम विषय में आसक्त न होने की अव्यसनी क्रिया का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि इसमें आसक्त होने की संभावना रहती है। इस अभ्यास से किसी समय सुफल अवश्य ही मिलेगा और वह निश्चित रूप से एक दिन योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त करेगा।।४।।

उद्धरेत् आत्मना आत्मानं # न आत्मानम् अवसादयेत्।
आत्मा एव हि आत्मनो बन्धु: # आत्मा एव रिपु: आत्मन:।।५।।

अनुवाद:– अपने मन के द्वारा अपनी आत्मा को संसार सागर से उद्धार करे। मन को इस प्रकार न चलाओ कि किसी के आत्मा की गति नीचे की ओर हो। मन तुम्हारी आत्मा का मित्र है, मन ही तुम्हारी आत्मा का शत्रु है।।५।।

व्याख्या :– श्रीमद्भागवद्-महापुराण में कहा गया है कि निश्चय ही मन की शक्ति अपार है। संसारी मनुष्य जो सुख-दु:ख भोगता है उनमें से किसी का भी कारण मनुष्य, देवताओं, शरीर, ग्रहों नहीं है। इन सबका कारण

मन ही है, संसारचक्र मन के निर्देशन में ही चलता है—

नायं जनो मे सुखदु:खहेतु:
न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकाला:।
मन: परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्।।

—श्रीमद्भागवद महापुराण। ११/२३/४३

जब यह मन विषय से हटकर हृदय में समा जाता है, तब योग की स्थिति प्राप्त होती है - "परो हि योगो मनस: समाधि:" (श्रीमद्भागवद महापुराण ११/२३/४६)। इस अवस्था में योगी के होने को योगारूढ़ अवस्था कहा जाता है। वास्तव में, मन एक विचित्र वस्तु है। मन की तुलना कल्पतरु से की जा सकती है। जिस प्रकार कल्पतरु के नीचे खड़े होकर कोइ जो कुछ भी चाहता है वह उसे प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कल्पतरु के नीचे खड़ा होकर सोचता है कि वह भगवान् के दर्शन करना चाहता है, तो निश्चित रूप से वह इच्छा एक दिन पूरी होगी। और यदि वह पाप में डूबना चाहता है, तो वह निश्चित रूप से मद्यपान, जुआ, व्यभिचार आदि पापों में लिप्त होगा और एक दिन वह नरक के मार्ग पर होगा। तो मन स्वर्ग की सीढ़ी है, मन नरक का द्वार है, मन आत्मा का रक्षक है और मन आत्मा का नाश करने वाला है। अत: एक सच्चे मनुष्य को शुद्ध मन की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि यजुर्वेद शांत, स्थिर, शुद्ध मन की प्रार्थना करता है - तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु:।।५।।

बन्धु: आत्मा आत्मन: तस्य # येन आत्मा एव आत्मना जित:।
अनात्मन: तु शत्रुत्वे # वर्तेत आत्मा एव शत्रुवत् ।।६।।

अनुवाद:- जिस आत्मा यानी मन से मन को जीता जा सकता है अर्थात्

वश में किया जा सकता है, वह मन आत्मा का मित्र है, परंतु जो मन वश में नहीं किया जा सकता, वह मन ही शत्रु के समान आत्मा से वैर करता है ।।६।।

व्याख्या:- शरीर, मन और इंद्रियाँ सभी को आत्मा कहते हैं। आम तौर पर शरीर, मन और इंद्रियाँ बहुत अवज्ञाकारी होती हैं। उन्हें आसानी से वश में नहीं किया जा सकता है। वे तोप के गोले की तरह हैं। अगर सही तरीके से इस्तेमाल किया जाए तो आत्मरक्षा के लिए तोपों का आसानी से इस्तेमाल किया जा सकता है। लेकिन अगर किसी को इसके इस्तेमाल के सही नियमों की जानकारी नहीं है तो विस्फोट तोपची की मौत का कारण बन सकता है। इसी प्रकार यदि शरीर, मन और इंद्रियों को वश में रखा जाए तो मनुष्य का कल्याण हो जाता है लेकिन अनियंत्रित शरीर, मन और इंद्रियां मानव जीवन में अंतहीन दुख और पीड़ा ला सकती हैं। शरीर और इंद्रियों के विपथगामी होने का मूल कारण अनियंत्रित मन है। इसलिए इन तीनों चीजों को वश में रखना जरूरी है। लेकिन उन्हें काबू में रखने का उपाय क्या है? उन्हें संतों के संग और उपदेश, अभ्यास और वैराग्य से ही वश में किया जा सकता है। विष्णुपुराण में कहा गया है –

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासङ्गि मुक्तोर्निर्निर्विषयं मनः।।

—विष्णुपुराण ६/७/२८

अर्थात् मन वास्तव में बंधन या वैराग्य का कारण है। जब मन वस्तुओं से आसक्त होता है तो यह बंधन का कारण बनता है और आसक्ति से मुक्त होने पर मुक्ति का कारण बनता है ।।६।।

जितात्मनः प्रशान्तस्य # परमात्मा समाहितः।
शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु # तथा मान-अपमानयोः ।।७।।

अनुवादः- जिसने इंद्रियों को जीत लिया है, जिसका मन काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मात्सर्य आदि से मुक्त हो गया है और जिसके मन में गहरी शांति है, उसने परमात्मा को जान लिया है। सर्दी-गर्मी-सुख-दुःख-मान-अपमान का कोई भाव उसे अब विचलित नहीं कर सकता अर्थात् उसकी समग्र चेतना में केवल भगवान् का ही चिंतन व्याप्त रहता है, कोई अन्य प्रभाव उसके मन को विचलित नहीं कर सकता।।७।।

ज्ञान-विज्ञान-तृप्त-आत्मा # कूटस्थो विजित-इन्द्रियः।
युक्त इति उच्यते योगी # सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः।।८।।

अनुवादः- जिसका हृदय ज्ञान और विज्ञान के प्रकाश से पूर्ण रूप से समृद्ध है, जिसका हृदय कूटस्थ यानी अपरिवर्तनशील है, जिसने सभी इंद्रियों को जीत लिया है, जो मिट्टी, पत्थर, सोने आदि सभी चीजों को समान मानता है, वह योगी ईश्वर के साथ जुड़ा हुआ कहा जाता है।।८।।

व्याख्या :- (क) आत्मा नित्य, सदैव अपरिवर्तनशील है। आत्मा की इस अपरिवर्तनीयता को दर्शाने के लिए शास्त्रों में 'कूटस्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'कूटस्थ' शब्द का अर्थ सामान्य पाठकों के लिए स्पष्ट नहीं है। हम देखते हैं कि सुनार या लोहार सोने या लोहे को एक लोहे के टुकड़े पर रखता है और उसे हथौड़े से जोर से पीटता है। उस लोहे के ढेले को नेहाई या कूट कहते है। उस पर कितना ही हथौड़ी मारो, नेहाई या कूट में कोई परिवर्तन

नहीं होता। उसी प्रकार जिस अवस्था में आत्मज्ञानी पुरुष बारंबार सताने वाले दु:ख से विचलित नहीं होता, उसके हृदय में किसी प्रकार का विकार नहीं होता और वह सदा परमात्मा में निश्चलरूपसे रहता है, ऐसी अवस्था 'कूटस्थ' कहलाती है।

(ख) जब कोइ मनुष्य के हृदय की प्यास आत्मस्वरूपविषयक ज्ञान और प्रकृतिविषयक विज्ञान से पूरी तरह तृप्त हो जाती है तब उसे सांसारिक और पारलौकिक सुखों की कोई इच्छा नहीं होती है। तब उसे लगता है कि उसके पास पाने और आनंद लेने के लिए और कुछ नहीं है, और कुछ नहीं चाहिए, उसे अपने हृदय में ईश्वर-रूपी पारशमणि का आभास होता है जिस पारशमणि के स्पर्श से उसके हृदय का सारा लोहा सोना बन गया है, बाहरी धन उसके लिए मूल्यहीन है, गहन आनंद, गहन शांति अब पूरे हृदय में व्याप्त हो गया है, तब वह भगवान् के साथ एकाकार हो जाता है।।८।।

सुहृत्-मित्र-अरि-उदासीन् # मध्यस्थ- द्वेष्य-बन्धुषु।
साधुषु अपि च पापेषु # समबुद्धिः विशिष्यते।।९।।

अनुवादः- जो पुरुष हितैषी, मित्र, शत्रु, उदासीन (अर्थात् निरपेक्ष, यानी किसी भी पक्ष में नहीं रहनेवाला), मध्यस्थ (अर्थात् वह जो विवाद के दोनों पक्षों के हित में हो), द्वेषी, कुटुम्बी, साधु, पापी सबको समान रूप से देखने वाला, किसी के बीच भेदभाव नहीं करने वाला है, वह श्रेष्ठ है।।९।।

योगी युञ्जीत सततम् # आत्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यत-चित्त-आत्मा # निराशीः अपरिग्रहः ।।१०।।

अनुवादः- योगी एकांत स्थान में अकेला रहकर, मन और बुद्धि को नियंत्रित करके, हृदय से समस्त आशा और परिग्रह को संपूर्ण त्याग कर और

सदैव खुद की आत्मा को परमात्मा से मिला कर मन को समाधि में युक्त करे। ।।१०।।

व्याख्याः– योगी के मन को समाधि कैसे लगाया जाए, इस विषय में बात करते हुए भगवान् कहते हैं कि उसे किसी एकांत स्थान यानी वन, पर्वत, गुफा आदि में अकेले यानी बिना किसी को साथ और निराशी होकर यानी सांसारिक और पारलौकिक दुनिया की किसी भी पार्थिव चीजों के लिए मन में किसी आशा के बिना, अपरिग्रह यानी स्वजनों की साहचर्य के बिना की स्थिति में परमात्मा के ध्यान में तल्लीन होना चाहिए। परमात्मा के ध्यान में लीन होने के लिए मन की पूर्ण एकाग्रता नितांत आवश्यक है। वह जितने अधिक लोगों में होगा, उसकी मन की एकाग्रता उतनी ही भंग होगी। फलस्वरूप ईश्वर के ध्यान में लीन होने के मार्ग में बाधाएँ आएंगी। इसलिए योगी को एकांत में रहने की आवश्यकता है। अब अपरिग्रह शब्द का अर्थ समझना आवश्यक है। 'अ' का नकारात्मक अर्थ होता है जैसे - अयोग्य - जो योग्य नहीं है। इसी प्रकार 'अपरिग्रह' शब्द का अर्थ परिग्रह नहीं है अर्थात् परिग्रह रहित है। अब यह जानना आवश्यक है कि परिग्रह शब्द का अर्थ क्या है। परिग्रह = परितः ग्रह। परित शब्द का अर्थ होता है चारों ओर और ग्रह शब्द का अर्थ होता है जिसे ग्रहण किया जा सके। एक गृहस्थ के लिए यह परिग्रह पत्नी, बच्चे, परिवार, धन, संपत्ति आदि है और एक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी या संन्यासी के लिए यह परिग्रह है अशास्त्रीय विषय । इसलिए भगवान् कहते हैं कि योगी के लिए पत्नी, बच्चे, परिवार, धन, संपत्ति आदि और ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी या संन्यासी के लिए सभी अशास्त्रीय विषयों से पूरी तरह बचना चाहिए। अन्यथा ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी या संन्यासी आदि के लिए एकचित्त होकर ईश्वर के चिंतन में या उनके ध्यान में लीन रहना संभव नहीं होगा।।१०।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य # स्थिरम् आसनम् आत्मनः।
न अति उच्छ्रितं न अति नीचं # चैल-अजिन-कुश-उत्तरम्।।११।।
तत्र एकाग्रं मनः कृत्वा # यत-चित्त-इन्द्रिय-क्रियः।
उपविश्य आसने युञ्ज्यात् # योगम् आत्म-विशुद्धये ।।१२।।

अनुवादः- किसी न अधिक ऊंचा और न अधिक नीचा पवित्र स्थान पर आसन को मजबूती से रखकर उस पर पहले कपड़े का टुकड़ा फिर उस पर हिरण की खाल और उस पर कुश बिछाकर मन और इंद्रियों की गतिविधियों पर संयम रखकर चित्त को शुद्ध करने के लिए एक मन से योगाभ्यास करना होगा।।१२।।

समं काय-शिरः ग्रीवं # धारयन् अचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिका-अग्रं स्वं # दिशश्च-अनवलोकयन् ।।१३।।

अनुवादः- मेरुदंड, सिर और गर्दन को सीधा रखते हुए और किसी ओर की देखे बिना केवल नासिका के अग्रभाग को देखते हुए (स्थिर होकर आसन पर बैठना चाहिए ।।१३।।

प्रशान्त-आत्मा विगतभीः # ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मत्चित्तो # युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

अनुवादः- प्रशांतचित्त, निर्भय, ब्रह्मचर्य के व्रतमे स्थित होकर, संयमित मन से और सावधान होकर अपना मन मुझे समर्पित करके आसन पर बैठना चाहिए।।१४।।

व्याख्याः- यहाँ भगवान् ध्यान करने के लिए एक योगी के लिए मन की शांति, निर्भयता और ब्रह्मचर्यके व्रतमे स्थित होने के आवश्यकता की बात

करते हैं। वास्तव में यदि एक योगी का मन सांसारिक वस्तुओं की इच्छा से भरा है, तो मन विभिन्न कारणों से अशांत और बेचैन रहेगा। तब उसके लिए एकचित्त होकर अपने मन को परमेश्वर को समर्पित करना संभव नहीं होगा। नतीजतन, उसके लिए योग की स्थिति प्राप्त करना संभव नहीं होगा। पुन: हृदय में भय की उपस्थिति भी अपने हृदय को ईश्वर को समर्पित करने के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती है। लेकिन यह कैसा भय है? वास्तव में संसारी मनुष्य को जाने-अनजाने में तरह-तरह के भय सताते रहते हैं। भर्तृहरि ने अपने ग्रंथ वैराग्यशतक में मानव जीवन में कितने प्रकार के भय विद्यमान हैं, इसका सुंदर वर्णन किया है -

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं।
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।।

—वैराग्यशतक – ११६

अर्थात् भोगविलास में रोग का भय, गुणी कुल में वंश नाश का भय, धन में राजा का भय, मौन में दीनता का भय, वीरता में शत्रु का भय, सुंदरता में जरा का भय, शास्त्रों के ज्ञान में वाद का भय, पुण्य में बुराई का भय, शरीर में मृत्यु का भय, और इस दुनिया में कई अन्य चीजें विभिन्न प्रकार के भय के कारण हैं। लेकिन केवल वैराग्य ही समस्त भयों से सर्वथा मुक्त है।

तो जीवन में इतने प्रकार के भय से लोग कैसे शांतिपूर्वक ईश्वर के ध्यान में लीन हो सकते हैं। भय पल-पल उनके हृदय को व्याकुल, परेशान करेगा! भर्तृहरि ने इस समस्या का एक समाधान बताया है - 'वैराग्यमेवाभयम्'।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन सभी भयों से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है कि अपने हृदय में सभी लौकिक और पारलौकिक वस्तुओं के प्रति उदासीन हो जाए जो उसे दुनिया के सभी प्रकार के भय से मुक्त कर सके। इन सभी भयों से मुक्ति ही आंतरिक शांति है जिसकी एक योगी की परम आवश्यकता है। इसीलिए भगवान् ने अर्जुन को सभी प्रकार के भय से मुक्त होने और वैराग्य अपनाकर अपने कर्तव्य का पालन करने की सलाह दी।

फिर, भगवान् ने योगी को ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होने की सलाह दी है। 'ब्रह्मचारिव्रत' शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। एक ब्रह्मचारी के आदर्श आचार संहिता के बारे में अत्रि संहिता कहती है-

स्मरणं कीर्तनं केली: प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पो अध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेवश्च।।

अर्थात् किसी खूबसूरत महिला का स्मरण करना, उसके कीर्तन करना, उसके साथ हास्य-क्रीड़ा करना, उसे गिद्ध की नजर से देखना, एकांत मे बातें करना, उसे पाने का प्रयास करना, मैथुन करना आदि से बचना चाहिए। यह ब्रह्मचरिव्रत है।

इस प्रकार मन में भय के सभी कारणों को त्याग कर, यदि कोई परम प्रभु का ध्यान एकाग्रचित्त होकर करता है, तो उसके मन से सारा ग्लानि, जड़ता, अंधकार, दूर हो जाएगा और उसके हृदय में सत्य का प्रकाश चमक उठेगा।।१४।।

युञ्जन् एवं सदा-आत्मानं # योगी नियत-मानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां # मत्संस्थाम् अधिगच्छति ।।१५।।

अनुवादः- इस प्रकार मेरे साथ जुड़कर संयमितचित्त योगी मुझमें निवास करने वाले निर्वाण अर्थात् मोक्ष से भी बड़ी शांति को प्राप्त करेगा।।१५।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् संयमितचित्त योगी का 'निर्वाणपरमां' अर्थात् निर्वाण की अपेक्षा अधिक शांति प्राप्त करने की बात करते हैं। कई लोगों ने 'शान्तिं निर्वाणपरमां' शब्द की व्याख्या निर्वाण में पूर्ण शांति के अर्थ में की है। लेकिन भगवान् यहाँ 'निर्वाणपरमां' शांति की बात करते हैं जो मोक्ष से ऊपर है। अठारहवीं शताब्दी के गौड़ीय वैष्णव आचार्य श्रीमद् बलदेव विद्याविनोद प्रभु ने अपनी टिप्पणी 'गीताभूषण' में 'निर्वाणपरमां' पद का अर्थ समझाया और कहा - 'मोक्षावधिका' जिसका का अर्थ है मोक्ष से भी अधिक। लेकिन मोक्ष शाश्वत शांति है जहां जलन, दर्द, दुख, फिर से पुनर्जन्म, फिर से जीवन नामक नारकीय पीड़ा का अनुभव करने का कोई डर नहीं है। तो क्या इससे बढ़कर कोई शांति है? उत्तर है, हाँ। भूखी मां को जब बड़ी मुश्किल से कुछ भोजन मिल पाता है, तो उस भोजन को ग्रहण करने से उसे परम शांति और सुख की प्राप्ति होती है। लेकिन जब वह मां उस भोजन को अपने भूखे बच्चे के मुंह में डाल सकती है तो उसे जो शांति मिलती है वह सब शांति से परे होती है। इस प्रकार भगवान् कहते हैं कि मोक्ष से प्राप्त शांति अंत नहीं है। इसके ऊपर एक और शांति है जो केवल परमेश्वर में स्वयं के पूर्ण समर्पण से ही प्राप्त की जा सकती है। यह शांति मोक्ष से बढ़कर है। लेकिन वह शांति क्या है? भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता के पाँचवें, नौवें और अठारहवें अध्याय में इस शांति का उल्लेख नैष्ठिकी शांति (५/१२), शाश्वती शांति (९/३१) और परा शांति (१८/६२) के रूप में किया है।

'नैष्ठिकी' शब्द का अर्थ है 'निष्ठा से उत्पन्न'। इसलिए कर्मयोगनिष्ठ योगी जब कर्मयोग के प्रति अपनी निष्ठा के फलस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करता है, तो उसके मन में जो अपार शांति उत्पन्न होती है, वह 'नैष्ठिकी' शांति कहलाती है। भगवद्प्राप्ति के फलस्वरूप योगी के हृदय में अटल,

अविनाशी रूप में जो परम शांति हमेशा के लिए रहती है, वह शाश्वती शांति कहलाती है। फिर, भक्त भगवान् को सर्वव्यापी जानकर और दिल से सभी आसक्तियों, अधिकार, इच्छाओं और अपेक्षाओं को छोड़ कर, भगवान् की इच्छा के अनुसार अपने कार्यों से सभी जीवों में परम भगवान् को देखकर उनकी सेवा करके, सदा यह समझकर संतुष्ट रहकर कि सारे सुख-दु:ख परमपिता परमात्मा की देन हैं, भगवान् से कुछ भी प्राप्त करने के बारे में मन में कभी असंतुष्ट न होकर, मन के सारे अभिमान को त्याग कर, और परमेश्वर भगवान् के अलावा किसी भी चीज में आसक्त न होकर परम भक्ति और श्रद्धा के साथ भगवान् के नाम, लीला, माहात्म्य, स्वरूप, तत्त्व आदि का गान, जप, श्रवण, चिंतन, वर्णन आदि के माध्यम से भगवान् के चरणकमलों की शरण लेता है तो परम दयालु, सच्चिदानंदघन भक्तवत्सल भगवान् भक्त पर असीम दया करते हैं जिससे भक्त के सभी दुख, चिढ़ और पीड़ा हमेशा के लिए दूर हो जाती है और भक्त के हृदय में अनंत शांति प्राप्त होती है। इस शांति का नाम परा शांति है। ये तीन प्रकार की शांति भगवान् कृष्ण के हृदय में सदैव निवास करती है। ध्यान योग के सिद्ध साधक को ईश्वर से इन तीन प्रकार की शांति प्राप्त होती है।।१५।।

न अति-अश्नतः तु योगः अस्ति # न च एकान्तम् अनश्नतः ।
न च अति स्वप्नशीलस्य # जाग्रतो न एव च अर्जुन ।।१६।।

अनुवादः- हे अर्जुन! जो अधिक खाने का आदी है या जो बिल्कुल नहीं खाता है, जो अत्यधिक नींद का आदी है या जो बिल्कुल नहीं सोता है वह योग समाधि प्राप्त नहीं कर सकता है ।।१६।।

युक्त-आहार-विहारस्य # युक्त-चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त-स्वप्न-अवबोधस्य # योगः भवति दुःखहा।।१७।।

अनुवादः- जो नियमित तरीके से भोजन, निद्रा, जागरण, कर्मोंमें चेष्टा का आदी है, योग उसके दु:खों का नाश कर देता है ।।१७।।

यदा विनियतं चित्तम् # आत्मनि एव अवतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो # युक्त इति उच्यते तदा।।१८।।

अनुवादः- योगी जब विशेष रूप से अपने मन को वश में कर लेता है और मन से सब कामनाओं को हटाकर और निष्पृह होकर आत्मा में वास करता है, तब वह पुरुष योगयुक्त है ऐसा कहा याता है।।१८।।

व्याख्याः- इस श्लोक में भगवान् योगी को सब प्रकार की काम्य-वस्तु से मुक्त रहने की सलाह देते हैं। वास्तव में, यदि मन के मैल को दूर नहीं किया जाता है, तो परमेश्वर से मिलना संभव नहीं है। नहाने से शरीर की गंदगी दूर हो जाती है। लेकिन मन का मैल क्या है और इसे कैसे दूर किया जा सकता है? वस्तुओं के प्रति मन की इच्छाएँ, आसक्ति, वैर आदि मन की मैल हैं। मायाके बंधन में फँसा हुया जीव प्रकृतिका सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के अमोघ दुर्वार प्रभाव से लगातार विषयओं के प्रति आसक्त रहता है। जिस प्रकार मधुमक्खी पात्र में रखे शहद पर बैठ जाती है और अपने ही शहद में फंसकर मर जाती है, उसी प्रकार जीव स्वयं द्वारा तैयार किया गया अपने ही विषयविष में फंसकर नरक में जाता है। फिर भी भोग की लालसा उसके मन को निर्मल नहीं होने देती। इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिए योगी को परमेश्वर में स्थित होने के लिए निरंतर प्रयास करने की

आवश्यकता है। इस प्रकार निरंतर प्रयास के फलस्वरूप जीव अंत में ईश्वर की उपस्थिति के बोध के कारण हृदय में अपार शांति और परमानंद को प्राप्त करता है, सभी सांसारिक और पारलौकिक नश्वर, क्षणभंगुर चीजों के प्रति वैराग्य महसूस करता है और उसे ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु में कोई आकर्षण नहीं होता, पार्थिव संसार की किसी भी वस्तु के प्रति कोई आकर्षण उसे परेशान नहीं कर सकता। इस प्रकार सभी सांसारिक भोग्य-वस्तुओं के लिए मन की मलिनता रूपी इच्छा उसके मन से दूर हो जाती है। तब यह कहा जा सकता है कि उसने मन की वैराग्य प्राप्त कर लिया है।

भगवान् ने यह उपदेश न केवल योगियों को बल्कि विश्व की समस्त मानव जाति को भी दिया है।।१८।।

यथा दीपो निवातस्थो # न इङ्गते सा उपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य # युञ्जतो योगम् आत्मनः ।।१९।।

अनुवाद:- योगी संत के मन की तुलना गतिहीन वायुवाला स्थान में रखे हुए दीपक से की जा सकती है। जिस प्रकार गतिहीन वायुवाला स्थान में दीपक की लौ नहीं हिलती, उसी प्रकार परमात्माके ध्यानमें लगे हुए संयतचित्त योगी का मन कभी अशांत नहीं रहता।।१९।।

यत्र उपरमते चित्तं # निरुद्धं योगसेवया।
यत्र च एव आत्मना आत्मानं # पश्यन् आत्मनि तुष्यति।।२०।।

अनुवाद - इस (योगयुक्त) अवस्था में योगाभ्यास से मन संयमित होकर संसार की सभी आसक्ति से मुक्त हो जाता है और आत्मा यानी मनके द्वारा आत्मा में आत्मा को देखकर योगी परम संतोष प्राप्त करता है।।२०।।

व्याख्या :-लोग कब आत्मसंतुष्ट महसूस करते हैं? इसका उत्तर यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त कर लेता है तो उसे परम संतुष्टि का अनुभव होता है। इस अवस्था में उसे किसी और चीज में कोई रुचि नहीं रहती, उसे किसी चीज की कमी नहीं रहती।

फिर वह एकाग्रता से उस परम वस्तु को स्पर्श करके बाहरी वस्तुओं की उपस्थिति को भूल जाता है। उसके मन में अब कोई दु:ख, अभाव आदि नहीं रहता। उदाहरण के लिए, भगवान् के मंदिर की तुलना हमारे शरीर से की जा सकती है। जिस प्रकार जीवात्मा हमारे शरीर में रहती है, उसी प्रकार भगवान का मूर्तिरूपी ईश्वर मंदिर में रहती है। जब योगयुक्त भक्त उस विग्रह में सर्वोच्च सत्ता परमात्मा को देखता है, तो उसकी पूरी आत्मा यानी हृदय आंनन्द से भर जाता है और उसकी चैतना से ब्रह्मांड के सभी लोक और सभी चीजें पूरी तरह से गायव हो जाती हैं। फिर उसे किसी और बात की परवाह नहीं रहती, वह तो गहरे ध्यान में है, कहां है उसका दुख, कहां है विषाद तब उसकी संपूर्ण चेतना के भीतर उस मूर्ति के भीतर रहने वाले भगवान् का वास होता है जैसा कि हम मीराबाई के मामले में देखते हैं। ईशावास्योपनिषद के सातवें मंत्र में भक्त की इस स्थिति का सुंदर वर्णन किया गया है -

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विभाजत:।
तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वमनुपश्यत:।।

अर्थात्, जब कोई योगयुक्त योगी सभी प्राणियों में परमात्मा को देखता है, तो उसे कोई भ्रम, दु:ख नहीं रहता, तब उसके मन में पूर्ण संतुष्टि हो जाती है।।२०।।

सुखम् आत्यन्तिकं यत् तत् # बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न च एव अयं # स्थित: चलति तत्त्वत: ।।२१।।

अनुवाद:- इस अवस्था में योगी शुद्ध मन से ही इंद्रियों से परे

आत्मविषयक बुद्धिग्राह्य परम आनंद को अनुभव करता है और उस अवस्था में रहकर वह परमात्मा के स्वरूपसे विचलित नहीं होता।।२१।।

यं लब्ध्वा च अपरं लाभं # मन्यते न अधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन # गुरुणा अपि विचाल्यते।।२२।।

अनुवादः- इस अवस्था को प्राप्त करके योगी यह नहीं सोचता कि इससे उत्तम कोई अवस्था है और इस अवस्था में वह सब प्रकार के घोर कष्टों में भी अविचल रहता है।।२२।।

तं विद्यात् दुःख-संयोग # वियोगं योग-संज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो # योगो अनिर्विण्ण-चेतसा।।२३।।

अनुवादः- ऐसी अवस्था में उसके हृदय में शोक, दुख आदि से कोई संबंध या भाव नहीं रहता। ऐसी अवस्था को योग के नाम से जाना जाता है। भय, शोक, दुख आदि के प्रति उदासीन होकर प्रसन्न मन से इस योग का अभ्यास करना चाहिए।।२३।।

व्याख्याः- श्रीधरस्वामी ने इस श्लोक में प्रयुक्त 'दुःख' शब्द के गूढ़ अर्थ पर एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है - "दुःखशब्देन दुःखमिश्रितत्वाद् वैषयिकं सुखमपि गृह्यते।" अर्थात् दुःख शब्द से वैषयिक सुख को भी ग्रहण करना चाहिए क्योंकि वैषयिक सुख अंत में दुःख का कारण बनता है। सांसारिक दुनिया में ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं पाया जाता है जो कभी भी आध्यात्मिक यानी दैहिक, आधिदैविक या आधिभौतिक किसी प्रकार के कष्ट से पीड़ित न हो।

उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति के पास बहुत अधिक संपत्ति हो सकती है लेकिन उसका एक अंग अपंग हो गया है, या उसके किसी बच्चे की

दुर्घटना में मृत्यु हो गई है इत्यादि। भगवान् कहते हैं कि योग का कार्य है लोगों को इन सभी दुखों से वियुक्त अर्थात् मुक्त करना। यह संसार दुखों से भरा है। यदि लोग उस दु:ख से छुटकारा नहीं पाएँगे, तो उसे शांति कहाँ से मिलेगी? इसीलिए भगवान् ने सभी को योग करने की सलाह दी। लेकिन उनका कहना है कि इस योग का अभ्यास दृढ़ और प्रसन्न मन से करना चाहिए, मन से सभी संदेहों, भय, दुखों आदि को पूरी तरह से हटा देना चाहिए, क्योंकि मन की ये सभी बातें मनुष्य के शत्रु की तरह दिमाग को कमजोर कर देती हैं और एक कमजोर दिमाग वाला व्यक्ति के लिये योग में सिद्धि प्राप्त करके परमात्मा को प्राप्त करना संभव नहीं है। इसीलिए मुण्डकोपनिषद् (३।२।४) में कहा गया है - नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो।।२३।।

संकल्प-प्रभवान् कामान् # त्यक्त्वा सर्वान् अशेषतः।
मनसा एव इन्द्रियग्रामं # विनियम्य समन्ततः ।।२४।।

(चूंकि यह एक संयुक्त श्लोक है, इसीलिए इस श्लोक के अर्थ को पूरा करने के लिए अगले श्लोक का अंश 'किंचिद्अपि न चिन्तयेत = और किसी बात का चिंतन न करें, लिया जाएगा)।

अनुवादः- मन के संकल्प से उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओं का पूर्णतया त्याग कर दें और इंद्रियों को सब वस्तुओं से रोक लें (और किसी बात का चिंतन न करे) ।।२४।।

शनैः शनैः उपरमेद् # बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा # न किञ्चित् अपि चिन्तयेत्।।२५।।

अनुवादः- इस प्रकार धीरे-धीरे संसार के प्रति आसक्ति शून्य होकर धैर्यपूर्वक मन को आत्मा में स्थिर करके और किसी बात का चिंतन न करे ।।२५।।

यतो यतो निश्चरति # मनः चञ्चलम् अस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्य एतत् # आत्मनि एव वशं नयेत्।।२६।।

अनुवादः- मन स्वभाव से चंचल और अस्थिर होता है। विभिन्न वस्तुओं के प्रति मन आकर्षित होकर उनकी ओर दौड़ेगा। तरह-तरह की बातों में व्यस्त मन को वहां से हटाकर आत्मा के अधीन कर देना चाहिए।।२६।।

प्रशान्त-मनसं हि एनं # योगिनं सुखम् उत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं # ब्रह्मभूतम् अकल्मषम्।।२७।।

अनुवादः- इस अभ्यास के फलस्वरूप योगी के मन से राग, काम, लोभ, तृष्णा आदि रजोगुण दूर होकर शांत और निर्मल अवस्था को प्राप्त क्रोध होकर योगी ब्रह्मपद को प्राप्त करके परम सुख को प्राप्त करता है।।२७।।

युञ्जन् एवं सदा आत्मानं # योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् # अत्यन्तं सुखम् अश्नुते।।२८।।

अनुवादः- इस प्रकार मन को योग से जोड़कर योगी सब पापों से छूट जाता है और धीरे-धीरे अपने हृदय में ब्रह्म के स्पर्श या उपस्थिति को अनुभव करता है और परम सुख को प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाता है।।२८।।

सर्वभूतस्थम् आत्मानं # सर्वभूतानि च आत्मनि।
ईक्षते योगयुक्त आत्मा # सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

अनुवादः- योगयुक्त पुरुष सभी प्राणियों को समान रूप से देखता है। वह सभी प्राणियों के भीतर आत्मा और आत्मा के भीतर सारे जीव जगत् को देखता है।।२९।।

योो मां पश्यति सर्वत्र # सर्वं च मयि पश्यति।
तस्य अहं न प्रणस्यामि # स च मे न प्रणश्यति ।।३०।।

अनुवाद:- जो मुझको सर्वत्र देखता है और सब को मुझ में देखता है, उसके लिये मैं कभी अदृश्य नहीं होता और न ही वह मुझमें से ओझल होता है अर्थात् वह सदा मुझे ही देखता है और मैं उसे सदा देखता हूँ अर्थात् ध्यान देता हूँ अर्थात् उस पर मेरी सदा दया रहती है ।।३०।।

व्याख्या:- भक्तों को भगवान् सर्वत्र कब दिखाई देते हैं ? मुण्डकोपनिषद में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है - "पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (३।१।३) अर्थात् जब मनुष्य के मन से समस्त पापपुण्य का बोध हट जाता है, तब मन सब अशुद्धियों से मुक्त हो जाता है और तब वह मनका समत्त्व यानी राग, द्वेषादि वर्जित भाव को प्राप्त हो जाता है और तब वह सब वस्तुओं में ईश्वर को और ईश्वर में सब वस्तुओं को देखता है। लेकिन मन से हर तरह के पाप का भाव कब दूर होगा? जब व्यक्ति वस्तुओं की आसक्ति आदि रजोगुण, पाप, अधर्म, बुरे कर्मों आदि तमोगुण और पुण्य कर्मानुष्ठान आदि सत्त्वगुण से ऊपर उठ जाता है तब मनमें अपना और पराइ में कोई अंतर नहीं रह जाता है तब मन हो जाता है सभी प्रकार की अशुद्धियों से मुक्त और तब उसे सृष्टि में सर्वत्र ईश्वर की उपस्थिति दिखाई देती है ।।३०।।

सर्वभूतस्थितं यो मां # भजति एकत्वम् आस्थितः।
सर्वथा वर्तमानः अपि # स योगी मयि वर्तते।।३१।।

अनुवाद:- जो योगी समत्त्वबुद्धि को अपनाकर समस्त प्राणियों में व्याप्त मुझसे जुड़ जाता है और मुझ की पूजा करता है, वह सभी स्थितियों में मुझमें ही निवास करता है ।।३१।।

आत्म औपम्येन सर्वत्र # समं पश्यति यः अर्जुनः।
सुखं वा यदि वा दुःखं # स योगी परमो मतः ।।३२।।

अनुवादः– हे अर्जुन! जो सुख-दुःख की सभी अवस्थाओं में अपने से तुलना करके सबको समान देखता है (अर्थात् दूसरों के दुःख को अपना दुःख, दूसरे के सुख को अपना सुख समझता है), मेरे विचार से वह श्रेष्ठ योगी है ।।३२।।

अर्जुन उवाच

यः अयं योगः त्वया प्रोक्तः # साम्येन मधुसूदन।
एतस्य अहं न पश्यामि # चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

अनुवादः– अर्जुन ने कहा- हे मधुसूदन! आपने समता योग (अर्थात् दूसरों के सुख-दुःख मेरे सुख-दुःख के बराबर हैं) के बारे में कहा। मैं नहीं समझता कि मेरे मन की चंचलता के कारण यह समता का योग अधिक समय तक टिक सकता है ।।३३।।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण # प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्य अहं निग्रहं मन्ये # वायोः इव सुदुष्करम् ।।३४।।

अनुवादः– हे कृष्ण! निश्चय ही मन चंचल है और इंद्रियाँ सतानेवाला, बहुत शक्तिशाली हैं। मुझे लगता है कि उन्हें दबाना उतना ही मुश्किल है जितना कि हवा को दबाना ।।३४।।

श्रीभगवान् उवाच

असंशयं महाबाहो # मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय # वैराग्येण च गृह्यते ।।३५।।

अनुवादः– श्रीभगवान् ने कहा- हे महाबाहो! निःसंदेह मन को काबू में

रखना बहुत मुश्किल है क्योंकि वह स्वभाव से बहुत चंचल है। हे कुंतीपुत्र! मन को अभ्यास और वैराग्य से ही वश में किया जा सकता है ।।३५।।

असंयत आत्मना योगो # दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्य-आत्मना तु यतता # शक्यः अवाप्तुम् उपायतः।।३६।।

अनुवादः- मेरे विचार से जिसका चित्त संयमित नहीं है उसके लिए योगसिद्धि प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। परंतु बताए गए उपायों को यत्नपूर्वक विधिवत् अपनाने से आत्मा को वश में किया जा सकता है।।३६।।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धया उपेतो # योगात् चलित मानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं # कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

अनुवाद :- अर्जुन ने कहा - हे कृष्ण ! यदि कोई योग के मार्ग पर श्रद्धापूर्वक आगे बढ़ता है और फिर योगसिद्धि प्राप्त करने से पहले उस मार्ग से विचलित हो जाता है, तो मृत्यु के बाद उसे क्या गति प्राप्त होगी ?।३७।।

कच्चित् न उभय-विभ्रष्टः # छिन्न-अभ्रम् इव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो # विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

अनुवादः- हे महाबाहो! यदि वह व्यक्ति फल की इच्छा के बिना कर्म करते हुए स्वर्ग के सुख को प्राप्त नहीं कर सका और बाद में परमात्मा प्राप्ति के मार्ग से भटक गया और परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सका तो इसलिए जिस प्रकार बादल का एक टुकड़ा एक बड़े बादल से अलग होकर अंतरिक्ष में तैरता है और अंतरिक्ष में खो जाता है, क्या वह व्यक्ति भी यह लोक और परलोक का सुखलाभ और निष्काम कर्मयोग के माध्यम से ब्रह्म को प्राप्त करना इन दोनों मार्गो से भ्रष्ट होकर नष्ट तो नही हो याता? ।।३८।।

एतत् मे संशयं कृष्ण # छेत्तुम् अर्हसि अशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्य अस्य # छेत्ता न हि उपपद्यते ।।३९।।

अनुवादः- हे कृष्ण! मुझे इस पर बड़ा संदेह है। निश्चित रूप से मेरे मन से इस संदेह को पूरी तरह से दूर करने की शक्ति केवल आप में ही है, और किसी में नहीं ।।३९।।

श्रीभगवान् उवाच

पार्थ न एव इह न अमुत्र # विनाशः तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चित् # दुर्गतिं तात गच्छति ।।४०।।

अनुवादः- श्रीभगवान् ने कहा- पार्थ! वह अर्थात् इन दोनों मार्गों से भ्रष्ट उस व्यक्ति इस लोक में या परलोक में कहीं भी नष्ट नहीं होगा क्योंकि जो कल्याणकर्म यानी योगसाधन करता है, उसका अहित निश्चित रूप से नहीं होता ।।४०।।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् # उषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे # योगभ्रष्टः अभिजायते ।।४१।।

अनुवादः- यदि कोई व्यक्ति योगमार्ग पर चलने के बाद योगमार्ग से विचलित हो जाता है, अर्थात् उस योगमार्ग पर टिक नहीं पाता है, तो अन्य पुण्यात्माओं को स्वर्ग आदि जो लोक प्राप्त होते हैं वे सभी लोग उन्हें प्राप्त होते हैं और वहाँ अनन्त वर्षों तक सुख से रहने के बाद, वह एक धर्मी धनवान के घर में फिर से जन्म लेता है ।।४१।।

अथवा योगिनाम् एव # कुले भवति धीमताम् ।
एतत् हि दुर्लभतरं # लोके जन्म यत् इदृशम् ।।४२।।

अनुवाद:- या जिसने योग में सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व किसी कारण से योगमार्ग का परित्याग कर दिया है वह मृत्यु के बाद किन्हीं ज्ञानी योगियों के वंश में जन्म लेता है। परंतु इहलोक मे इस तरह का जन्म बहुत कम होता है ।।४२।।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं # लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः # संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।४३।।

अनुवाद:- वह उन दोनों जन्मों में (अर्थात् जिन जन्मों में योगी ने समबुद्धिरूप योग का अनुष्ठान प्रारम्भ तो किया, परंतु आगे न बढ़ सका और बाद में किसी गुणवान के घर में या ज्ञानी योगियों के कुल में जन्म लिया) प्राप्त समबुद्धिरूप योग के सभी लाभ इस जन्म में प्राप्त होते हैं और हे कुरुनंदन! इस जन्म में वह सफलता के लिए अधिक सावधानी से प्रयास करता है (ताकि उसे दोबारा जन्म न लेना पड़े) ।।४३।।

पूर्व-अभ्यासेन तेन एव # ह्रियते हि अवशः अपि सः।
जिज्ञासुः अपि योगस्य # शब्दब्रह्म अतिवर्तते ।।४४।।

अनुवाद:- ज्ञानी योगियों के कुल में जन्म लेकर माया के आकर्षण से अवश होने पर भी यद्यपि इस जन्म में भी उसे योगसिद्धि मार्ग पर जाने की इच्छा नहीं रहती, फिर भी अपने पूर्व जन्मों में अर्जित सभी पुण्यों के प्रभाव से वह इस जन्म में योगसिद्धि के मार्ग की ओर आकृष्ट होता है, और जो

योग के बारे में जानने में रुचि रखते हैं वे निश्चित रूप से वेदोक्त काम्यकर्म से परे जाते हैं अर्थात् वेदों में वर्णित सकाम कर्म के फल से ऊपर उठ सकते हैं ।।४४।।

प्रयत्नात् यतमानः तु # योगी संशुद्ध-किल्बिषः।
अनेक-जन्म-संसिद्धः # ततो याति परां गतिम् ।।४५।।

अनुवादः- तब वह योगी पापों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है और पूर्व जन्मों की अपेक्षा अधिक प्रयत्नपूर्वक अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त करने के बाद अन्त में परम गति को प्राप्त करता है, अर्थात् ब्रह्मपद को प्राप्त करता है, यानी जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है, अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।।४५।।

तपस्विभ्यः अधिको योगी # ज्ञानिभ्यः अपि मतः अधिकः ।
कर्मिभ्यः च अधिको योगी # तस्मात् योगी भव अर्जुन ।।४६।।

अनुवादः- योगी तपस्वियों से उत्तम हैं, सांख्यज्ञानियोंसे से उत्तम हैं और सकाम कर्मियों से भी उत्तम हैं। ये मेरा विचार हे। हे अर्जुन! इसलिए तुम योगी बनो अर्थात् कर्मयोग अपनाकर युद्ध करो।।४६।।

योगिनाम् अपि सर्वेषां # मद्गतेन अन्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां # स मे युक्ततमो मतः ।।४७।।

अनुवादः- समस्त योगियों में जो श्रद्धापूर्वक अपना हृदय मुझमें समर्पित कर देता है और पूरे मन से मेरा भजन करता है, वह मेरे विचार से परम श्रेष्ठ है ।।४७।।

।। छटा अध्याय समाप्त ।।

सातवाँ अध्याय

ज्ञान-विज्ञान योग

श्रीभगवान् उवाच

मयि आसक्त-मनाः पार्थ # योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां # यथा ज्ञास्यसि तत् शृणु।।१।।

अनुवादः- भगवान् ने कहा- हे पार्थ! मन को मुझमें अर्पण कर मेरी शरण में आ जाओ। तब तुम निश्चय ही मेरे सम्पूर्ण स्वरूप को जान लोगे। मैं तुम को बता रहा हूँ कि तुम मुझे कैसे जान सकते हो। तुम ध्यान से सुनो।।१।।

ज्ञानं ते अहं सविज्ञानम् # इदं वक्ष्यामि अशेषतः।
यत् ज्ञात्वा न इह भूयः अन्यत् # ज्ञातव्यम् अवशिष्यते।।२।।

अनुवादः- अब मैं तुम को उस ज्ञान के बारे में बताऊंगा जो पूरी तरह से विज्ञान से युक्त है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के बाद तुम के पास जानने के लिए और कुछ नहीं बचेगा।।२।।

व्याख्याः- यहाँ निर्गुण निराकार भगवान् के प्रभावों, महानता और रहस्यों के सटीक ज्ञान को 'ज्ञान' के रूप में संदर्भित किया गया है और उनके सगुण निराकार और दिव्य रूपों के लीलाओं, रहस्यों, गुणों, महानता और प्रभावों का सही ज्ञान को 'विज्ञान' कहा जाता है। श्रीधराचार्य कहते हैं कि शास्त्रीय ज्ञान को 'ज्ञान' और इसकी अनुभव को विज्ञान बताया गया हैं - "ज्ञानं

शास्त्रीयं विज्ञानम् अनुभवम्।" यहां भगवान् अर्जुन से कहना चाहते हैं कि वे उसे अपने स्वरूप के ज्ञान का उपदेश भी देंगे और अर्जुन को यह भी बताएंगे कि अर्जुन ईश्वर के स्वरूप के ज्ञान को कैसे अनुभव कर सकता है।।२।।

मनुष्याणां सहश्रेषु # कश्चित् यतति् सिद्धये।
यतताम् अपि सिद्धानां # कश्चित् मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

अनुवादः- शायद हजारों में से कोई एक लोग मुझे ठीक से जानने की कोशिश करता है। और कोशिश करने वाले हजारों लोगों में से शायद कोई एक लोग ही मुझे तत्त्वसे जानता है।।३।।

भूमिः आपः अनलः वायुः # खं मनो बुद्धिः एव च।
अहंकार इति इयं मे # भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा।।४।।

अनुवादः- मेरे बाह्य रूप अर्थात् प्रकृति आठ भागों में विभक्त है - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार।।४।।

अपरा इयम् इतः तु अन्यां # प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो # यया इदं धार्यते जगत्।।५।।

अनुवादः- हे महाबाहो! यह है कि मेरे आठ बाहरी रूप वास्तव में मेरी जड़रूपी अपरा या नित्कृष्ट प्रकृति हैं। साथ ही मेरी एक परम प्रकृति है जिसे परा या जीवरूपा प्रकृति कहा जाता है। वह परा प्रकृति इस संसार को धारण करती है।।५।।

व्याख्याः- अपरा शक्ति हीन क्यों है ? अपरा शक्ति जड़ और उपभोग्य है, अर्थात् अक्रिय और भोग की वस्तु है, इसलिए संसारबंधन का कारण है। यह अपरा शक्ति अपनी जड़ता के कारण स्वतंत्र रूप से कोई भी कार्य

करने में अक्षम है। उसके पास अपना कुछ भी करने की शक्ति नहीं है जब तक कि वह जीव के रूप में पराशक्ति द्वारा निर्देशित न हो। इसलिए अपारशक्ति हीन है। लेकिन पराशक्ति जीवरूपा और श्रेष्ठ है क्योंकि इस शक्ति में चेतना है और जड़ प्रकृतिका भोक्तृ है। वह जीवरूपा चेतन शक्ति इस जगत् को अपने कर्म से धारण करती है अर्थात् जगत् को गतिमान रखती है। इसलिए यह पराशक्ति श्रेष्ठ है।।५।।

एतद् योनीनि भूतानि # सर्वाणी इति उपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः # प्रभवः प्रलयः तथा।।६।।

अनुवादः– सारा जीव जगत् मेरे परा और अपरा इन्हीं दो स्वरूपों से उत्पन्न हुआ है। अतः यह जान लो कि मैं ही सारे संसार की उत्पत्ति और विनाश का कारण हूँ।।६।।

व्याख्याः– भगवान् ने पिछले श्लोक में कहा है कि उन्होंने अपनी अपराशक्ति यानी सभी भौतिक वस्तुओं और उन सभी वस्तुओं का भोग करने वाला पराशक्ति यानी समग्र जीवजगत् का निर्माण किया हैं। तो इस शब्द से यह अर्थ निकलता है कि इस संसार की जितनी भी जड़ और चेतन वस्तुएँ हैं, एक शब्द में, ब्रह्म से लेकर स्तम्भ तक, सब कुछ उन्हीं की अपराशक्ति यानी जड प्रकृति और जीवनामक चेतनरूप पराप्रकृति द्वारा निर्मित हुआ है अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ही इस सृष्टि के रचयिता हैं।।६।।

मत्तः परतरं न अन्यत् # किञ्चित् अस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वम् इदं प्रोतं # सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

अनुवादः– हे धनंजय! इस दुनिया में मुझसे बेहतर कोई नहीं है। जिस प्रकार एक सूत्र में अनेक रत्न पिरोये जाते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाला मैं ही हूँ।।७।।

रसः अहम् अप्सु कौन्तेय # प्रभा अस्मि शशि-सूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु # शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

अनुवादः- मैं जल का रस हूँ, मैं चंद्रमा और सूर्य की किरणें हूँ, मैं वेदमें ओंकार ध्वनि हूँ, मैं आकाश में नाद हूँ और मैं पुरुषों में पौरुष हूँ (अर्थात् इस सारे जगत् का स्वामी मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है)।।८।।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च # तेजः च अस्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु # तपः च अस्मि तपस्विषु।।९।।

अनुवादः- मैं इस ब्रह्मांड की पवित्र गंध, अग्नि का तेज, सभी प्राणियों का जीवन और तपस्वियों की तपस्या हूँ।।९।।

बीजं मां सर्वभूतानां # विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिः बुद्धिमताम् अस्मि # तेजः तेजस्विनाम् अहम्।।१०।।

अनुवादः- हे पार्थ! यह जानो कि मैं समस्त प्राणियों का आदि बीज अर्थात् समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का सनातन कारण हूँ, मैं ही बुद्धिमानों की बुद्धि और पराक्रमी का पराक्रम हूँ (अर्थात् मेरे अतिरिक्त किसी की कोई अस्तित्व नहीं है)।।१०।।

बलं बलवताम् च अहं # काम-राग-विवर्जितम्।
धर्म-अविरुद्धो भूतेषु # कामः अस्मि भरत-ऋषभ।।११।।

अनुवादः- हे भरतश्रेष्ठ! मैं शक्तिमान की काम, क्रोध आदि रहित शक्ति हूँ, मैं प्राणियों में धर्मसम्मत पवित्र काम हुँ।।११।।

ये च एव सात्त्विका भावा # राजसाः तामसाः च ये।
मत्त एव इति तान् विद्धि # न तु अहं तेषु ते मयि।।१२।।

अनुवादः- सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरे स्वभाव के गुण और कार्य हैं। वे मुझसे निर्मित हैं। वे सब मुझमें हैं लेकिन मैं उनसे मुक्त हूँ अर्थात् मैं जीव की तरह उनके अधीन नहीं हूँ।।१२।।

त्रिभिः गुणमयैः भावैः # एभिः सर्वम् इदं जगत्।
मोहितं न अभिजानाति # माम् एभ्यः परम् अव्ययम्।।१३।।

अनुवादः- यह संसार इन तीन गुणों से मोहित है। अतएव सर्वसाधारण लोग मेरे इस नित्य अविनाशी रूप को नहीं देख सकते।।१३।।

व्याख्याः- भगवान् के कथन का अर्थ यह है कि सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण गहरे समुद्र के समान हैं। वे निम्न कोटि के हैं और जाहिर तौर पर मधुर लगती हैं। इसलिए लोग इन तीन गुणों के सागर में डूबना पसंद करते हैं। वे त्रिगुण के नशे में इतने मदहोश हो जाते हैं कि वे भगवान् के उस उत्कृष्ट रूप की ओर आकर्षित नहीं होते। जो सात्त्विक होते हैं वे अनेक पुण्य कार्य, दान, ध्यान, लोकसेवा आदि करते हैं और उनकी दृष्टि वहीं तक सीमित रहती है। रजो गुण वाले हमेशा भोग में लगे रहते हैं और तामसिक गुण वाले हमेशा कलुषित कर्मों में लगे रहते हैं। उनके पास उन सभी कर्मों को पार करने के लिए और परमात्मा की शाश्वत चिर अविनाशी रूप के प्रति आकर्षित होने की न तो समय है और न ही प्रवृत्ति है। इसलिए वे परमात्मा के स्वरूप को जान या समझ नहीं सकते।।१३।।

दैवी हि एषा गुणमयी # मम माया दुरत्यया।
माम् एव ये प्रपद्यन्ते # मायाम् एतां तरन्ति ते।।१४।।

अनुवाद:- सत्त्व, रज और तम मेरी यह चमत्कारी त्रिगुणात्मक शक्तियाँ मेरी दैवी माया है। इस माया को पार करना बहुत कठिन है। जो केवल मेरी शरण लेते हैं और मेरी भजन करते हैं, वे मेरे इस माया को पार कर सकते हैं।।१४।।

व्याख्या:- माया क्या है ? रामानुजाचार्य कहते हैं कि दैत्य, असुर, राक्षस और अस्त्रादिके भाँति जो शक्ति विभिन्न विचित्र क्रियाओं को करने में समर्थ है उसे माया कहलाती है- "मायाशब्दवाच्यत्वम् आसुरराक्षसास्त्रादीनाम् इव विचित्रकार्यकरत्वेन यथा च।" वे कहते हैं कि माया झूठ नहीं है - "मायाशब्दो न मिथ्यार्थवाची।" जब कोई जादूगर दर्शकों के सामने कोई झूठ दिखाता है, तो वह सच जैसा प्रतीत होता है। कोई भी मिथ्या वस्तु आँख से कभी नहीं देखी जा सकती। जैसा कि आज तक किसी ने सोने के पत्थर का कटोरा नहीं देखा है। लेकिन जब एक जादूगर द्वारा अपने जादू में पत्थर के कटोरे को सोने की होने का नाटक किया जाता है, तो यह सच लगता है। लेकिन यह मामला जादू के रहस्यों को जानने वाले की आंखों से नहीं देखा जा सकता है। यह भ्रम उन लोगों की आँखों में नहीं देखा जा सकता जिनकी आँखों में सत्य का प्रकाश भरा हुआ है। यह भ्रम केवल प्राकृत/लौकिक आंखों से ही देखा जा सकता है। इस संसार एक माया है। इसलिए सभी इस दुनिया को प्राकृत/लौकिक नजर से देखते हैं। और जैसे जादूगर स्वयं जादू नहीं है, वैसे ही ईश्वर भी माया नहीं है। इसलिए उनके स्वरूप

को कोई नहीं देख सकता। यदि भगवान् माया होते तो उनके विश्वरूप को देखने के लिए अर्जुन को दिव्यदृष्टि की आवश्यकता नहीं होती। श्रीमद्भाग्वत में कहा गया है -

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये।।

—श्रीमद्भाग्वत-महापुराण ११।३।३

अर्थात् आदि पुरुष परमात्मा परब्रह्म जिस शक्ति की सहायता से विभिन्न प्रकार के देवता, मनुष्य शरीर का निर्माण करते हैं, वह माया कहलाती है।।१४।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः # प्रपद्यन्ते नराधमाः।
मायया अपहृत-ज्ञाना # आसुरं भावम् आश्रिताः।।१५।।

अनुवादः- दुष्ट, दुराचारी, नराधम लोग माया के प्रभाव से अज्ञानी हो जाते हैं और इसलिए राक्षसी प्रवृत्ति के होते हैं और इस कारण से मेरी भजना नहीं करते हैं।।१५।।

चतुर्विधा भजन्ते मां # जनाः सुकृतिनः अर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी # ज्ञानी च भरत-ऋषभ।।१६।।

अनुवादः- हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन! चार तरह के लोग मेरी पूजा करते हैं। वे हैं - आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।।१६।।

व्याख्याः- आर्त पद का अर्थ है - जो लोग व्यथित हैं और शारीरिक या मानसिक कष्ट, खतरे, शत्रुता, रोग, अपमान, चोरों, लुटेरों, हमलावरों या क्रूर जानवरों आदि के हमले से बचने के लिए पूर्ण विश्वास और श्रद्धा के साथ भगवान् की शरण लेते हैं वे आर्त कहलाती हैं जैसे कि द्रौपदी।

जिज्ञासु का अर्थ – जो धन, जन, प्रजा, पुत्र, कुटुम्ब, रोग, शोक, मृत्यु-भय आदि की उपेक्षा कर एकचित्त होकर ईश्वर के उपदेशों को जानने का प्रयत्न करता है और ईश्वर की उपासना करता है, उसे जिज्ञासु कहा जाता है जैसे उद्धव, राजा परीक्षित् आदि।

अर्थार्थी पद का अर्थ है - जो इहलोक और परलोक का तत्त्व को जानता है और सांसारिक और पारलौकिक सुखों के लिए पूजा करता है जैसे सुग्रीव, विभीषण आदि ।

ज्ञानी का अर्थ है - जो ठीक से जानता है कि हृदय की इच्छाएं माया से उत्पन्न होती हैं और इसलिए भगवान् की पूजा करके अपने मन से कामनाओं को दूर करके परमात्मा को प्राप्त करता है और हृदय में दृढ़ता से विश्वास करता है कि परमात्मा के अलावा कुछ भी नहीं है, उसे ज्ञानी कहा जाता है जैसे कि शुकदेव, सनकादि, नारद, भीष्म आदि महात्मागण। यहाँ ज्ञानी पद से भगवान् का तात्पर्य तत्त्वज्ञानी भक्त से नहीं है। यहां ज्ञानी पद से उनका तात्पर्य है प्रेमी भक्त अर्थात जो भक्त जागते हुए, नींद में, सपने में सभी स्थितियों में हर तरह से भगवान् के प्रति अटूट प्रेम से भरे रहते हैं, वे भगवान् के ज्ञानी भक्त हैं।।१६।।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त # एकभक्तिः विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनः अत्यर्थम् # अहं स च मम प्रियः।।१७।।

अनुवादः- इन चारों प्रकार के मेरे उपासकों में से ज्ञानी उपासक श्रेष्ठ है क्योंकि वह सदैव मुझ एक को ही भजता है। मैं ज्ञानी भक्तों को अत्यंत प्रिय हूँ और ज्ञानी भक्त भी मुझे अत्यंत प्रिय हैं।।१७।।

व्याख्याः- ज्ञानी भक्त भगवान् को सबसे प्रिय क्यों होता है? रामानुजाचार्य ने इस प्रश्न का बहुत ही संक्षिप्त रूप में सही उत्तर दिया- ''मदेक प्राप्यस्य मया योगो नित्यः'' इति। अर्थात् ज्ञानी भक्त हमेशा केवल भगवान् कृष्ण को प्राप्त करने के लिए उनसे जुड़ा रहता है। लेकिन अन्य प्रकार के भक्त भगवान् से तब तक जुड़े रहते हैं जब तक उन्हें वह नहीं मिल जाता जो वे उनसे चाहते हैं। कृष्ण के ज्ञानी भक्तों में सबसे ऊपर भक्त प्रह्लाद हैं। विष्णुपुराण (१।१७।३९) कहते है –

स त्वासक्तमतिः कृष्णे दृश्यमानो महोरगैः।
न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसंस्थिताः।।

अर्थात् हिरण्यकशिपु की आज्ञा से जब कुहक, अंधक, तक्षक आदि विषैले सर्पो ने उसे डसना शुरू किया तो वह कृष्ण के चिंतन में इतना मग्न था कि उसे सर्प के दंश का अनुभव ही नहीं हो रहा था।।१७।।

उदाराः सर्व एव एते # ज्ञानी तु आत्मा एव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्त आत्मा # माम् एव अनुत्तमां गतिम्।।१८।।

अनुवादः- ये चारों प्रकार के सभी भक्त महान हैं। लेकिन मेरे अनुसार ज्ञानी भक्त मुझे सबसे प्रिय है क्योंकि ज्ञानी भक्त हमेशा अपने मन और आत्मा को मेरे लिए समर्पित करता है और सर्वोच्च और परम गति समझकर मेरी शरण लेता है।।१८।।

व्याख्याः- भगवान् की दृष्टि में कोई भी भक्त छोटा नहीं होता और अपने अभक्त पर भी उनकी कृपा होती है। लेकिन फिर भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से पसंद और नापसंद के बीच कभी कभी कुछ अंतर तो बना

रहता है जैसे कि उनके सबसे पसंदीदा भक्तों में ब्रह्मा आदि देवताओं से भी उद्धव उन्हें अधिक प्रिय हैं। फिर, गोपिकाएँ उन्हें उद्धव से भी अधिक प्रिय हैं। अर्थात् जो भक्त उनके प्रति जितना अधिक समर्पित होता है, वह उतना ही उनके अधिक प्रिय होता है। ज्ञानी भक्त हमेशा अपने मन को कृष्ण पर केंद्रित करता है, कृष्ण के अलावा किसी और के बारे में कभी नहीं सोचता, वह कृष्ण के चरणकमलों की अनन्य भक्ति के अलावा और कुछ नहीं चाहता, वह कृष्ण के अलावा एक क्षण भी नहीं रह सकता, उसके लिए कृष्ण के बिना सारा संसार खाली है, वह हमेशा कृष्ण को परम गति, परमाश्रय मानता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि ज्ञानी भक्त उनका परम प्रिय हैं।।१८।।

बहूनां जन्मनाम् अन्ते # ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वम् इति # स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

अनुवादः- ज्ञानी भक्त अनेक जन्मों के बाद इस बात को जान लेता है कि इस संसार में सब कुछ मैं ही हूँ और तब वह मेरी शरण ग्रहण करता है। ऐसा भक्त बहुत ही दुर्लभ होता है।।१८।।

कामैः तैः तैः हृतज्ञानाः # प्रपद्यन्ते-अन्य-देवताः।
तं तं नियमम् आस्थाय # प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

अनुवादः- जिनके मन में पत्नी, पुत्र, परिवार, धन आदि में प्रबल आसक्ति है, वे अपना ज्ञान खो चुके हैं। वे अन्य देवताओं की पूजा करने की विधि का पालन करते हैं और केवल उनकी ही पूजा करते हैं ।।२०।।

यो यो यां यां तनुं भक्त: # श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति।
तस्य तस्य अचलां श्रद्धां # तामेव विदधामि अहम्।।२१।।

अनुवाद:- जो कोई भक्त जिस देवता की भी श्रद्धाके साथ पूजना चाहता है, उसकी मनोकामना पूर्ण करने के लिए मैं उन सभी देवताओं के प्रति उसकी निरंतर अटल भक्ति स्थापित करने की व्यवस्था करता हूँ।।२१।।

व्याख्या:- लोगों द्वारा पूजे जाने वाले इंद्र, सूर्यादि सभी देवताओं के अंदर नारायण निवास करते हैं। वे सब नारायण के ही शरीर हैं। लेकिन ये सभी लोग इस सच्चाई नहीं जानते हैं। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है –"य: पृथिव्यां तिष्ठन् अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं" (३।७।३) अर्थात् वे पृथ्वी देवता के भीतर निवास करते हैं और पृथ्वी उनका शरीर है परंतु पृथ्वी देवता उसे नहीं जानते, जिस जल-देवता के शरीर में नारायण निवास करते हैं वह जल-देवता भी नारायण को नहीं जानता – "य: अप्सु तिष्ठन् अद्भ: अन्तरो यमापो न विदु: यस्य आप: शरीरं" (३।७।४), अग्निदेवता उनका शरीर है और यद्यपि वे अग्निदेवता के भीतर निवास करते हैं, अग्निदेवता उन्हें नहीं जानते - "य: अग्नौ तिष्ठन् अग्ने: अन्तरो यमग्नि: न वेद यस्य अग्नि: शरीरं" (३।७।५), वह अंतरिक्ष उनका शरीर है और वे अंतरिक्ष के भीतर मौजूद है लेकिन अंतरिक्ष देवों उन्हें नहीं जानते - "य: अन्तरिक्षे तिष्ठन् अन्तरिक्षात् अन्तरो यम् अन्तरिक्षं न वेद यस्य अन्तरिक्षं शरीरं" (३।७।६), वायु उनका शरीर है और वे वायुदेवता के भीतर निवास करते हैं, परंतु वायुदेवता उन्हें नहीं जानते - "यो वायौ तिष्ठन् वायो: अन्तरो यं वायु: न वेद यस्य वायु: शरीरं" (३।७।७), सूर्य नारायण का शरीर है और नारायण सूर्यदेवता के भीतर निवास करते हैं, परंतु सूर्यदेवता उन्हें नहीं

जानते- "य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यात् अन्तरो यं आदित्यो न वेद यस्य आदित्य: शरीरं" (३।७।७) इत्यादि। तो ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्यादि सभी देवता कृष्ण के ही शरीर हैं अर्थात् पुरा ब्रह्मांड भगवान् कृष्ण से भरा हुआ है। इसलिए उन देवताओं की पूजा करने का अर्थ है भगवान् कृष्ण की ही पूजा करना और चूंकि भगवान् कृष्ण परम दयालु हैं, जब जब वे सभी लोग उन देवताओं की पूजा करते हैं, तो भगवान् कृष्ण प्रसन्न होते हैं और भक्त की उन सभी देवताओं के प्रति निरंतर अटल भक्ति की व्यवस्था करते हैं।।२१।।

स तया श्रद्धया युक्त: # तस्य आराधनम् ईहते।
लभते च तत: कामान् # मया एव विहितान् हि तान्।।२२।।

अनुवाद:- वे भक्तों उस देवता की सच्चे मन से पूजा करते हैं और जो कुछ काम्य-वस्तु वे उन देवताओं से प्राप्त करते हैं मैं ही उन्हें उन देवताओं से दिलाने की व्यवस्था करता हूँ ।।२२।।

अन्तवत् तु फलं तेषां # तत् भवति अल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति # मद्भक्ता यान्ति माम् अपि ।।२३।।

अनुवाद:- इन सब उपासकों की बुद्धि अल्प है। उन देवताओं की पूजा करने से उन्हें जो फल मिलता है वह नश्वर, क्षणभंगुर होता है। उन सभी उपासकों ने उन देवताओं की पूजा करता है और पूजा के फलस्वरूप इन्हें देवलोक में स्थान प्राप्त होता है। परंतु जो मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त करते हैं ।।२३।।

अव्यक्तं व्यक्तिम् आपन्नं # मन्यन्ते माम् अबुद्धय:।
परं भावम् अजानन्तो # मम अव्ययम् अनुत्तमम्।।२४।।

अनुवाद:- बुद्धिहीन लोग मेरे अविनाशी सर्वोत्तम अव्यक्त रूप को नहीं

देख सकते। इसलिए वे समझते हैं कि मैं भी उन्हीं की तरह एक हाड़-मांस का व्यक्ति हूँ।।२४।।

न अहं प्रकाशः सर्वस्य # योगमाया-समावृतः।
मूढः अयं न अभिजानाति # लोको माम् अजम् अव्ययम्।।२५।।

अनुवादः- मैं सदैव योगमाया से आच्छादित रहता हूँ। इसलिए मैं हर समय प्रकट नहीं होता और इस कारण अज्ञानी मेरे जन्मरहित सनातन रूप को नहीं देख पाते।।२५।।

व्याख्याः- योगमाया क्या है? माया दो प्रकार की होती है- महामाया और योगमाया। ब्रह्मांड के सभी प्राणी महामाया की माया से आच्छादित हैं। वे उस मायाजाल के चंगुल से बाहर नहीं आ पाता। इसलिए वे जीवन के वास्तविक सत्य को महसूस नहीं कर पाता है। वे माया की कठपुतली है। भगवान् कृष्ण भी माया से घिरे हुए हैं। लेकिन वे उस माया के अधीन नहीं है, बल्कि वह माया ही कृष्ण के अधीन है। यह योगमाया है। श्रीकृष्ण के संकल्प को योग कहते हैं। उस योग से जो माया प्राप्त हो सकती है वह योगमाया है। भगवान् कृष्ण जानते हैं कि कब इस योगमाया को दूर करना है और कामना, वासना, आकांक्षा रहित ज्ञानी भक्त के सामने प्रकट होना है जिसने अपना मन उन्हें समर्पित कर दिया है ताकि ज्ञानी भक्त उनके शाश्वत, अक्षय, अविनाशी रूप को देखकर अपनी जन्म-जन्मांतर की इच्छाओं को पूरा कर सके। महामाया जीवों के अधीन नहीं है, लेकिन योगमाया कृष्ण के अधीन है।।२५।।

वेद अहं समतीतानि # वर्तमानानि च अर्जुन।
भविष्याणि च भूतानि # मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

अनुवादः- हे अर्जुन! मैं वह सब कुछ जानता हूँ जो भूतकाल में हुआ

है, मैं वह सब कुछ जानता हूँ जो अब हो रहा है और मैं वह सब कुछ जानता हूँ जो भविष्य में होगा। परंतु मेरे वास्तविक स्वरूप को कोई नहीं जान सकता।।२६।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् अपने स्वरूप के विषय में विशेष संदेश देते हैं। वे कहते हैं कि वे भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी प्राणियों को जानते हैं लेकिन जीव उन्हें नहीं जानता। अर्थात् वे यहाँ कहते हैं कि

ट । `

सर्वज्ञ हैं परंतु जीव अल्पज्ञ है। इस ब्रह्माण्ड में एकमात्र ब्रह्म ही सर्वज्ञ हैं, वे जीव नहीं हैं, वे जीव से असीम रूप से ऊपर हैं। जीव अनेक हैं लेकिन परब्रह्म भगवान् एक और अद्वितीय हैं। जीव कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। लेकिन मानव शरीर वाले मायावादीगण खुद को ब्रह्म मानते हैं। अल्पज्ञ मायावादी अपनी अज्ञानता के कारण ऐसा सोचते हैं। अल्पज्ञ व्यक्ति सर्वज्ञ ब्रह्म के संपूर्ण स्वरूप के बारे में स्पष्ट विचार कैसे कर सकता है? चूँकि भगवान् का स्वरूप योगमाया से ढका हुया है इसलिये अज्ञानी लोग उन्हें एक साधारण मनुष्य समझने की भूल करते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद १/९ मंत्र में ईश्वर की सर्वज्ञता की घोषणा करते हुए कहता है – ''ज्ञ-अज्ञौ द्वौ अजौ ईश-अनीशौ अजा हि एका भोक्तृ-भोग्य-अर्थ-युक्ता। अनन्त: च आत्मा विश्वरूप: हि अकर्ता'' इति। अर्थात् ब्रह्म 'ज्ञ' अर्थात् सर्वज्ञ हैं लेकिन जीव अज्ञ हैं। वे 'ईश' अर्थात् सबका मालिक है, माया के अधीन नहीं हैं, वे मायाधीश हैं, स्वतंत्र हैं, स्वाधीन हैं। वे अकेला अज अर्थात् जन्मरहित हैं अर्थात् उनका जन्म नहीं हुआ है। वे अनादि, अनंत, सर्वव्यापी हैं और इसलिए उसे कर्तापन का कोई बोध नहीं है।

जीव और ब्रह्म में यही अंतर है। अत: वे जीव का शरीर में होते हुए भी वे जीव नहीं हैं। वे कहते हैं कि अल्पज्ञ प्राणी उन्हें नहीं जान सकते।

तो वास्तव में क्या उन्हें कोई नहीं जान सकता? तो क्या वे सबकी समझ से बाहर हैं? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा कि जब भक्तों के हृदय में उनके प्रति अहैतुकी यानी उनसे कुछ भी अपेक्षा किये बिना अनन्य भक्ति होती है तब धीरे-धीरे माया का काजल उनकी आंखों से ओझल हो जाता है और उनके हृदय में सत्य और ज्ञान का प्रकाश जगमगाने लगता है। मुण्डकोपनिषद के मंत्र ३।२।३ में कहा गया है - 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य'। अर्थात् जो संत परमात्माकी प्राप्तिकी इछा करता है वह उस इच्छाके द्वारा यानी ''में ही वह परमात्मा''- इस अभेद विचार से ही इनकी प्राप्ति हो सकती है। साधक का यह प्रयास तभी पूरा होता है जब वह परम पुरुष के प्रति अनन्य भक्ति अर्पित करता है। संक्षेप में, ईश्वर को प्राप्त करने का एकमात्र तरीका उनके प्रति एकाग्रचित्तता यानी उन पर ध्यान केंद्रित करना है। विभिन्न वस्तुओं के प्रति विचलित मन से भगवान् की प्राप्ति संभव नहीं है।।२६।।

इच्छा-द्वेष-समुत्थेन # द्वन्द्व-मोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं # सर्गे यान्ति परन्तप।।२७।।

अनुवादः- हे भरतश्रेष्ठ शत्रुहंता अर्जुन! उत्पत्ति के समय से अर्थात् स्थूल शरीर में जन्म के समय से ही सभी जीव इच्छा-द्वेष, शीत-ताप आदि द्वन्द्वों में उलझे रहते हैं।।२७।।

व्याख्याः- भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में अनेक स्थानों पर कहा है कि काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि मनुष्य जीवन के परम शत्रु हैं। वे पाप, अज्ञान और अविद्या के परिणाम हैं। वे दुश्मन लोगों को नेकी और सच्चाई के रास्ते से भटका कर गुमराह करते हैं। इन शत्रुओं जैसे काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि का वर्णन यहाँ भगवान् ने इच्छा-द्वेष के रूप में किया है। किसी वस्तु

को पाने की आकांक्षा को इच्छा कहते हैं और उस वस्तु को प्राप्त न कर पाने पर हृदय में उत्पन्न होने वाले क्रोध को द्वेष कहते हैं। यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि मनुष्य जन्म से ही राग-द्वेष, शीत-ताप आदि द्वन्द्वों में आसक्त रहता है। लेकिन यह कैसा है? बात को एक स्थूल उदाहरण से अच्छी तरह समझाया जा सकता है। जब बच्चा पैदा होता है तो वह मां का दूध पीने के लिए लालायित हो जाता है। यह उसकी इच्छा है। लेकिन जब वह मां का दूध नहीं पी पाता तब वह रोता है। यही उसकी द्वेष है। सुख और दुख के बीच के इस संघर्ष को बच्चा दूर नहीं कर सकता। तो, इस संघर्ष से मोहित होकर वह रोना शुरू कर देता है। इसी प्रकार प्राकृत पुरुष पार्थिव संसार की नश्वर वस्तुओं की प्राप्ति में मिथ्या सुख और अप्राप्ति में मिथ्या दु:ख के द्वन्द्व में इतना आसक्त हो जाता है कि वह इस मोह की सीमा को पार कर ईश्वर के प्रति सच्चा प्रेम अनुभव करने में असफल हो जाता है। व्यापक अर्थ में यही राग-द्वेष धीरे से कालांतर में मानव जीवन में एक विराट रूप धारण कर लेता है और मानव जीवन को असफल, जहरीला बना देता है। इससे छुटकारा पाना बहुत मुश्किल है। परंतु जो ज्ञानी पुरुष सुख-दु:ख के इस द्वंद्व को पार कर सकते हैं, संसार के चाहने और पाने का क्षुद्र, तुच्छ द्वंद्वों उनके हृदय से हट जाता है और तब ही वे शांत और स्थिर मन से परमात्मा के ध्यान में लीन हो सकते हैं।।२७।।

येषां तु अन्तगतं पापं # जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ता # भजन्ते मां दृढव्रता:।।२८।।

अनुवाद:- किंतु जब पुण्यात्माओं के सब पाप नष्ट हो जाते हैं, तब उनके हृदय में सुख-दु:ख, भले-बुरे की कोई इच्छा नहीं रहती। तब वे दृढ़ निश्चय के साथ मेरी भजना करते हैं।।२८।।

जरा-मरण-मोक्षाय # माम् आश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तत् विदुः कृत्स्नम् # अध्यात्मं कर्म च अखिलम्।।२९।।

अनुवादः- जो लोग जरा और मृत्यु से छुटकारा पाने और मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक हैं वे मेरे साथ जुड़ते हैं और मेरी शरण लेते हैं और इस प्रकार जो पवित्र आत्माएं मेरे प्रति समर्पित हैं वे उस ब्रह्मतत्त्वको, सम्पूर्ण अध्यात्मतत्त्वको और समस्त कर्मोंतत्त्वोंको जान सकते हैं।।२९।

साधिभूत-अधिदैवं मां # साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाण-काले अपि च मां # ते विदुः युक्त-चेतसः।।३०।।

अनुवादः- अभिधूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित जो मुझे भली-भाँति
जानते हैं, उनके हृदय मुझसे जुड़ा रहता है और वे मृत्यु के समय भी मुझे नहीं भूलते।।३०।।

व्याख्याः- रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द सहित यह सम्पूर्ण नश्वर जगत् अर्थात् परमात्मा का अपरा प्रकृति और गीता के पंद्रहवें अध्याय में वर्णित क्षर पुरुष जो भूत अर्थात् जीव का आत्मा अर्थात् शरीर को धारण करने वाला है उन्हें 'अधिभूत' कहा जाता है। इंद्र, प्रजापति आदि सभी देवताओं से ऊपर, सभी देवताओं के स्वामी, जो सभी जीवों और इंद्रियों के अधिपति हैं, उस आदिपुरुष हिरण्यगर्भ ब्रह्मा को 'अधिदैव' कहलाते हैं। जो अविनश्वर भगवान् सभी प्राणियों के हृदय में अंतर्यामी रूप से व्याप्त हैं, वे श्रीकृष्ण ही अधियज्ञ हैं। ।।३०।।

।। सातवाँ अध्याय समाप्त ।।

आठवाँ अध्याय

अक्षरब्रह्मयोग

अर्जुन उवाच

किं तत् ब्रह्म किम् अध्यात्मं # किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तम् # अधिदैवं किम् उच्यते।।१।।

अनुवाद:- अर्जुन ने कहा- हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अभिधूत और अधिदैव किसको कहा जाता है?।।१।।

अधियज्ञ: कथं क: अत्र # देहे अस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेय: # असि नियत आत्मभि:।।२।।

अनुवाद:- यह अधियज्ञ कौन है? वह इस शरीर में कैसे रहता है? मृत्यु के समय संयतचित्त लोग आपको कैसे जान सकते हैं?।।२।।

श्रीभगवान् उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं # स्वभाव: अध्यात्मम् उच्यते।
भूत-भाव-उद्भव-करो # विसर्ग: कर्म-संज्ञित:।।३।।

अनुवाद:- श्रीभगवान् ने कहा- जो परम अक्षर अर्थात् सनातन है, जिसका कभी नाश नहीं होता वह परमतत्त्व ब्रह्म कहलाता है। वह प्रत्येक जीव के शरीर में जीवात्मा के रूपमें निवास करता है और इसे उनका स्वभाव यानी अध्यात्म कहा जाता है। जीवों की उत्पत्ति और विसर्ग अर्थात् द्रव्यत्यागरूप यज्ञ को कर्म कहते हैं।।३।।

व्याख्या:- जीव को एक शब्द में ब्रह्म कहा गया है। शरीर जीव नहीं है, बल्कि जो शरीर के भीतर रहता है वह जीवात्मा है और वह ब्रह्म कहलाता है। शरीर उसका खोल या पोशाक है। मायाग्रस्त लोग शरीर को जीव समझने की भूल करते हैं। ब्रह्म और परब्रह्म में अंतर है।

जीव ब्रह्म है लेकिन जो सबसे ऊपर है अर्थात् ब्रह्म से भी परे है वही भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। वे परब्रह्म स्वयं सभी जीवों में अंश के रूप में निवास करते हैं। यह उनकी अभ्यास यानी स्वभाव है और शरीर, मन, बुद्धिरुप अपराशक्ति को आश्रय करना उनकी अभ्यास को अध्यात्म कहलाती है। वह किसी समय कोइ शरीर धारण करते हैं और एक समय उस शरीर को त्याग देते हैं, उसे उनकी कर्म कहा जाता है।।३।।

अधिभूतं क्षरो भाव: # पुरुष: च अधिदैवतम्।
अधियज्ञ: अहम् एव अत्र # देहे देहभृतां वर।।४।।

अनुवाद:- हे अर्जुन! नश्वर शरीर को अभिधूत कहा जाता है और जो पुरुष इन शरीरों का अधिपति है वह अधिदैव है और इस शरीर में निवास करता हुया मैं हूँ अधियज्ञ।।४।।

व्याख्या:- जीव के शरीर सहित इस सृष्टि में जो कुछ भी नश्वर अर्थात् उत्पत्तिशील और नाशवान है, वह सब अभिधूत कहलाता है। अधिदैव शब्द का अर्थ है अधिष्ठाता देवता। सौरमंडल में अवस्थित विराट् पुरुष स्वयं के अंश के रूप में सभी देवताओं का स्वामी यानी अधिपति है। इसलिए वह अधिदैव है। नि:संन्देह वह हैं आदिपुरुष ब्रह्मा जो सभी प्राणियों के आदिकर्ता हैं। और स्वयं परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण, जो सभी जीवों के हृदय में निवास करते हैं, वह अधियज्ञ हैं।।४।।

अन्तकाले च माम् एव # स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति सः मद्भावं # याति नास्ति अत्र संशयः।।५।।

अनुवादः- जो मनुष्य अंतकाल में मेरे स्मरण करते हुए परलोक को जाता है, वह नि:संन्देह मेरे भाव को प्राप्त करता है।।५।।

यं यं वापि स्मरन् भावं # त्यजति अन्ते कलेवरम्।
तं तमेव एति कौन्तेय # सदा तद्भाव-भावितः।।६।।

अनुवादः- हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! अंतकाल के समय जो मनुष्य जिस विषय का स्मरण करते हुए भवसागर की ओर कदम बढ़ाता है, वह मृत्यु के बाद उस उस भावसे भावित हुआ उस भाव को ही प्राप्त होता है।।६।।

व्याख्याः- 'भाव' शब्द का अर्थ है मन में अवस्थित विषय। मनुष्य अपने हृदय में स्थित सत्त्व, रज और तमोगुण के प्रभाव से सारा जीवन इन तीनों गुणों की भिन्नता के अनुसार ईश्वर, देवता, पशु, कीट, वृक्ष, भूमि, गृह, आभूषण, वस्त्र आदि के बारे में अधिक सोचता है। इन सभी चीजों को भाव कहा जाता है। वह जिस चीज से बहुत प्यार करता है, उस विषय के विचार में हर समय गहराई से तल्लीन रहना उसकी आदत बन जाती है और मृत्यु के समय भी वह उसी चीज के बारे में सोचता है, और अगले जन्म में वह उस भाव को प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए, सत्त्वगुण युक्त व्यक्ति यदि ईश्वर के बारे में सोचता है, तो वह भगवान् के सामीप्य को प्राप्त करता है, यदि वह मनुष्य, पशु, कीड़े, पतंगे आदि के बारे में सोचता है, तो वह उस रूप में पैदा होता है। लेकिन अगर रजोगुण या तमोगुण युक्त व्यक्ति घर, गहने आदि के बारे में सोचते हुए परलोक में जाता है तो उसका क्या होगा? इसका उत्तर यह है कि उसकी मनोकामना भी पूरी होगी। लोमड़ी, चूहे आदि जानवर जमीन के नीचे घर बना लेते हैं या कई लोग पालतू जानवरों के गले

में आभूषण पहनाते हैं। यदि वह व्यक्ति तामसिक गतिविधियों में लिप्त होता है, तो वह अन्य जानवरों जैसे लोमड़ीयों, चूहों आदि के रूप में जन्म लेगा और जमीन के नीचे उनके जैसा घर प्राप्त करेगा या एक अच्छे घर में आभूषण पहने हुए घरेलू पशु के रूप में जन्म लेगा। मन एक दर्पण है। उस दर्पण में डाली गई छाया उस दर्पण में चिपक जाता है और अगले जन्म में उसके जीवन में वह छाया प्रतिबिम्बित होती है जैसा कि राजा भरत के साथ हुआ था। राजा भरत एक हिरण के बच्चे के बारे में सोचते हुए मर गए और अगले जन्म में हिरण के रूप में पैदा हुए।।६।।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु # माम् अनुस्मर युध्य च।
मयि अर्पित-मनोवुद्धिः # माम् एव एष्यसि असंशयम्।।७।।

अनुवादः- इसलिये सदैव मेरा ही चिंतन करके युद्ध में लगो अर्थात् अपना कर्तव्य करो। इस प्रकार तुम अपने मन और बुद्धि को मुझे समर्पित कर सकते हो तो निश्चय ही तुम मुझे प्राप्त कर सकते हो।।७।।

अभ्यासयोग-युक्तेन # चेतसा न अन्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं # याति पार्थ अनुचिन्तयन्।।८।।

अनुवादः- हे पार्थ! हृदय में सदा परमात्मा का चिंतन करने की आदत बनाकर, मन को सब बातों से हटाकर और सदा उनके ध्यान में लीन रहने से उस परम दिव्य पुरुष की प्राप्ति हो सकती है।।८।।

व्याख्याः- यहाँ भगवान् ने पिछले श्लोक में वर्णित समस्या से कैसे छुटकारा पाया जाए इस संबंध में भक्तों को बताया है कि व्यक्ति को हमेशा भगवान् कृष्ण के चरणों में अपने आप को संलग्न करने की आदत विकसित

करनी चाहिए। तभी वह एक दिन उनके चरणों में शरण पाएगा। एक साधारण भक्त अपने हृदय में हमेशा कृष्ण के बारे में सोचने की आदत विकसित कैसे कर सकता है इस संबंध में पद्मपुराण में एक सुंदर उपाय कहा गया है-

आद्यं तु वैष्णवं प्रोक्तं शङ्खचक्राङ्कनं हरेः।
धारणं च ऊर्ध्वपुण्ड्राणां तन्मन्त्राणां परिग्रहः।
कीर्तनं श्रवणं चैव वन्दनं पादसेवनम्।
तत्पादोदकसेवा च तन्निवेदितभोजनम्।
तदीयानां च सेवा च द्वादशी व्रतनिष्ठितम्।
तुलसीरोपणं विष्णोर्देवदेवस्य शर्ङ्गिणः।
भक्तिः षोड़शधा प्रोक्ता भवबन्धनविमुक्तये।।

अर्थात् जिस प्रकार एक स्त्री विवाह के पूर्व सोलह शृङ्गारों से सुशोभित होती है, उसी प्रकार सोलह प्रकार के भक्तिरूपी शृङ्गारों का आश्रय लेकर यदि कोई भक्त कृष्ण उपासना में निरंतर तल्लीन रहने की आदत विकसित कर ले तो उसे आसानी से भगवान् कृष्ण की शरण मिल सकती है। भक्तिरूपी श्रृंगार के वह सोलह प्रकार हैं - वैष्णव होना, शंखचक्र धारण करना, माथे पर ऊपर की ओर तिलक लगाना, भगवान् कृष्ण के चरित्रकथा को सुनना, भगवान् कृष्ण की दिव्य मंगल मूर्तिका चिंतन करना, भगवान् कृष्ण की स्तुति करना, नाम का जाप करना, भगवान् कृष्ण का चरणामृत पान करना, भगवान् कृष्ण के चरणों की सेवा करना, भगवान् को भोग लगाना और फिर उस भोग को भोजन के रूप में ग्रहण करना, भगवान् कृष्ण के चरणों में अपनी आत्मा को अर्पित करना, भगवान् के भक्तों की सेवा करना, भक्ति के साथ द्वादशी व्रत का पालन करना और तुलसी का वृक्ष लगाना।।८।।

कविं पुराणम् अनुशासितारम् # अणोः अणीयांसम् अनुस्मरेद यः।
सर्वस्य धातारम् अचिन्त्यरूपम् # आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।

अनुवादः- जो कवि अर्थात् सर्वज्ञ है वह मरने के समय सनातन, विश्व का अधिपति, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, जगत् का स्वामी, मन और बुद्धि से परे, सूर्य के समान महान ज्योतिष्मान, अज्ञानरूप मोहमय अंधकार से भी गहरा परम पुरुष का स्मरण करता है।।९।।

प्रयाणकाले मनसा अचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन च एव।
भ्रूवौः मध्ये प्राणम् आवेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषम् उपैति दिव्यम्।।१०।।

अनुवादः- जो मरनेके समय एकाग्र होकर, भक्तिपूर्वक, योगबल से भौहों के बीच में प्राणवायु को रखकर प्रभु का ध्यान करता है, वह उस दिव्य पुरूष को प्राप्त करता है।।१०।।

यत् अक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यत् यतयो वीतरागाः ।
यत् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

अनुवादः- जिस परमपद को वेदज्ञ ज्ञानी अविनाशी कहते हैं, जिसके हृदय में अनासक्त योगी प्रवेश करते हैं, जिसे पाने के लिए ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस परम पद को कैसे प्राप्त किया जाए, यह मैं तुम्हें संक्षेप में बता रहा हूँ।।११।।

सर्वद्वाराणि संयम्य # मनो हृदि निरुध्य च।

मूर्ध्नि आधाय आत्मनः प्राणम् # आस्थितो योगधारणाम्।।१२।।

(यह एक यौगिक श्लोक है। अतः इस श्लोक का अर्थ अगले श्लोक के भाग 'स याति परमां गतिम् = 'वह परमगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है' की सहायता से पूरा होगा)

अनुवादः- जो सब इंद्रियों के द्वार बंद करके मन को हृदय से बाँध लेता है और प्राणवायु को भौंहों के बीच में रखकर योग में स्थित होकर (मेरा स्मरण करते हुये प्रस्थान करता है, वह परमगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।) ।।१२।।

ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म # व्याहरन् माम् अनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन् देहं # स याति परमां गतिम्।।१३।।

अनुवादः- (उपर्युक्त प्रकार से योग में स्थित होकर) 'ॐ' इस एक अक्षर-ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और मुझे स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़कर जाता है, वह परमगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।। १३।।

अनन्यचेताः सततं # यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्य अहं सुलभः पार्थ # नित्ययुक्तस्य योगिनः।। १४।।

अनुवादः- हे पार्थ! जो मेरे प्रति एकचित्त है अर्थात् अन्य किसी कर्म या योग या स्वर्ग की प्राप्ति के बारे में सोचे बिना, हमेशा केवल मुझे ही याद करता है, उस नित्ययुक्त योगी मुझे आसानी से प्राप्त कर लेता है।। १४।।

माम् उपेत्य पुनर्जन्म # दुःखालयम् अशाश्वतम्।
न आप्नुवन्ति महात्मनः # संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

अनुवादः- मुझको प्राप्त करके वे परम सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए मेरे उन सभी महात्मा भक्तों को पुनर्जन्म लेकर फिर दु:ख के अनंत संसार में प्रवेश नहीं करना पड़ता।।१५।।

आब्रह्मभूवनात् लोकाः # पुनः आवर्तिनः अर्जुन।
माम् उपेत्य तु कौन्तेय # पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

अनुवादः- हे अर्जुन! (मेरे विपरीत विशेष विशेष कर्मों की सहायता से) जो ब्रह्मलोक सहित अन्य लोक तक भी पहुँचते हैं उन्हें भी कभी न कभी पुनर्जन्म लेना पड़ता है। लेकिन हे कौन्तेय! मेरे एकचित्त भक्त जो मुझे प्राप्त कर लेता है, उसे फिर से जन्म नहीं लेना पड़ता।।१६।।

व्याख्याः- श्रीधरस्वामी अपने गीता भाष्य में कहते हैं कि ब्रह्मांड में सभी प्रकार के लोक आवर्ती हैं अर्थात् इन सभी लोक के निवासियों को किसी न किसी समय पुनर्जन्म स्वीकार करना होगा और ब्रह्मलोक इसका अपवाद नहीं है, ब्रह्मलोक भी नाशवान है - "सर्वे लोका: पुनरावर्तनशीला: ब्रह्मलोकस्यापि विनाशी:" इति (श्रीधराचार्य)। अत: जिन्हें ब्रह्मलोक में स्थान प्राप्त होता है उन्हें भी पुन: इस लोक में आना पड़ता है- "अनुत्पन्नज्ञानानामवश्यम्भावि पुनर्जन्म।" तो उन सभी आत्माओं को मुक्ति कैसे मिलेगी? इस संबंध में श्रीधरस्वामी कहते हैं कि जो लोग जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्तिदायक पूजा उपासनाओं के माध्यम से ब्रह्मलोक में स्थान प्राप्त करेंगे, उनमें से जो अपने प्रवास के दौरान परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होंगे, केवल वे ही ब्रह्म के साथ मुक्ति प्राप्त करेंगे - "य एवं क्रममुक्तिफलाभिरूपासनाभिर्ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामेव तत्रोत्पन्नज्ञानानां ब्रह्मणासह

मोक्षो नान्येषाम्।" भगवान् इस श्लोक में क्यों कहते हैं कि ब्रह्मलोक में शरण लेने का अर्थ पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति नहीं है, इसका कारण श्रीधराचार्य की व्याख्या में स्पष्ट हो जाता है। उनका कहना है कि ब्रह्मलोक का निवासी परम भगवान् का ज्ञान प्राप्त करने के बाद ब्रह्मा के साथ ही मुक्ति प्राप्त करता है। तब यह स्पष्ट है कि स्वयं ब्रह्मा को मुक्ति नहीं मिली। तो यदि उस लोक के स्वामी ने मुक्ति प्राप्त नहीं की है तो उस लोक के अन्य निवासियों को मुक्ति कैसे मिल सकती है? ब्रह्मा की मुक्ति कब और कैसे होती है, यह जानना भी आवश्यक है। इस संबंध में स्मृति कहते हैं कि प्रलय आने पर ब्रह्मा भगवान् विष्णु के परमपदमें प्रवेश करते हैं और मुक्ति प्राप्त करते हैं और उस समय ब्रह्मलोक में स्थित पवित्र मन वाले सभी पुरुष भी विष्णु के परमपद में प्रवेश करके मुक्ति प्राप्त करते हैं-

ब्रह्मणा सह ते सर्वेसम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविश्यन्ति परं पदम्।।

तो सभी मुक्तिकामी लोगों के लिए कृष्ण की उपदेश है कि मुक्ति पाने के लिए गलत इरादों के साथ विभिन्न लोक में प्रवेश करने का प्रयास करना वांछित परिणामों के अनुकूल नहीं है। इसलिए सभी मुमुक्षु व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे भगवान् कृष्ण के धाम में सीधे शरण लेने के लिए शुरू से ही आवश्यक कर्तव्य का पालन करें।।१६।।

सहस्त्र-युग-पर्यन्तम् # अहः यत् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्त्र-अन्तां # ते अहोरात्र-विदो जनाः।।१७।।

अनुवादः- मनुष्य की एक हजार चतुर्युग ब्रह्मा के एक दिन के बराबर होती हैं और एक हजार चतुर्युग ब्रह्मा की एक रात्रि के बराबर होती

हैं। जो इस बात को जानते हैं वे दिन और रात के तत्त्वको ठीक से जानते हैं।।१७।।

व्याख्या:- सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों की कुल अवधि ४३,२०,००० वर्ष है। तो ब्रह्मा का एक दिन = मानव का ४३,२०,००० × १००० = ४३२,००,००,००० वर्ष। इसी प्रकार ब्रह्मा की एक रात ४३२,००,००,००० मानव वर्षों के बराबर होती है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा का एक दिन चार हजार युगों के बराबर होता है - "चतुर्युगसहस्रस्तु कथ्यते ब्रह्मणो दिनम्" (६।३।११)। यहाँ 'युग' शब्द चार युगों सत्य-त्रेता-द्वापर-कलि के समुच्चय को संदर्भित करता है - युगशब्देन अत्र चतुर्युगम् अभिप्रेतम् (श्रीधरस्वामी गीताभाष्य)।।१७।।

अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वा: # प्रभवन्ति अह: आगमे ।
रात्रि आगमे प्रलीयन्ते # तत्र अव्यक्त-संज्ञके।।१८।।

अनुवाद:- ब्रह्मा का दिन जब प्रारम्भ होता है तब सब जीव अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न अर्थात् व्यक्त यानी प्रकट होते हैं। पुन: जब ब्रह्मा की रात्रि प्रारम्भ होती है तो समस्त जीव लुप्त होकर उसी प्रकृति में विलीन हो जाता है अर्थात् पुन: अव्यक्त हो जाता है।।१८।।

भूतग्राम: स एवायं # भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्रि आगमे अवश: पार्थ # प्रभवति अह: आगमे।।१९।।

अनुवाद:- हे पार्थ! ये जीव बार-बार जन्म लेते हैं। जब ब्रह्मा की रात शुरू होती है, तो वे सभी नष्ट हो जाते हैं और जब उनका दिन फिर से शुरू होता है, तब सभी जीव पुनर्जन्म लेते हैं।।१९।।

परः तस्मात् तु भावः अन्यः # अव्यक्तः अव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु # नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

अनुवादः- परंतु उपरोक्त अव्यक्त भाव से भी परे एक विशिष्ट, श्रेष्ठ और सनातन भाव है जो नश्वर संसार के समस्त प्राणियों के नष्ट हो जाने पर भी स्वयं नष्ट नहीं होता।।२०।।

अव्यक्तः अक्षर इति उक्तः # तम् आहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते # तत् धाम परमं मम।।२१।।

अनुवादः- जो अव्यक्त तथा अक्षर अर्थात् अविनाशी कहलाता है, वही सबकी परम गति है। यदि कोई जीव उन्हें प्राप्त कर सकता है तो उसे फिर से जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है। वही मेरा परमधाम है।।२१।।

व्याख्याः- इस श्लोक में 'परमगति' और ईश्वर के 'परमधाम' का वर्णन है। यहाँ 'गति' शब्द का प्रयोग गंतव्य स्थान के अर्थ में किया गया है। यह गति है परम अर्थात् श्रेष्ठ गति अर्थात् ऐसी गंतव्य स्थान जहाँ पहुँचने के बाद और कोई मंजिल न रहे, जहाँ पहुँचने का अर्थ है मुक्ति जिसे पाने के बाद और कुछ भी पाने योग्य नहीं रहता। उसे पाने के बाद सारे दुखों का सदा के लिए अंत हो जाता है। इसलिए वह निर्गुण, निराकार, अव्यक्त, जन्म-मृत्युरहित अक्षर या अविनाशी सच्चिदानंदघन परब्रह्म सभी जीवों की परम गति है। कठोपनिषद का मंत्र १।३।११ कहता है - "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः।" अर्थात् पुरुष यानी परमात्मा से बढ़कर कुछ भी नहीं है। वह ही सबका परम गति है। जिस प्रकार जैसे नदी के पानी का अंतिम गंतव्य समुद्र है, नदी के पानी का समुद्र के अलावा और कोई

ठिकाना नहीं है, इसी प्रकार, परमपुरुष भगवान् के अलावा, जीव की गति को किसी अन्य दिशा में निर्देशित नहीं किया जा सकता है और यदि ऐसा हो तो जीव नष्ट हो जाएगा जैसे कि यदि नदी का पानी समुद्र तक पहुँचता है, तो उसे पूर्ण शांति प्राप्त होती है, लेकिन यदि वह अपना रास्ता खो देता है और रेगिस्तान की ओर भाग जाता है, तो वह जल्द ही नष्ट हो जाएगा। उसी प्रकार जीव की गति परमेश्वर के अलावा किसी भी दिशा में नहीं हो सकती है, और यदि ऐसा होता है तो वह जीव भ्रष्ट, नष्ट हो जाएगा। तो भगवान् कहते हैं कि प्रत्येक जीव को सावधान रहना होगा ताकि वह अंत:काल में परमात्मा को प्राप्त करने के अंतिम लक्ष्य की ओर बढ़ सके।

'धाम' शब्द का पारंपरिक अर्थ निवास है। तो इस श्लोक में वर्णित भगवान् के निवास का अर्थ होगा वह स्थान जहाँ भगवान् रहते हैं। लेकिन हकीकत में ऐसा नहीं है। यहाँ भगवान् के निवास का अर्थ है शरण का स्थान जिसका स्वामी या मालिक स्वयं भगवान् हैं और जो उनके भक्तों के लिए आरक्षित है। जैसा कि कोई कहता है - वृंदावन में मेरा एक गेस्ट हाउस है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह व्यक्ति वहां रहता है, इसका मतलब है कि वह उस गेस्ट हाउस का मालिक है और तीर्थयात्री वहां जाकर आश्रय ले सकते हैं। इस प्रकार भगवान् का धाम भी एक ऐसी शरणस्थली है जहाँ भक्त सुरक्षित रूप से अंतिम शरण ग्रहण कर सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि भगवान् ने अपना परमधाम किस स्थान का संकेत किया है। उनका परमधाम भगवान् के सच्चिदानंदघन, दिव्य स्वरूप और भगवद्भाव को संदर्भित करता है। इसलिए, भगवान् के सच्चिदानंदघन, दिव्य स्वरूप और भगवद्भाव की सच्ची अनुभूति ही भक्त की उनके धाम की प्राप्ति अर्थात् परम गति प्राप्त करना है।।२१।।

पुरुषः स परः पार्थ # भक्त्या लभ्यः तु अनन्यया।
यस्य अन्तःस्थानि भूतानि # येन सर्वम् इदं ततम्।।२२।।

अनुवादः- हे पार्थ! मैं ही वह परमपुरुष हूँ जिसमें संपूर्ण जीवजगत् निवास करता है और जो इस संपूर्ण संसार में व्याप्त है। मुझे प्राप्त करने का एकमात्र साधन मेरे प्रति अटूट भक्ति है, और मुझे किसी अन्य माध्यम से प्राप्त नहीं किया जा सकता है।।२२।।

व्याख्या :- परमपुरुष कौन है? शंकराचार्य अपनी टीका शाङ्करभाष्य (८।२२) में कहते हैं- "पुरी शयनात् पूर्णत्वाद् वा" इति। अर्थात् जो शरीररूप पुर में शयन करता है और जो हर जगह पूरी तरह से मौजूद है उसे पुरुष कहा जाता है और जो पुरुष के ऊपर और कुछ नहीं है और जिसमें कार्यरूप समग्र भूत स्तित हैं और जो सारे जगत् में व्याप्त है, वही परमपुरुष है।।२२।।

यत्र काले तु अनावृत्तिम् # आवृत्तिं च एव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं # वक्ष्यामि भरत-ऋषभ।।२३।।

अनुवादः- हे भरतकुल श्रेष्ठ! अब मैं आपको उस मार्ग के बारे में बता रहा हूँ जिस रास्ते पर शरीर त्यागने के बाद यात्रा करने के परिणामस्वरूप योगियों को दोबारा जन्म नहीं लेना पड़ता या फिर जन्म लेना पड़ता।।२३।।

व्याख्याः- इस श्लोक में प्रयुक्त 'काल' शब्द 'समय' के अर्थ में नहीं, मार्ग या पथ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि चौबीसवें और पच्चीसवें श्लोकों में प्रयुक्त 'अग्नि', 'ज्योति' और 'धूम' शब्द और छब्बीसवें और सत्ताईसवें

श्लोकों में 'सृती' शब्द समय बताने वाले नहीं हैं, उनमें से प्रत्येक का प्रयोग 'पथ' के अर्थ में किया गया है। अत: चौबीसवें और पच्चीसवें श्लोकों में प्रयुक्त 'तत्र' शब्द का अर्थ 'समय' नहीं समझना चाहिए। यहाँ 'काल' शब्द का प्रयोग कालाभिमानी देवताओं से जुड़े 'मार्ग' के अर्थ में किया गया है। रामानुजाचार्य ने यह मत व्यक्त किया है– "अत्र कालशब्दो मार्गस्य अह: प्रभृतिसंवत्सरान्तकालाभिमानिदेवताभूयस्तया मार्गोपलक्षणार्थ:"।।२३।।

अग्निर्ज्योति: अह: शुक्ल: # षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति # ब्रह्म ब्रह्मविदो जना:।।२४।।

अनुवाद:– जिस मार्ग पर ज्योर्तिमय अग्नि के देवता, अच्छे दिन के देवता, शुक्लपक्ष के देवता, उत्तरायण के छह महीनों के देवता चलते हैं, यदि मृत्यु के बाद ब्रह्म के उपासक उस दिव्य मार्ग पर चलते हैं, अर्थात् अच्छे दिन, शुक्ल पक्ष और सूर्य के उत्तरायण में उनका गमन हो जाता है, तो वह आत्मा ब्रह्म को प्राप्त होती है, अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता है।।२४।।

धूमो रात्रि: तथा कृष्ण: # षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योति: # योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

अनुवाद :– जो मृत्यु के बाद धुम, रात्रि, कृष्ण पक्ष, सूर्य का दक्षिणायन के छह मास के देवताओं के मार्ग में गमन करते हैं, अर्थात् उस समय मर जाते हैं, वह चन्द्रमा संबंधी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्ग में प्रवेश करते हैं लेकिन अपने अच्छे कर्मों का फल भोगने के बाद, वे फिर से इस धरती पर लौट आते हैं।।२५।।

शुक्ल-कृष्णे गती हि एते # जगतः शाश्वते मते।
एकया याति अनावृत्तिम् # अन्यया आवर्तते पुनः।।२६।।

अनुवादः- प्राणियों के परलोक गमन के लिए दो सनातन मार्ग हैं - एक शुक्लमार्ग और दूसरा कृष्णमार्ग। यदि कोई शुक्ल मार्ग पर चलता है, तो उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है, अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होगा। लेकिन अगर कोई दूसरे रास्ते यानी कृष्णमार्ग पर चलता है, तो उसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है।।२६।।

व्याख्याः- इस श्लोक में जीवात्मा को मृत्यु के बाद अपने गंतव्य तक पहुँचने के लिए दो शाश्वत मार्ग बताए गए हैं - एक शुक्ल मार्ग और दूसरा कृष्ण मार्ग। भगवान् यहाँ कहना चाहते हैं कि परमात्मा की ओर जाने वाला मार्ग सदा उज्ज्वल, प्रकाशमय होता है, उस मार्ग पर अधिष्ठाता देवता सदैव प्रकट होते हैं और उस मार्ग पर चलने वाले का हृदय सदैव ज्ञान से भरा रहता है। इसलिए इस मार्ग को शुक्लमार्ग कहा जाता है। लेकिन ब्रह्मलोक तक अन्य सभी देवलोकों की ओर ले जाने वाला मार्ग अंधकारमय है और उस मार्ग के अधिष्ठाता देवता अंधकारमय हैं। इसलिए उस रास्ते पर चलने वालों का दिल अज्ञान से भर जाता है। इस मार्ग को कृष्णमार्ग कहा जाता है। इसलिए, परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण के निवास का मार्ग, उज्ज्वल प्रकाश का मार्ग है, और भगवान् कृष्ण को छोड़कर, अन्य सभी देवताओं का मार्ग अंधकारमय है। इसीलिए अन्य देवताओं के धाम को जाने वाले मार्ग को कृष्णपथ कहा जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने पहले ही कहा था कि अन्य देवताओं की पूजा करने से प्राप्त फल नश्वर है लेकिन उनकी पूजा करने से प्राप्त होने वाले फल शाश्वत, अविनाशी हैं। अतएव कृष्ण को प्राप्त मार्ग करने का ही सर्वोत्तम मार्ग है।।२६।।

न एते सृती पार्थ जानन् # योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु # योगयुक्तो भव अर्जुन।।२७।।

अनुवादः- हे पार्थ! जो योगी इन दोनों मार्गों के भेद को भली-भांति जानता है, वह मोहित नहीं होता। अतः हे अर्जुन! तुम हमेशा योग के मार्ग पर रहो।।२७।।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु च एव # दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत् सर्वम् इदं विदित्वा # योगी परं स्थानम् उपैति च आद्यम्।।२८।।

अनुवादः- वेदों के अध्ययन, यज्ञ, तपस्या और दान से जो पुण्य प्राप्त किया जा सकता है, मैं जिन तत्त्वों की बात कर रहा हूँ, अगर उन्हें अच्छी तरह से समझ लिया जाए, तो योगी को इन सभी पुण्य से भी ऊपर के स्थान यानी मोक्ष प्राप्त होता है।।२८।।

।। आठवाँ अध्याय समाप्त ।।

नवाँ अध्याय

राजविद्या-राजगुह्य-योग

श्रीभगवान् उवाच

इदं तु ते गुह्यतमं # प्रवक्ष्यामि अनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं # यत् ज्ञात्वा मोक्ष्यसे अशुभात्।।१।।

अनुवाद:- श्रीभगवान् ने कहा- तुम्हारे हृदय में कोई ईर्ष्या नहीं है। अत: मैं तुम्हें यह परम गुह्य विज्ञान सहित ज्ञान को सुना रहा हूँ, जिसे जानकर तुम जरा-मरणमय संसार की बुराइयों से बच सकते हो।।१।।

राजविद्या राजगुह्यं # पवित्रम् इदम् उत्तमम्।
प्रत्यक्ष-अवगमं धर्म्यं # सुसुखं कर्तुम् अव्ययम्।।२।।

अनुवाद:- यह ज्ञान सब विद्याओं में श्रेष्ठ, सभी गुप्त विद्याऔं में सबसे गुप्त, शुद्धतम, परम पवित्र, सर्वोत्तम, प्रत्यक्ष फलदायी, धर्ममय, परम सुखप्रद, अक्षय फल देने वाला है।।२।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् ने 'राजविद्या' और 'रजगुह्य' किसे कहा है? हमने देखा कि ऊपर के श्लोक में भगवान् ने अर्जुन से विज्ञान के साथ ज्ञान प्रदान करने की बात कही। इस श्लोक में उनकी बात यह है कि उस विज्ञान के साथ ज्ञान सभी ज्ञात और अज्ञात ज्ञान से परे है। जो इस ज्ञान को ठीक से प्राप्त कर लेता है उसके पास जानने के लिए और कुछ नहीं रहता। इसीलिए इस विद्या को विद्या की राजा यानि राजविद्या कहा जाता है।

इस विद्या में भगवान् के रूप, निराकार, सगुण, निर्गुण स्वरूप का तत्त्व, उसके गुण, प्रभाव, महानता, उनकी पूजा पद्धति और उसके परिणाम सभी का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है और कहा जाता है कि भगवान् ही इस संसार के निर्माता, कर्ता, संरक्षक, सभी का स्रोत, सर्वशक्तिमान, परब्रह्म, परमेश्वर, पुरुषोत्तम हैं। यह विद्या बहुत कल्याणजनक है। इसलिए उन्होंने अर्जुन को अपनी पूर्ण शरण लेने की सलाह दी। वास्तव में यह ज्ञान ऐसा है जो सबके सामने नहीं बताया जा सकता। जिस प्रकार राजा के प्रशासन से संबंधित मामले अत्यंत गोपनीय होते हैं, जनता के सामने प्रकट नहीं किए जाने चाहिए, उसी प्रकार यह विद्या भी अत्यंत गोपनीय है। केवल परम श्रद्धावान, शुद्ध-हृदय भक्त ही इस ज्ञान को सुनने का अधिकारी है। इसलिए भगवान् इस ज्ञान को राजगुह्य अर्थात् परम रहस्य कहते हैं। भगवान् कृष्ण के फैसले में, अर्जुन इस ज्ञान को सुनने के लिए सही व्यक्ति हैं। इसलिए अर्जुन को यह ज्ञान समझाने के लिए उन्होंने प्रयास किया।

यह ज्ञान ही धर्म है क्योंकि जो कुछ भी परम कल्याण लाता है वह धर्म है। यह ज्ञान भक्त को भगवान् के साथ तत्काल तुरंत ही जोड़ देता है और भक्त के अंतर में परम शांति और परम आनंद पैदा करते हुए भक्त के लिए परम कल्याण लाता है। वर्ण, आश्रम आदि में वर्णित सभी धर्मों में यह ज्ञान श्रेष्ठ है। इसलिए भगवान् ने इसे धर्म कहा है।।२।।

अश्रद्दधानाः पुरुषा # धर्मस्य अस्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते # मृत्यु-संसार-वर्त्मनि।।३।।

अनुवादः- हे परंतप अर्जुन! जिन लोगों के हृदय में मेरे द्वारा ऊपर वर्णित विज्ञान के साथ परम गुह्य ज्ञान का कोई श्रद्धा नहीं है, वे मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए वह सब लोग संसार रूपी मृत्यु के पथ पर भटकता रहता हैं।।३।।

मया ततम् इदं सर्वं # जगत् अव्यक्त-मूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि # न च अहं तेषु अवस्थितः।।४।।

अनुवादः- मैं इस सम्पूर्ण जगत् की समस्त वस्तुओं में अव्यक्त रूप से व्याप्त हूँ, समस्त जड़ तथा चेतन जगत् मुझ में स्थित हैं। परंतु वास्तव में मैं इन सबमें स्थित नहीं हूँ अर्थात् मैं इनमें से किसी का भी नहीं हूँ। मैं सब से मुक्त हूँ।।४।।

व्याख्याः- वास्तव में ईश्वर इस ब्रह्मांड के कण-कण में व्याप्त हैं। वे इस भौतिक संसार के मालिक हैं। लेकिन उनका किसी वस्तु से कोई संबंध नहीं है। जिस प्रकार आकाश पृथ्वी पर फैला हुआ है परंतु आकाश और पृथ्वी का कोई संबंध नहीं है, जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न में सोचता है कि वह संसार की वस्तुओं के बीच घूम रहा है परंतु वास्तव में उसका उन सभी वस्तुओं से कोई संबंध नहीं है। उसी तरह भगवान् भी इस संसार में हैं। यद्यपि वह सभी वस्तुओं में विद्यमान हैं, वे किसी भी वस्तु से नहीं जुड़ता। वे वास्तव में संसार में हैं, लेकिन वे इस संसार की सभी वस्तुओं के अगोचर हैं, वे सभी के लिए छिपा और अज्ञात रहते हैं। तो बृहदारण्यकोपनिषद कहता हैं - यः पृथिव्यां तिष्ठन्...यं पृथिवी न वेद(३।७।३) अर्थात् वे संसार में हैं परंतु संसार उन्हें नहीं जानता। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है - यं आत्मनि तिष्ठन्...यमात्मा न वेद (१४।५।३०) अर्थात् आत्मा में ब्रह्म का वास होते हुए भी आत्मा उन्हें नहीं जानती। इसलिए सभी चेतन और अचेतन जगत् उन्हीं में स्थित हैं, लेकिन वे उसे नहीं जान सकते हैं, इसलिए दोनों के बीच कोई बंधन नहीं है। इसलिए वे सब में रहते हुए भी सबसे भिन्न हैं।।४।।

न च मत्स्थानि भूतानि # पश्य मे योगम् ऐश्वरम्।

भूतभृत् न च भूतस्थो # मम आत्मा भूतभावनः।।५।।

अनुवाद :- समस्त जीव मुझमें स्थित नहीं हैं। मेरे इस अद्भुत योग का माहात्म्य देखो। यद्यपि मैं समस्त प्राणियों को धारण और पालन करता हूँ, तथापि मेरी आत्मा उनमें स्थित नहीं है अर्थात् मैं उनके अधीन नहीं हूँ।।५।।

यथा आकाश-स्थितो नित्यं # वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि # मत्स्थानि इति उपधारय।।६।।

अनुवादः- ऐसा जानो कि जैसे सर्वव्यापी वायु आकाश में है, वैसे ही सब जीव मुझमें हैं।।६।।

व्याख्याः- यहाँ पाठक के हृदय में एक गहरा भ्रम उत्पन्न हो सकता है। भगवान् एक बार कहते हैं कि सभी जीव मुझमें निवास नहीं करते, फिर वे कहते हैं कि जैसे वायु आकाश में है, वैसे ही सभी जीव मुझमें निवास करते हैं। सामान्य तौर पर यह मामला बहुत भ्रमित करने वाला है। परंतु वास्तविक सत्य यह है कि उनका महिमा कमल के पत्ते पर नीर के समान है। ऐसा लगता है कमल के पत्ते पर पानी अटका हुआ है। लेकिन अगर पत्तों से पानी को लुढ़का दिया जाए तो पत्तों पर पानी का नामोनिशान नहीं रहता। इसका अर्थ है कि जल वास्तव में कमल के पत्ते में दिखाई देता है लेकिन कमल के पत्ते से उसका कोई संबंध नहीं है। जैसे हवा आकाश में है लेकिन वास्तव में हवा और आकाश के बीच कोई संबंध नहीं है और आकाश के अलावा कहीं भी हवा का होना संभव नहीं है। जीव के साथ ईश्वर का संबंध भी ऐसा ही है। जीव के लिए परमेश्वर भगवान् की शरण के अलावा कहीं भी निवास करना संभव नहीं है। फिर, हवा हमेशा आकाश में होती है, लेकिन आकाश का वायु के प्रवाह से कोई संबंध नहीं है। आकाश हवा के बारे में निर्विकार हैं। इसी तरह सभी जीव ईश्वर के भीतर हैं लेकिन उनका ईश्वर से कोई संबंध नहीं हैं। भगवान् आकाश की तरह निराकार हैं, निर्विकार हैं, कर्तापनका वोधहीन हैं, अंतहीन हैं, अनासक्त है, निर्लिप्त हैं, ममताहीन हैं। जिस प्रकार वायु की उत्पत्ति, स्थिति और लय आकाश में होती है, उसका अस्तित्व आकाश को छोड़कर और कहीं भी संभव नहीं है, इसी प्रकार जीवों की

उत्पत्ति, स्थिति और लय ईश्वर में ही होती है, जीवों का उससे अलग और कहीं रहना संभव नहीं है, वे सदा ईश्वर में ही स्थित हैं, फिर भी जिस प्रकार आकाश वायु का अतीत है, उसी प्रकार ईश्वर जीवों का अतीत हैं। इसलिए भगवान् के मन में जीवों के लिए कोई ममता यानी आसक्ति नहीं है।।६।।

सर्वभूतानि कौन्तेय # प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनः तानि # कल्पादौ विसृजामि अहम्।।७।।

अनुवादः- हे अर्जुन! कल्प के अंत में अर्थात् प्रलय के समय सभी जीव मेरी त्रिगुणात्मक प्रकृति में लौट आते हैं और कल्प के आरंभ में अर्थात् सृष्टि के समय मैं उन सबको फिर से उत्पन्न करता हूँ।।७।।

व्याख्याः- कल्प किसे कहते हैं ? कल्प समय की वह अवधि है जिसके अंत में यह सृष्टि समाप्त हो जाती है। श्रीमद्भागवत-महापुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा के एक दिन को एक कल्प कहा जाता है। ब्रह्मा का एक दिन मनुष्यों के एक हजार चतुर्युगों के बराबर होता है और चौदह मनु एक कल्प में प्रकट होते हैं –

चतुर्युगसहस्रं च ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशांपते।।

—(१२।४।२।

प्रलय की अवधि भी ब्रह्मा की एक रात के बराबर होती है जिसकी अवधि मनुष्यों की एक हजार चतुर्युगों के बराबर होती है और इस प्रलय के दौरान स्वर्ग, मर्त्य और पाताल ये तीनों लोक नष्ट हो जाते हैं –

तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता।
त्रयो लोको इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि।।

—(१२।४।३)

कल्प के अंत में, प्रलय के दौरान, सभी जीव और जड़ प्रकृति यानी भगवान् का शरीर में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकृति का दूसरा नाम 'तम' है। मनुसंहिता में कहा गया है कि सृष्टि के पहले 'तम' यानी अंधकार की स्थिति थी - आसीदिदं तमो भूतम् इति (१।५)। ऋग्वेद में हमें ऐसा ही वर्णन मिलता है- ''तम आसीत् तमसा गूढमग्रे'' (१०।१२९।३) अर्थात् सृष्टि के पहले घोर अंधकार था।

प्रलय के समय, ब्रह्मा भी चेतन-अचेतन पदार्थ के साथ नष्ट हो जाता है। हालांकि, इस कल्प के अंत में जीव और माया नष्ट नहीं होते हैं, वे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और निर्गुण अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण से रहित होकर अव्यक्त अवस्था में रहते हैं, और प्रलय के अंत में जब कल्प फिर से शुरू होता है तब भगवान् अपने सत्य संकल्प द्वारा उस समस्त जीवों को पुन: उत्पन्न करते हैं।।७।।

प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य # विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्रामम् इमं कृत्स्नम् # अवशं प्रकृतेः वशात्।।८।।

अनुवादः- यह सारा जीव जगत् मेरे ही प्रकृति के अधीन है। वे अपने पिछले जन्मों के कृतकर्मों के फलके प्रभाव से बंधे हुए हैं। मैं उन सभी प्राणियों को मेरी प्रकृति द्वारा बार-बार सृजन करता हूँ।।८।।

न च मां तानि कर्माणि # निबध्नति धनञ्जय।
उदासीनवत् आसीनम् # असक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

अनुवादः- हे धनंजय! मुझे किसी भी वस्तु में आसक्ति नहीं है, मैं हर चीज के प्रति उदासीन हूँ। इसलिए किसी भी कर्म का फल मुझे बांध नहीं सकता।।९।।

मया अध्यक्षेण प्रकृतिः # सूयते सचराचरम्।
हेतुना अनेन कौन्तेय # जगत् विपरिवर्तते।।१०।।

अनुवादः-प्रकृति मेरे द्वारा नियंत्रित है। मेरे मार्गदर्शन में प्रकृति बार-बार संसार की रचना करती है। इस हेतु से संसार चल रहा है ।।१०।।

व्याख्याः- यहां भगवान् कहते हैं कि उनके अध्यक्षता में ही यह संसार बार-बार रचा जाता है। अन्यत्र वे कहते हैं कि वे निष्क्रिय हैं, वे स्वयं कुछ नहीं करते। ये दोनों कथन विरोधाभासी लग सकते हैं। लेकिन बहुत सावधानी से विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि दोनों बयानों में कोई विरोधाभास नहीं है। यह सच है कि उन्होंने कहा कि वे खुद कुछ नहीं करते। इस श्लोक में वे पुनः कहते हैं कि वे ही समस्त क्रियाओं का निर्देशन करते हैं। उस स्थिति में भी इस कथन से यह सिद्ध होता है कि वे स्वयं कुछ नहीं करते, केवल समस्त क्रियाओं का निर्देशन करते हैं और उन कर्मों में अंतर्निहित विशेषताएँ के अनुसार ही परिणाम उत्पन्न होते हैं। एक ठोस उदाहरण मामले को समझने में मदद करेगा। बीज को हम मिट्टी में बोते हैं अर्थात् बीज को मिट्टी से जोड़ते हैं। लेकिन उस बीज से पौधा उगाने का काम हम नहीं करते। हम केवल चेतन बीज और जड़ मिट्टी के बीच संबंध स्थापित करते हैं और हमारे पर्यवेक्षण में प्रकृति अपने बीज में निहित विशेषताएँ के अनुसार पौधे को पैदा करने का कार्य करती है। उसी प्रकार भगवान् भी स्वयं कुछ नहीं करते। वे अपने स्वभाव के रूप में प्रकृति को स्वीकार करते हैं और उस प्रकृति के माध्यम से कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए, जब तक हम किसी स्थान की मिट्टी का चयन करके बीज को उस मिट्टी के संपर्क में नहीं लाते, तब तक मिट्टी में पौधों को पैदा करने की शक्ति नहीं होती क्योंकि जब तक जड़ मिट्टी और चेतन बीज के बीच संबंध नहीं होगा तब तक कोई सृजन नहीं हो सकता। इसी

प्रकार प्रकृति में कोई भी सृजनात्मक कार्य तब तक करने की शक्ति नहीं है जब तक कि उसे परमात्मा की सहायता न मिल जाए क्योंकि प्रकृति जड़ है और परमात्मा साक्षी अर्थात् चेतन हैं। फलत: देखा जाता है कि ईश्वर स्वयं कुछ नहीं करते, वे प्रकृति के समस्त क्रियाओं को समुचित निष्पादन के लिए नियुक्त और निर्देशित करते हैं। निर्देशक के रूप में उनकी यह भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उचित प्रबंधन के बिना, निर्माण सुचारू रूप से नहीं हो पाएगा। इसलिए भगवान् के दोनों कथनों में कोई अंतर नहीं है जहाँ भगवान् कहते हैं कि वे स्वयं कुछ नहीं करते हैं और वे सभी कार्यों को निर्देशित करते हैं।।१०।।

अवजानन्ति मां मूढा # मानुषीं तनुम् आश्रितम्।
परं भावम् अजानन्तो # मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

अनुवाद:- मैं समस्त ब्रह्मांड का परम ईश्वर हूँ। परंतु मूर्ख लोग यह नहीं जानते। इस कारण वे मनुष्य के रूप में मेरा अवज्ञा करते हैं।।११।।

व्याख्या:- भगवान् श्रीकृष्ण दुष्टों का नाश करने और शिष्ट का पालन करने के उद्देश्य से इस धरती पर अवतरित हुए हैं। अपने अवतार रूप लेते समय यद्यपि वे अपने चतुर्भुज दिव्य रूप में आए थे, फिर भी प्रकट होने के समय अपने पिता के अनुरोध पर उन्होंने उस दिव्य रूप को संवरण किया और जन्म के बाद से वे भगवान् सबके सामने प्राकृत मनुष्य के रूप में विद्यमान रहे। उन्होंने सभी के साथ बिल्कुल एक इंसान की तरह व्यवहार किया। परिणामस्वरूप, अंतर्दृष्टिहीन अज्ञानी लोग भगवान्के मानवीय गुणों जैसे अपार करुणा, औदार्य, सुशीलता, वात्सल्य आदि को देखते हुये अपने पूर्ण अज्ञान के कारण गलती से उन्हें अपनी तरह हाड़-मांस और रक्त का साधारण मानव मानते है और फलस्वरूप ईश्वर के सर्वाधार, सर्वशक्तिमान,

सर्वव्यापी, सवका मालिक, सर्वभूतमहेश्बर, परमात्मारूप विशेषताएँ के रहस्य से पूरी तरह अनभिज्ञ होने के कारण उन्हें परमपुरुष का दर्जा नहीं देते है।। हैं।।

मोघ-आशा मोघ-कर्माणो # मोघ-ज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीम् आसुरीं च एव # प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

अनुवादः- उनकी आशाएँ, कर्म, ज्ञान-सब निष्फल, व्यर्थ हैं। उन्हें चेतना नहीं है। वे राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति के हैं और हिंसक और भोगी प्रवृत्ति के दास होते हैं।।१२।।

महात्मानः तु मां पार्थ # दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः।
भजन्ति अनन्यमनसो # ज्ञात्वा भूतादिम् अव्ययम्।।१३।।

अनुवादः- परंतु हे पार्थ! अनन्य मनवाले महात्मा लोग दैवी सात्त्विक प्रकृति का आश्रय लेकर मुझको ही अविनाशी तथा समस्त प्राणियों का आदि कारण यानी सृष्टिकर्ता मानकर मेरी भजना करते हैं।।१३।।

सततं कीर्तयन्तो मां # यतन्तो च दृढव्रताः।
नमस्यन्तः च मां भक्त्या # नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

अनुवादः- वे सदा दृढचित्त होकर मुझे ध्यान और भक्ति से नमन करते हैं और एक मन से मेरा कीर्तन और भजन करते हैं।।१४।।

ज्ञानयज्ञेन च अपि अन्ये # यजन्तो माम् उपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेनन # बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

अनुवादः- दूसरे अनेक प्रकार से मेरी पूजा करते हैं - कोई ज्ञान यज्ञ द्वारा अर्थात् समस्त प्राणियों में आत्मा के दर्शन द्वारा मेरी पूजा करते हैं, कोई

स्वयं को मेरे साथ एक मानकर अपनी पूजा द्वारा मेरी पूजा करते हैं। कुछ फिर से खुद को और मुझे अलग मानते हैं और दास्यादि भक्ति में मेरी पूजा करते हैं, कुछ अन्य मुझे इंद्र, ब्रह्मा आदि विभिन्न देवताओं के रूप में ले कर मेरी पूजा करते हैं। और अन्य लोग मेरे विश्वरूप की इस ज्ञान के साथ पूजा करते हैं कि मैं दृश्यमान दुनिया में सब कुछ हूँ।।१५।।

अहं क्रतुः अहं यज्ञः # स्वधा अहम् अहम् औषधम्।
मन्त्रः अहम् अहम् एव आज्यम् # अहम् अग्निः अहं हुतम्।।१६।।

अनुवादः- मैं क्रतु अर्थात् अग्निष्टोमदि वेदसिद्ध यज्ञ हूँ, मैं द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, साध्याय यज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ आदि पंच महायज्ञ स्मार्तकर्म हूँ, मैं स्वधा अर्थात् श्राद्धादि पितृयज्ञ हूँ, मैं ओषधि से उत्पन्न अन्न एवं औषध हूँ, मैं मंत्र हूँ, मैं हूँ यज्ञ के लिए आवश्यक घृत, मैं अग्नि हूँ, मैं हवन हूँ।।१६।।

पिता अहम् अस्य जगतो # माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रम् ओङ्कार # ऋक् साम यजुरेव च।।१७।।

अनुवादः- मैं इस ब्रह्मांड का पिता, माता, ईश्वर, पितामह हूँ, मैं वह सब कुछ हूँ जो जानने योग्य है, मैं पवित्र ओंकार की ध्वनि हूँ, मैं ऋक्, साम, यजुर्वेद हूँ ।।१७।।

गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी # निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं # निधानं बीजम् अव्ययम्।।१८।।

अनुवादः- मैं समस्त प्राणियों की गति, परमेश्वर, जगत् का द्रष्टा, समस्त प्राणियों का परम धाम, परम शरण, परम सुहृद हूँ, मैं ही स्रष्टा हूँ, मैं संहारक

हूँ, मैं सभी स्थिति का आधार हूँ, मैं इस ब्रह्मांड की विनाश तथा उत्पत्ति का शाश्वत अविनाशी कारण हूँ।।१८।।

व्याख्या:- ईश्वर स्वयं को समस्त प्राणियों की गति कहते हैं। उसका अर्थ है कि सभी जीवित प्राणियों को एक दिन उनके पास लौटना ही होगा। उनके अतिरिक्त और किसी की गति नहीं है। वे सबका अंतिम परम गति हैं।

साक्षी क्या है? साक्षी शब्द का अर्थ गवाह यानी प्रत्यक्षदर्शी होता है। भगवान् इस संपूर्ण ब्रह्मांड के सभी जीवों को, उनके सभी अच्छे और बुरे कर्मों को, उनके सभी कार्यों को अपनी आँखों से देखते हैं। इस ब्रह्मांड में ऐसा कुछ भी नहीं है जो उनकी दृष्टि से परे हो। इसलिए उन्होंने खुद को 'साक्षी' बताया।।१८।।

तपामि अहम् अहं वर्षं # निगृह्णामि उत्सृजामि च।
अमृतं च एव मृत्युश्च # सत् असत् च अहम् अर्जुन।।१९।।

अनुवाद:- मैं सूर्य के रूप में सारे संसार को तपाता हूँ, मैं वरुण के रूप में वर्षा करता हूँ, मैं पृथ्वी से जल आकर्षण करता हूँ, मैं अमृत हूँ, मैं मृत्यु हूँ और हे अर्जुन! मैं सत् अर्थात् अविनश्वर ब्रह्म हूँ जो इस दृश्य जगत् से परे है और मैं असत् अर्थात् यह नश्वर दृश्य जगत् हूँ।।१९।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा।
यज्ञैः इष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।।
ते पुण्यम् आसाद्य सुरेन्द्रलोकम्।
अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।।२०।।

अनुवाद:- ऋक्, साम और यजु तीन वेदोंके विधान के अनुसार मेरी पूजा करके सोमरस का पान करके मनुष्य निर्दोष हो जाते हैं और स्वर्ग जाने

की प्रार्थना करते हैं और पुण्य प्राप्त करके स्वर्ग में जाते हैं और वहाँ देवभोग्य वस्तुओं को भोग करते हैं।। २०।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्तलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीः धर्मम् अनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

अर्थ :- मर्तलोकं विशन्ति = धरती पर वापस आता है।

अनुवाद:- इस प्रकार वे पुण्यात्मा लोग त्रिवेद द्वारा बताये गये कर्मकांडों को करने से प्राप्त हुए पुण्यों के बल से दीर्घकाल तक स्वर्गलोक में सुख भोगने के बाद जब अर्जित पुण्य का क्षय हो जाता है तब वे पृथ्वी पर लौट आते हैं और इसी प्रकार त्रिवेद द्वारा बताए गए कर्मों से पुनः पुण्यों को प्राप्त करके पुनः स्वर्गलोक को जाते हैं और इस प्रकार भोगों की कामनावाले मनुष्य का स्वर्ग और पृथ्वी के बीच आवागमन चलती रहती है।।२१।।

अनन्याः चिन्तयन्तो मां # ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्य-अभियुक्तानां # योगक्षेमं वहामि अहम्।।२२।।

अनुवाद:- जो अनन्यचित्त भक्तों अपना मन किसी और में लगाए बिना केवल मेरी ही उपासना करते हैं, मैं उन सभी अनन्यचित्त भक्तों के लिए योग और क्षेम का उत्तरदायित्व उठाता हूँ।।२२।।

व्याख्या:- भक्त की परम पुरुष भगवान् के साथ एक होने की इच्छा को योग कहा जाता है, और उस इच्छा की पूर्ति के बाद, उस अवस्था में भक्त का रक्षा करना ताकि वह उस अवस्था से विचलित न हो, वह क्षेम कहलाता है।।२२।।

ये अपि अन्य-देवता-भक्ता # यजन्ते श्रद्धया अन्विताः।
ते अपि माम् एव कौन्तेय # यजन्ति अविधिपूर्वकम्।।२३।।

अनुवादः- हे कौन्तेय! जो भक्त अन्य देवताओं की श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं, वे भी उस पूजा के माध्यम से मेरी ही पूजा करते हैं, हालांकि पूजा की वह विधि मेरी पूजा करने की विधि से भिन्न है।।२३।।

व्याख्याः- इस श्लोक में भगवान् कहते हैं कि चाहे कोई भक्त प्रत्यक्ष रूप से उनकी पूजा किए बिना किसी अन्य देवता की पूजा करे, उनकी सारी पूजा उन्हीं के प्रति है। अर्थात्, भगवान् कहते हैं कि एक भक्त जिस भी देवता की पूजा सीधे श्रद्धा से करता है, वह सब पूजा अप्रत्यक्ष रूप से उनकी ही की जाती है क्योंकि वे दसवें अध्याय में कहते हैं कि अन्य सभी देवता उनकी विभूति यानी विभिन्न रूप हैं। उसका रूप उनसे भिन्न है, परंतु उसका स्वरूप एक ही है। इसलिए उसकी पूजा करने का अर्थ है कृष्ण की ही पूजा करना। जैसे दूध, मलाई, छेना, मक्खन, तरह-तरह की मिठाइयाँ आदि। प्रत्यक्ष रूप से वे सब अलग-अलग दर्शन हैं, लेकिन मूल रूप से उन सभी का स्रोत दूध है - शरीर के पोषण के लिए इनमें से जो कुछ भी खाया जाता है, वह दूध पीने के समान है। ऐसे सभी देवता भगवान् की विभूति हैं। तो श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब उन देवताओं की पूजा के लिए अर्घ्य चढ़ाया जाता है, तो वे अर्घ्य वास्तव में परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीचरणकमल में लौट आते हैं। महाभारत में भी उनके इस कथन का समर्थन मिलता है -

आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।।
सर्वदेवेषु यत् पुण्यं सर्वतीर्थेषु यत् फलम्।
तत् फलं समवाप्नोति स्तुत्वा देव जनार्दनम्।।

अर्थात्, जिस प्रकार आकाश से गिरने वाला सारा जल विभिन्न नदियों के माध्यम से अनंत सागर से मिलता है, उसी प्रकार सभी देवताओं को दी गई सभी प्रणाम भगवान् वासुदेव के चरण कमलों की शरण लेती हैं। सभी देवताओं की पूजा करने से जो पुण्य, फल प्राप्त हो सकते हैं वे सभी फल नंदनंदन ब्रजराखाल वनमाली मुरलीधारी गोपगोपीश्वर तमालश्यामल यमलार्जुनभञ्जन नंदगोपप्रियात्मज नवनीतनटन मुचुकुन्दप्रसादक सच्चिदानन्दविग्रह कोटिसूर्यसमप्रभ इलापति वेणुनादविशारद सर्वभूतात्मक वेदवेद्य दयानिधि पुण्यश्लोक जगद्गुरु जगन्नाथ श्रीपदांबुज परमब्रह्म गोविंद दामोदर नारायण देवदेव श्रीहरि जनार्दन वासुदेव श्रीकृष्ण की पूजा करने से प्राप्त होती है।।२३।।

अहं हि सर्वयज्ञानां # भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु माम् अभिजानन्ति # तत्त्वेन अतः च्यवन्ति ते।।२४।।

अनुवादः- मैं समस्त यज्ञों का भोक्ता तथा फल देने वाला हूँ। लेकिन वे मुझे ठीक से नहीं जानते। इसलिए उन्हें मृत्यु के बाद पुनर्जन्म लेना पड़ता है और वे इस संसार के अनन्त दुःख-शोक में गिरने को विवश हो जाते हैं।।२४।।

यान्ति देवव्रता देवान् # पितॄन यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या # यान्ति मद् याजिनः अपि माम्।।२५।।

अनुवादः- जो विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं वे मृत्यु के बाद देवलोक को प्राप्त करते हैं, जो श्राद्ध, तर्पण आदि द्वारा पितृगण की पूजा करते हैं, वे पितृलोक को प्राप्त करते हैं, जो भूतों की पूजा करते हैं वे भूतलोक को प्राप्त करते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं वे मुझे प्राप्त करते हैं।।२५।।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं # यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तत् अहं भक्ति-उपहृतम् # अश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

अनुवादः- मेरे भक्तों जो कुछ भी पत्ते, फूल, फल, जल आदि श्रद्धापूर्वक मुझे अर्पण करते हैं, मैं उस शुद्धहृदय भक्तों के अर्घ्य को सहर्ष स्वीकार करता हूँ।।२६।।

यत् करोषि यत् अश्नासि # यत् जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय # तत् कुरुष्व मद् अर्पणम्।।२७।।

अनुवादः- हे कौन्तेय! तुम जो कुछ भी करोगे जैसे भोजन, हवन, दान, तप, वे सब मुझे अर्पण कर दो।।२७।।

व्याख्याः- यह श्लोक भगवान् द्वारा उच्चारित गीता का सबसे महत्त्वपूर्ण श्लोक में से एक है। यह श्लोक संपूर्ण गीता में भगवान् के संदेश का सार समाहित करता है। भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भगवदगीता में अपने प्रिय शिष्य अर्जुन के माध्यम से दुनिया को कई बार बताया है कि अनित्य नश्वर मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य भगवान् के परम पद यानी मोक्ष यानी भगवान् की आनुकूल्य को प्राप्त करना हि है। परंतु जीव उस लक्ष्य को कैसे प्राप्त कर सकता है? भगवान् ने इस संबंध में उपदेश देते हैं कि उन्हें प्राप्त करने का एकमात्र तरीका है भक्त की उन पर एकाग्रता के साथ शुद्ध, निस्वार्थ पूर्ण समर्पण। परंतु पत्थर के समान कठोर हृदय वाले व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं हो पाता है कि वह उनकी बहुमूल्य उपदेश को आसानी से स्वीकार कर ले। तो फिर इस श्लोक में उन्होंने हर किसी की आसान समझ के लिए अपनी अमृत वाणी यानी कैसे भक्त स्वयं को पूर्ण रूप से उनके चरणों में समर्पित कर सकता है इसके बारे में बहुत स्पष्ट व्याख्या की है। इस श्लोक में वे कहते हैं कि यदि भक्त

उन्हें प्राप्त करना चाहता है तो भक्त को शयन-स्वप्न-जागरण में जो कुछ वह करता है उन सभी को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देना चाहिए अर्थात् भक्त को भोजन करना, पूजा-पाठ, यज्ञ, दान-ध्यान, तपस्या, व्यापार, समाज की रक्षा के लिए शत्रु से युद्ध करना आदि जो कुछ भी करना चाहिए, उसे एकनिष्ठ होकर नि:स्वार्थ भाव से प्रभु की चरणों में समर्पित कर देना चाहिए। उस कार्य में उसके हृदय में कोई अहंकार, कोई मोह, माया का भाव नहीं होना चाहिए। तभी सच्चिदानन्दघन परमेश्वर भगवान् उस पर प्रसन्न होंगे। यदि वह इस प्रकार कार्य करेगा, तो उसे कोई कर्म बंधन नहीं होगा और वह भगवान् की असीम दया से जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने में सक्षम होगा ।।२७।।

शुभ-अशुभ-फलैः एवं # मोक्षसे कर्मबन्धनैः।
संन्यास-योग-युक्त-आत्मा # विमुक्तो माम् उपैष्यसि।।२८।।

अनुवादः- यदि आप संन्यासयोग से युक्त होकर अपने सब कर्मों को मुझे अर्पण करके इस प्रकार कर्म करोगे, तो आपको शुभ और अशुभ कर्मों का बंधन नहीं होगा। आप सब बंधनों से मुक्त हो जाओगे और मुझमें परमगति प्राप्त करोगे।।२८।।

समः अहं सर्वभूतेषु # न मे द्वेष्यः अस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या # मयि ते तेषु च अपि अहम्।।२९।।

अनुवादः- मैं सबको समान देखता हूँ। मेरा किसी के प्रति कोई द्वेष नहीं है, कोई मुझे प्रिय नहीं है अथवा कोई मुझे अप्रिय नहीं है । किंतु जो भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करते हैं वे सब मुझमें निवास करते हैं और मैं भी उनके हृदय में रहता हूँ।।२९।।

अपि चेत् सुदुराचारो # भजते माम् अनन्यभाक्।
साधुः एव स मन्तव्यः # सम्यग् व्यवसितो हि सः।।३०।।

अनुवादः– यदि कोई मनुष्य अनन्यचित्त होकर सच्चे मन से मेरी भजता है, परंतु अति दुराचारी हो तो भी वह साधु कहलाएगा क्योंकि वह जानता है कि मेरी पूजा करना निश्चय ही श्रेष्ठ कर्म है।।३०।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा # शश्वत् शान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि # न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

अनुवादः– मेरा वह अनन्य भक्त शीघ्र ही पवित्र धर्मात्मा हो याता है और वह शाश्वत शांति को प्राप्त करता है । हे कुन्तीपुत्र! आप निश्चय ही जान लो कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।।३१।।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य # ये अपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्याः तथा शुद्राः # ते अपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

अनुवादः– हे पार्थ! जो कोई भी व्यक्ति चाहे वह पापी वर्ग का हो, स्त्री, वैश्य, शूद्र आदि जो मेरा आश्रय ग्रहण करता है, वह निश्चय ही मुझमें परम गति को प्राप्त होता है।।३२।।

किं पुनः ब्राह्मणाः पुण्या # भक्ता राजर्षयः तथा।
अनित्यम् असुखं लोकम् # इमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

अनुवादः– पवित्र ब्राह्मण तथा भक्त राजर्षि स्वाभाविक रूप से परम गति को प्राप्त होते हैं। इसके बारे में कोई संदेह नहीं है। इसलिये आप इस नश्वर और दुखी संसार में मेरी भजन करो।।३३।।

मन्मना भव मद्भक्तो # मद्याजी याजी मां नमस्कुरु।

माम् एव एष्यसि युक्त्वा एवम् # आत्मानं मत्परायण:।।३४।।

अनुवाद:- तुम सदा मुझमें मन लगाओ, मेरी भक्ति करो, मेरी पूजा करो, मुझे प्रणाम करो। इस प्रकार मेरे प्रति समर्पित होकर और मुझमें अपना हृदय स्थापित करके, तुम मुझे प्राप्त करोगे।।३४।।

।। नवाँ अध्याय समाप्त ।।

दसवाँ अध्याय

विभूतियोग

श्रीभगवान् उवाच

भूय एव महाबाहो # शृणु मे परमं वचः।
यत् ते अहं प्रीयमाणाय # वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

अनुवाद:- श्रीभगवान् ने कहा- हे महाबाहो अर्जुन! मैंने जो पहले कहा है उसे सुनकर आप प्रसन्न हुए। इसलिए मैं आपके कल्याण के लिए अपने पूर्व परमार्थ विषयक श्रेष्ठ बातें फिर कह रहा हूँ, आप सुनिए।।१।।

व्याख्या:- यहाँ भगवान् 'परमं वचः' अभिव्यक्ति द्वारा उन सभी परमार्थ से संबंधित उपदेशों को समझाना चाहते थे जो उन्होंने पहले अर्जुन को बताया था। ये उपदेश मनुष्य को परम पुरुष के परम गुप्त गुणों, प्रभावों और तत्त्वों को समझने और उस परम पुरुष को प्राप्त करने में मदद करते हैं। लेकिन यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि भगवान् ने अर्जुन को इन उपदेशों को पहले ही अच्छी तरह समझा दिया था। तो उन्हें फिर से दोहराने की क्या जरूरत था? हम सभी जानते हैं कि किसी अज्ञानी को कठिन विषय समझाने के लिए उस विषय को उसके कान में बार-बार दोहराना पड़ता है। लंबे समय तक मिट्टी के पानी के घड़े को कठोर चट्टान पर रखने से पत्थर पर कुछ निशान पड़ जाते हैं जिससे सुराही को वहां रखना आसान हो जाता है। पानी का घड़ा दो-चार दिन तक रखने से कठोर पत्थर पर कोई असर नहीं पड़ता। अज्ञानी व्यक्ति का हृदय आत्म-ज्ञान के मामले में कठोर चट्टान के समान होता है। पारमार्थिक ज्ञान का कोई प्रभाव वहाँ आसानी से नहीं ठहर सकता।

अर्जुन एक महान योद्धा हैं। लेकिन आत्म-ज्ञान के प्रकाश से उनका हृदय पूरी तरह से प्रबुद्ध नहीं है और भगवान् ने उन्हें अतीत में जो सलाह दी वह निस्संदेह बहुत कठिन है, दिल का पत्थर को तोड़कर उस दिव्य पारमार्थिक ज्ञान हृदय में आसानी से स्थायी स्थान प्राप्त नहीं कर सकता है। इसलिए भगवान् अर्जुन के सामने उन उपदेशों को अलग-अलग तरीकों से दोहराकर उसे अर्जुन के हृदय में दृढ़ता से स्थापित करना चाहते थे।।१।।

न मे विदुः सुरगणाः # प्रभवं न महर्षयः।
अहम् आदिः हि देवानां # महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

अनुवादः- मैं ही सब प्रकार से आदि पुरुष हूँ अर्थात् मुझसे पहले इस ब्रह्माण्ड में कोई दूसरा नहीं था। इसलिए कोई देवता, महर्षि मेरे उत्पत्ति, लीला आदि के बारे में कुछ भी नहीं जानते हैं।।२।।

व्याख्याः- यहाँ पाठक के मन में ईश्वर के इस वचन पर एक प्रश्न उठ सकता है। भगवान् यहाँ कहते हैं कि चूँकि सभी देवता, महर्षि उनके बाद उत्पन्न हुए हैं, वे उनके नाम, जन्म, कर्म, रूप आदि के बारे में कुछ नहीं जानते। लेकिन वास्तव में हम देखते हैं कि हम उनके बारे में बहुत कुछ जानते हैं जो हमसे पहले पैदा हुए थे। तो भगवान् ने ऐसा क्यों कहा? रामानुज ने अपने गीता भाष्य में इस प्रश्न का सरल और स्पष्ट उत्तर दिया है- "तेषां देवत्वदेवऋषित्वादिहेतुभूतपुण्यानुगुणं मया दत्तं ज्ञानं परिमितम्, अतः ते परिमितज्ञानाः मत्स्वरूपादिकं यथावत् न जानन्ति।" अर्थात् उन्होंने उन सब देवों और ऋषियों को उनके अर्जित योग्यता के अनुसार जो ज्ञान दिया है वह भगवान् के स्वरूप आदि को जानने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसलिए वे उनके बहुत गहरे स्वभाव के बारे में ज्यादा नहीं जानते। भगवान् की यह राय बहुत ही उचित ढंग से विचार करना होगा। वास्तविक जीवन में जब एक शिक्षक

पढ़ाता है तो वह सभी छात्रों को एक जैसा नहीं पढ़ाता है। वह छात्र की बुद्धि के स्तर के अनुसार ज्ञान के वितरण की व्यवस्था करता है। तो जो छात्र योग्यता में कमजोर है उसे उच्चतम ज्ञान नहीं दिया जा सकता है। इन सभी देवताओं, ऋषियों के साथ यही हुआ। इस ब्रह्मांड में सभी को जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह भगवान् कृष्ण की देन है। भगवान् ने उसे उतना ही ज्ञान दिया है जितना पुण्य उन्होंने अर्जित किया है क्योंकि भगवान् को न कोई प्रिय है और न कोई शत्रु। इसलिए इन सभी देवताओं, ऋषियों द्वारा अर्जित पुण्य के अनुसार उन्होंने जो ज्ञान प्राप्त किया, वह भगवान् के गहन तत्त्व को समझने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसलिए उन सभी देवताओं, ऋषियों को भगवान् के उत्पत्ति, लीला आदि के बारे में कुछ भी पता नहीं है।।२।।

यो माम् अजम् अनादिं च # वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढ स मर्तेषु # सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

अनुवादः- जो पुरुष यह जानता है कि मेरा न आदि है, न अंत है, न जन्म है, न मृत्यु है, और मैं ही समस्त लोकों का स्वामी हूँ, उसके हृदय से सब मोह नष्ट हो जाते हैं, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं।।३।।

व्याख्याः- भगवान् अजन्मा है अर्थात् उनकी जन्म नहीं होता है। लेकिन दुनिया के लोगों ने उन्हें पैदा होते देखा। तो भगवान् के कथन की सच्चाई कहाँ है? मामले को थोड़ा और स्पष्ट रूप से समझने की जरूरत है। भगवान् का जन्म उसी तरह नहीं होता जैसे सभी जीव प्रकृति में पैदा होते हैं। उनका जन्म जन्महीन का जन्म है। जब हम उन्हें जन्म लेते हुए देखते हैं, हम माया के प्रभाव से ऐसा सोचते हैं। वे भगवान् अलग-अलग युगों में प्रकट हुए हैं लेकिन वह उनका जन्म नहीं है, यह उनकी अलौकिक दिव्य लीला के अलावा और कुछ नहीं है। भगवान् अपनी योगमाया की सहायता से, लोकरञ्जन, अधर्म के विनाश और धर्म के स्थापना के लिए युगों-युगों में माया का शरीर

धारण कर प्रकट हुए। वे मरते नहीं क्योंकि जिनका जन्म ही नहीं हुआ, वे मरेंगे कैसे? ।।३।।

बुद्धिः ज्ञानम् असंमोहः # क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवः अभावः # भयं च अभयम् एव च।।४।।
अहिंसा समता तुष्टिः # तपः दानं यशः अयशः।
भवन्ति भावा भूतानां # मत्त एव पृथग्-विधाः।।५।।

अनुवादः- प्राणियों की विभिन्न भावों यथा बुद्धि, ज्ञान, असंमोह अर्थात् मोहभंग, क्षमा, सत्यवादिता, बाह्य इंद्रियों का संयम, आंतरिक संयम, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अयश आदि मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं।।४-५।।

व्याख्याः- सही और गलत, अच्छे और बुरे, कर्तव्य और अकर्तव्य आदि चीजों को निर्धारित करने की क्षमता को बुद्धि कहा जाता है। श्रीधराचार्य के अनुसार सार और असार चीजों को सही ढंग से समझने की क्षमता को बुद्धि कहा जाता है– "बुद्धिः सारासारविवेकनैपुण्यम्।" फिर शंकराचार्य कहते हैं कि हृदय के भीतर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर आदि पदार्थ को उपलब्धि करने का अन्तःकरणकी ज्ञानशक्ति को बुद्धि कहलाती है - "बुद्धिः अन्तःकरणस्य सूक्ष्माद्यर्थावबोधनसामर्थ्यम्।" रामानुजाचार्य बुद्धि शब्द को सरल शब्दों में परिभाषित करते हैं और कहते हैं कि निरूपण करने की मानसिक क्षमता को बुद्धि कहते हैं - "बुद्धिः मनसो निरूपणसामर्थ्यम्।" तो शास्त्रों में 'बुद्धि' शब्द का अर्थ प्राकृत लोगों द्वारा बनाए गए अर्थ से कहीं अधिक व्यापक है।

विद्यालय से प्राप्त साहित्य, विज्ञान आदि ज्ञान को हम ज्ञान समझते हैं। लेकिन शास्त्रों में इस ज्ञान को वास्तविक ज्ञान नहीं कहा जाता है। किताबों

के माध्यम से हमें विद्यालय से जो ज्ञान मिलता है, वह भौतिक संसार तक ही सीमित है। ये सभी पुस्तकें हमें पारमार्थिक ज्ञान देने में असमर्थ हैं। इसलिए शास्त्रों की भाषा में यह ज्ञान असली ज्ञान नहीं है। यथार्थ ज्ञान वह ज्ञान है जो हमें पारमार्थिक जगत् से जोड़ता है।

रामानुजाचार्य के अनुसार, ज्ञान वह है जो हमें निश्चित रूप से चेतन और अचेतन के बीच के अंतर को समझने में सक्षम बनाता है- ''ज्ञानं चिदचिद्वस्तुविशेषविषय: निश्चय:।''

आत्मा अविनाशी चेतन पदार्थ है और शरीर नश्वर जड़ पदार्थ है। जब मनुष्य के पास यथार्थ ज्ञान होता है तो वह आत्मा और शरीर के बीच के अंतर को समझ सकता है। फलस्वरूप निश्चय ही उसे शरीर के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता और वह आत्मा को अनादि, नित्य और अविनाशी मानकर परमात्मा को प्राप्त करने की प्रयास करता है। शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा आदि पदार्थ का बोध को 'ज्ञान' कहते हैं - ''ज्ञानम् आत्मादिपदार्थानाम् अवबोध:।'' श्रीधराचार्य भी आत्मविषयक उपलब्धि को ज्ञान कहते हैं - ''ज्ञानमात्मविषयम्''।

'असंमोह:' पद का अर्थ है मोहभंग। एक मायाग्रस्त प्राकृत मनुष्य का हृदय हमेशा भ्रम से भरा रहता है। इसलिए वह इस प्रत्यक्ष नश्वर, क्षणभंगुर, सदा-पीड़ामय प्राकृत मिथ्या संसार को सत्य और परम आनंदमय मानता है और जितना अधिक वह इस शाश्वत संसार को अपनाने की कोशिश करता है, उतना ही अधिक उसका हृदय क्षत-विक्षत होता और लहूलुहान हो जाता है। लेकिन जब भी उसके हृदय में सच्चे ज्ञान का प्रकाश चमकता है, तब उसका मोहभंग हो जाता है, तब वह चेतन और अचेतन सभी वस्तुओं में परमात्मा की उपस्थिति देखता है। तभी वह सांसारिक दुनिया की सभी नश्वर

चीजों से अपने दिल में वैराग्य प्राप्त करता है और इस ज्ञान से निर्देशित होता है कि परमपुरुष भगवान् ही एकमात्र अंतिम शरण हैं, वह अपने कर्तव्यों को एक अनासक्त हृदय से करता है और परमेश्वर के परमधाम तक पहुंचने का मार्ग तैयार करता है।।४-५।।

महर्षयः सप्त पूर्वे # चत्वारो मनवः तथा।
मद्भावा मानसा जाता # येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

अनुवादः- सात महर्षि, उनसे पूर्व के चार ब्रह्मर्षि, चौदहवें मनु आदि मेरे ही मन से उत्पन्न हुए हैं। उसके बाद संसार के सभी प्रजा उन्हीं से उत्पन्न हुई है।।६।।

व्याख्याः- इस श्लोक में वर्णित सात ऋषियों की पहचान हम महाभारत के शांतिपर्व से जान सकते हैं -

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्तः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते।।
—(शान्तिपर्व ३४०।६९)

अर्थात् ये सात ऋषि मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ हैं। अन्य चार ब्रह्मर्षियों का उल्लेख श्रीमद्भागवत-महापुराण से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में 'सन नामक चार ब्रह्मर्षियों की रचना ईश्वर के मन से हुई- "आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत्" (२।७।५)।

वे हैं सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार। कौमारसर्ग में जन्मे ये चार कुमार भगवान् के पहला अवतार हैं।

चौदह मनु हैं - स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चक्षु, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि। इनका विवरण श्रीमद-भागवन्महापुराण के आठवें स्कंध के पहले,

पांचवें और तेरहवें अध्याय में दिया गया है। ब्रह्मा का एक दिन चौदह मनु की अवधि के बराबर होता है। प्रत्येक मनु का काल मन्वंतर कहलाता है। प्रत्येक मन्वंतर में धर्म के व्यवस्था और प्रजा की रक्षा के लिए अलग-अलग सप्तर्षि होते हैं। एक मन्वंतर की अवधि के संबंध में विष्णु पुराण में कहा गया है-

अष्टौ शतसहस्राणि दिव्याया संख्यया गतिः।
द्वापञ्चाशत् तथान्यानि सहस्राण्यधिकानि च।।
त्रिंशत्कोट्यस्तु सम्पूर्णाः संख्याताः संख्यया द्विज।
सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि महामुने।
विंशतिश्च सहस्राणि कालोऽयमधिकं विना।
मन्वन्तरस्य संख्येयं मानुषैर्वतसरैर्द्विज।। (१।३।१८-१९)

अर्थात् दिव्य संख्या की गणना में एक मन्वंतर की अवधि आठ सौ बावन हजार वर्ष होती है और मानव वर्ष की दृष्टि से एक मन्वंतर की अवधि तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हजार वर्ष।।६।।

एतां विभूतिं योगं च # मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सः अविकम्पेन योगेन # युज्यते न अत्र संशयः।।७।।

अनुवादः- जो मेरी इस भृगु मनु आदि परम ऐश्वर्यरूप विभूति और भक्तियोग के विषय को ठीक से जानता है, वह स्थिर भक्तियोग से युक्त हो जाता है - इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।।७।।

व्याख्याः- विभूति शब्द का अर्थ ऐश्वर्य है। भगवान् के अधीन इस संपूर्ण ब्रह्मांड की उत्पत्ति, स्थिति और प्रवृत्तिरूप सभी चीजें भगवान् की विभूति हैं- "सर्वस्य मदायत्तोत्पत्तिस्थितिप्रवृत्तिरूपां विभूतिं मम।" अर्थात् इस सृष्टि के

जितने भी दृश्य-अदृश्य, चिंत्य या अचिंत्य, जड़ और चेतन पदार्थ हैं, वे सब श्रीकृष्ण की रचनाएँ हैं, वे सब उनकी विभूति अर्थात् उनका स्वरूप हैं।।७।।

अहं सर्वस्य प्रभवो # मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां # बुधा भावसमन्विताः।।८।।

अनुवादः- मेरे बुद्धिमान भक्तो ठीक से जानते हैं कि सारा जगत् मुझसे उत्पन्न हुआ है और संसार के सारे कर्म मेरे द्वारा ही चलता हैं। मेरे इस रूप को जानकर उन्होंने परम भाव में विभोर होकर मुझको भजते हैं।।८।।

व्याख्याः- यहाँ पर भगवान् अर्जुन को स्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि वे परब्रह्म वासुदेव हैं जो संपूर्ण ब्रह्मांड के बीज यानी परम कारण हैं। वही इस संसार का मालिक, भोक्ता, धाता हैं, इस संसार की सृष्टि, स्थिति और लय के कर्ता हैं, सारा ब्रह्मांड उसी पर केंद्रित होकर घूम रहा है। जो बुद्धिमान हैं वे उनके स्वरूप को समझ सकते हैं। इसलिए वे परम भाव में आविष्ट होकर उनकी आराधना करते हैं। लेकिन जो अज्ञानी हैं वह उनके इस तत्त्व को नहीं जान सकते। इसलिए वह उनकी उपेक्षा करता है और इसीलिए उनका अंतिम लक्ष्य परमार्थ प्राप्त करने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।।८।।

मच्चित्ता मद्गत-प्राणा # बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तः च मां नित्यं # तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

अनुवादः- मेरे सभी शुद्ध भक्त जिन्होंने अपना हृदय और प्राण मुझमें समर्पित कर दिया है अर्थात् जो मेरे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते हैं, वे हमेशा आपस में मेरे दिव्य रमणीय कर्मोंका चर्चा करते हैं और इस प्रकार उन्हें संतुष्टि और आनंद मिलती है।।९।।

तेषां सततयुक्तानां # भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं # येन माम् उपयान्ति ते।।१०।।

अनुवादः– जो सदैव मेरे साथ जुड़े रहते हैं, जो मुझे प्रेमपूर्वक भजते हैं, उन्हें मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर सकते हैं।।१०।।

व्याख्याः– भगवान् ने यहाँ स्पष्ट संकेत दिया है कि यदि कोई कुछ पाने की आशा से उनकी पूजा करता है, तो वह पूजा व्यर्थ होगी।।१०।।

तेषाम् एव अनुकम्पार्थम् # अहम् अज्ञानजं तमः।
नाशयामि आत्मभावस्थो # ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

अनुवादः– मैं अपने उन सभी भक्तों पर कृपा करने के लिए उनके हृदय में रहकर उनके हृदय में सत्य ज्ञान का प्रसार करता हूँ तथा उस ज्ञान के तेज प्रकाश से उनके हृदय से अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करता हूँ।।११।।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम # पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यम् # आदिदेवम् अजं विभुम्।।१२।।

आहुः त्वाम् ऋषयः सर्वे # देवर्षिः नारदः तथा।
असितो देवलो व्यासः # स्वयं च एव ब्रवीषि मे।।१३।।

अनुवादः– अर्जुन ने कहा - देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आदि ऋषियों ने कहा है और आपने भी मुझे कहते हैं कि आप परब्रह्म हैं, जीवों के परमाश्रय हैं, परम पवित्र, अविनश्वर, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा सर्वव्यापी, विराट् पुरुष हैं ।।१२-१३।।

व्याख्या:- बारहवें श्लोक में भगवान् स्वयं को परब्रह्म के रूप में वर्णित करते हैं। लेकिन परब्रह्म पद का अर्थ क्या है?

रामानुजाचार्य कहते हैं कि जो अक्षर है वह परब्रह्म है - "अक्षरशब्दनिर्दिष्टं परम् एव ब्रह्म।" अक्षर किसे कहते हैं? जिसका कोई क्षय नहीं, कोई लय नहीं, जो सदैव अपरिवर्तनीय है, उसे अक्षर कहा जाता है और वह परब्रह्म है। मुंडकोपनिषद के मंत्र १.१.५ में कहा गया है कि केवल पराविद्या के माध्यम से ही उसे जाना जा सकता है - 'परा यया तदक्षरम् अधिगम्यते'।

परा विद्या क्या है? उपनिषद दो प्रकार के ज्ञान की बात करते हैं - अपरा विद्या और परा विद्या। अपराविद्या इस भौतिक जगत् का ज्ञान है और पराविद्या ब्रह्मविद्या है, यह है आध्यात्मिक ज्ञान जिसकी सहायता से योगी अक्षर अर्थात् क्षयहीन, लयहीन, अव्यय अविनाशी, परब्रह्म को देखते हैं - "तदव्ययं यद्भुतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा" (मुण्डकोपनिषद१।१।६)। पराविद्या वहीं से शुरू होती है जहां अपराविद्या समाप्त होती है।

तैत्तिरीय उपनिषद के ३।१ मंत्रमें परब्रह्म शब्द का अर्थ बताया गया है कि जिससे सभी जीव उत्पन्न होते हैं, जिसमें वे जन्म लेने के बाद रहते हैं, जिसमें जीवन के अंत में जीव विलीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है- "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।" श्रीश्रीगीता और कई अन्य श्रुतियों और शास्त्रों में भगवान् कृष्ण को इन सभी गुणों के भंडार के रूप में वर्णित किया गया है। इसलिए कृष्ण परब्रह्म हैं ।।१२-१३।।

सर्वम् एतत् ऋतं मन्ये # यत् मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं # विदुः देवा न दानवाः।।१४।।

अनुवादः- हे केशव! मुझे विश्वास है कि आप जो कुछ भी मुझे बताते

हैं वह सच है। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूप को कोई देवता या दैत्य नहीं जानते।।१४।।

व्याख्या:- अर्जुन का यह वाक्य बिल्कुल सत्य है। देवताओं नहीं जानते कि परम भगवान् उन्हें कृपा करने के लिए अवतरित हुए हैं, और असुरों नहीं जानते कि वे उन्हें दमन करने के लिए प्रकट हुए हैं।।१४।।

स्वयमेव आत्मना आत्मानं # वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश # देवदेव जगत्पते।।१५।।

अनुवाद:- हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगन्नाथ! आप अपने आत्मज्ञान से स्वयं को जानते हैं।।१५।।

व्याख्या:- यहाँ अर्जुन यह कहना चाहता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही आदिपुरुष हैं, उनके गुण, प्रभाव, लीलाएँ, माहात्म्य, रहस्य और रूप असीम और अनंत हैं। इस कारण से किसी भी सीमित बुद्धि वाले देवता, मनुष्य और असुरों के लिए यह संभव नहीं है कि वे उनके उस अनादि और अनंत गुण को पूरी तरह से जान सकें। प्राकृत जीव को किसी विषय को जानने के लिए उसे अपनी बुद्धि का उपयोग करके और विभिन्न शास्त्रों और गुरुओं से सुनकर उस पर महारत हासिल करनी होती है, और इस प्रकार प्राप्त ज्ञान सीमित होता है। लेकिन भगवान् को इस तरह ज्ञान बटोरने की जरूरत नहीं है। वे सर्वज्ञ हैं। ब्रह्मांड का सारा ज्ञान उन्हीं में संग्रहीत है। अत: वे अपने बारे में सब कुछ जानते हैं।।१५।।

वक्तुम् अर्हसि अशेषेण # दिव्या हि आत्म-विभूतय:।
याभि: विभूतिभि: लोकान् # इमान् त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

अनुवाद:- जिन विभूतियों के द्वारा आप इन सव लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं, उसे केवल आप ही पूर्ण रूप से कह सकते हैं।।१६।।

कथं विद्याम् अहं योगिन् # त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु # चिन्त्यः असि भगवन् मया।।१७।।

अनुवादः- हे भगवन्! मैं हमेशा आपके बारे में सोच कर आपके वास्तविक स्वरूप को कैसे जान सकता हूँ और मैं किस किस भाव में आपके बारे में कैसे सोच सकता हूँ?।।१७।।

विस्तरेण आत्मनो योगं # विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिः हि # शृण्वन्तो नास्ति मे अमृतम्।।१८।।

अनुवादः- हे जनार्दन! आप फिर से अपने योगेश्वर्य और विभूति के बारे में विस्तार से बताएं। इस बारे में आपके अमृतमय वचनों को सुनकर भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही है।।१८।।

श्रीभगवान् उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि # दिव्या हि आत्म-विभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ # नास्ति अन्तः विस्तरस्य मे।।१९।।

अनुवादः- श्रीभगवान् ने कहा-हे कुरुश्रेष्ठ! खैर, मैं आपको अपनी विभूतियों में से मुख्य बता रहा हूँ क्योंकि मेरी विभूतियाँ इतनी विशाल और गहन हैं कि उनकी गणना करना अंतहीन होगा।।१९।।

अहम् आत्मा गुड़ाकेश # सर्वभूत-आशय-स्थितः।
अहम् आदिश्च मध्यं च # भूतानाम् अन्त एव च।।२०।।

अनुवादः- हे गुड़ाकेश! मैं सभी प्राणियों के हृदय में आत्मा के रूप में निवास करता हूँ। मेरे द्वारा ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होती है।।२०।।

व्याख्या:- आत्मा किसे कहते है और उसका स्वरूप क्या है, इसके विषय में रामानुजाचार्य कहते हैं- "आत्मा हि नाम शरीरस्य सर्वात्मन। आचारो नियन्ता शेषी च।" दूसरे शब्दों में कहें तो शरीर को धारण करने वाला, नियंता तथा 'शेषी' अर्थात् स्वामी को ही आत्मा कहा जाता है। इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् के ३. ७. १५ मंत्र कहता है – "य: सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदु:, यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं य: सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति एष एव त आत्मा अन्तर्यामी अमृत:।"

अर्थात्, जो सभी प्राणियों के अंतर मे स्थित है, जिसे सभी प्राणियों के देवता नहीं जानते हैं, समस्त प्राणी जिसका शरीर है, जो अंतर में रहकर सभी प्राणियों के देवता को नियंत्रित करता है, वह अविनाशी आत्मा है।। २०।।

आदित्यानाम् अहं विष्णु: # ज्योतिषां रवि: अंशुमान्।
मरीचि: मरुताम् अस्मि # नक्षत्राणाम् अहं शशी।।२१।।

अनुवाद :- आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, ज्योतियों में मैं किरणवाला सूर्य हूँ, पवनों में मैं मरीचि हूँ, तारों में मैं चन्द्रमा हूँ।।२१।।

वेदानां सामवेद: अस्मि # देवानाम् अस्मि वासव:।
इन्द्रियाणां मन: च अस्मि # भूतानाम् अस्मि चेतना।।२२।।

अनुवाद:- वेदों में मैं सामवेद हूँ, देवताओं में मैं इन्द्र हूँ, इंद्रियों में मन हूँ, प्राणियों की चेतना अर्थात् ज्ञानशक्ति हूँ।।२२।।

रुद्राणां शङ्कर: च अस्मि # वित्तेशो यक्ष-रक्षसाम्।
वसूनां पावक: च अस्मि # मेरु: शिखरिणाम् अहम्।।२३।।

अनुवाद:- मैं रुद्रों में शंकर हूँ, मैं यक्षों और राक्षसों में कुबेर हूँ, वसुओं में मैं अग्नि हूँ, शिखरों वाले पर्वतों में मैं सुमेरु हूँ।।२३।।

पुरोधसां च मूख्यं मां # विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनाम् अहं स्कन्दः # सरसाम् अस्मि सागरः।।२४।।

अनुवादः- मैं पुजारियों में प्रधान बृहस्पति, सेनापतियों में कार्तिकेय, जलाशय में समुद्र हूँ।।२४।।

महर्षीणां भृगुः अहं # गिराम् अस्मि एकम् अक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञः अस्मि # स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

अनुवादः- ऋषियों में मैं भृगु हूँ, शब्दों में मैं एकाक्षर ओंकार हूँ, यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ, स्थावरों में मैं हिमालय हूँ।।२५।।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां # देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः # सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

अनुवादः- मैं समस्त वृक्षों में अश्वत्थ हूँ, देवर्षियों में मैं नारद हूँ, गंधर्वो में मैं चित्ररथ हूँ, सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ।।२६।।

उच्चैःश्रवसम् अश्वानां # विद्धि माम् अमृत-उद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां # नराणां च नराधिपम्।।२७।।

अनुवादः- घोड़ों में मैं समुद्र मंथन के समय उत्पन्न उच्चैःश्रबा हूँ, हाथियों में ऐरावत हूँ और मनुष्यों में मैं नृपति हूँ।।२७।।

आयुधानाम् अहं वज्रं # धेनूनाम् अस्मि कामधुक्।
प्रजनः च अस्मि कन्दर्पः # सर्पाणाम् अस्मि वासुकिः।।२८।।

अनुवादः- मैं शस्त्रों में वज्र हूँ, गोओं में मैं कामधेनु हूँ, उत्पन्न करनेवालों में मैं कंदर्प हूँ और सर्पो में मैं वासुकी हूँ।।२८।।

अनन्तः च अस्मि नागानां # वरुणो यादसाम् अहम्।
पितॄणाम् अर्यमा च अस्मि # यमः संयमताम् अहम्।।२९।।

अनुवादः- मैं नागों में अनंत यानी शेषनाग हूँ, मैं जलचरों का स्वामी वरुण हूँ, मैं पितरों में अर्यमा हूँ, मैं दण्ड देनेवालों में यमराज हूँ।।२९।।

प्रह्लादः च अस्मि दैत्यानां # कालः कलयताम् अहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रः अहं # वैनतेयः च पक्षिणाम्।।३०।।

अनुवादः- मैं दैत्यों में प्रह्लाद, घटनाओं के निर्देशकों में काल, पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ।।३०।।

पवनः पवताम् अस्मि # रामः शस्त्रभृताम् अहम्।
झषाणां मकरः च अस्मि # स्रोतसाम् अस्मि जाह्नवी।।३१।।

अनुवादः- मैं पवित्रों या चलनेवालों में पवन हूँ, शस्त्रधारियों में दशरथपुत्र राम, मछलियों में मगरमच्छ और नदियों में गंगाजी हूँ।।३१।।

सर्गाणाम् आदिः अन्तश्च # मध्यं च एव अहम् अर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां # वादः प्रवदताम् अहम्।।३२।।

अनुवादः- मैं इस संसार में उत्पन्न सभी वस्तुओं का स्रष्टा, पालनकर्ता और संहारक हूँ। सभी विद्याओं में मैं अध्यात्म-विद्या हूँ, तर्कशास्त्र में तीन प्रकार के तर्कों में मैं 'वाद' हूँ।।३२।।

व्याख्याः- 'वाद' एक प्रकार का बहस है। किसी मामले पर संदेह को हल करने के लिए एक दूसरे के बीच तीन प्रकार के बहस होते हैं जैसे तर्क, वाद और जल्प। 'वाद' उस प्रकार का तर्क है जिसमें दो पुरुष या गुरु-शिष्य या कोई भी दो व्यक्ति जो सभी मामलों में आसक्ति के बिना सत्य का

निर्धारण करने के शुभ उद्देश्य के लिए एक-दूसरे के साथ तर्क करते हैं। परंतु जब सही और गलत का विचार किये बिना दूसरे पक्ष के मत का खण्डन करने के लिये और किसी प्रकार अपना मत स्थापित करने के लिये कोई बहस किया जाता है तो उसे 'जल्प' कहते हैं। और जब कोई बहस केवल दूसरे पक्ष के मत का खण्डन करने के आशय से किया जाता है तो उसे 'बितंडा' कहते हैं। 'जल्प' और 'बितंडा' से हर कीमत पर बचना चाहिए क्योंकि इन दो प्रकार के तर्कों में हिंसा, क्रोध, अहंकार और असत् उद्देश्य होते हैं। लेकिन 'वाद' सराहनीय है क्योंकि इसका उद्देश्य नेक है और सच्चाई का पता लगाने में मददगार है। इसलिए भगवान् 'वाद' को अपनी विभूति के रूप में स्वीकार करते हैं।।३२।।

अक्षराणाम् अकारः अस्मि # द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहम् एव अक्षयः कालो # धाता अहं विश्वतोमुखः।।३३।।

अनुवाद :- मैं अक्षरों में अकार हूँ, समासों में द्वन्द्व हूँ, विनाश करने वालों में अक्षय काल अर्थात् रुद्र हूँ, सभी कर्मफलका विधान करनेवाला तथा सब ओर मुखवाला परमात्मा हुँ।।३३।।

व्याख्याः- भगवान् यहाँ अक्षरों में अ-कार को अपनी विभूति के रूप में स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार पुराकाल में मानव समाज में चार वर्णो का प्रचलन था, उसी प्रकार वर्णों के भी चार भेद हैं- स्वरवर्ण, स्पर्शवर्ण, अन्तःस्थ वर्ण, उष्मवर्ण। चातुर्वर्ण व्यवस्था में जिसका स्थान प्रथम है उस ब्राह्मण को चारों वर्णो के लोगों में सबसे ऊपर माना जाता है। इसी प्रकार अक्षरों में जिसका स्थान सबसे पहले आता है उस अकार को सभी अक्षरों में श्रेष्ठ माना जाता है। अ-कार की सहायता के बिना किसी अन्य अक्षर का भाषा में उपयोग नहीं किया जा सकता है। जिस प्रकार ईश्वर सभी रचनाओं में व्याप्त है, उसी प्रकार अकार भी अन्य सभी वर्णों में व्याप्त है। इसीलिए भगवान् ने अक्षरो में अ-कार को अपनी विभूति के रूप में स्वीकार किया है।

समासों के समूह में भगवान् ने द्वन्द्व समास को अपनी विभूति माना है। समास चार प्रकार के होते हैं - तत्पुरुष, बहुव्रीहि, अभयीभाव और द्वन्द्व। उनमें से अभयीभाव समास में पूर्वपद का अर्थ प्रधान है, तत्पुरुष समास में उत्तरी पद का अर्थ प्रधान है, बहुव्रीहि समास में किसी पद का अर्थ प्रमुख होने के बजाय एक अलग पद का अर्थ प्रमुख है। लेकिन द्वन्द्व समास में दोनों पदों के अर्थ प्रमुख हैं। इसलिए भगवान् समास में द्वंद्व समास को अपनी विभूति के रूप में स्वीकार करते हैं।

भगवान् कहते हैं कि वे अमर काल अर्थात् संहारकों में रुद्र हैं। तो वे उस काल है जिसका कभी नाश नहीं होता। इस अध्याय के तीसवें श्लोक में उन्होंने स्वयं को काल बताया है। वह समय गणना करने का काल है। वह काल नश्वर बस एक पल है। लेकिन एक और अनंत काल है जो निरंतर बहता रहता है जिसका कभी क्षय नहीं होता– ''अक्षयः प्रवाहरूपः कालः'' (श्रीधराचार्य)। वह काल प्रलय के बाद भी विद्यमान रहता है। काल का यह चिर अक्षय अटूट प्रवाह ईश्वर का अपर विभूति है।।३३।।

मृत्युः सर्वहरः च अहम् # उद्भवः च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीः वाक् च नारीणां # स्मृतिः मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

अनुवादः– मैं सब वस्तुओं का नाश करने वाला मृत्यु, भावी प्राणियों को उत्पन्न करने वाला और स्त्रियों में महिमा, श्री, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और क्षमा हूँ।।३४।।

बृहत्साम तथा साम्नां # गायत्री छन्दसाम् अहम्।
मासानां मार्गशीर्षः अहम् # ऋतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

अनुवादः– सामवेद के मन्त्रों में मैं बृहत् साम, छंदों में गायत्री, मासों में अग्रहायण और ऋतुओं में वसंत हूँ।।३५।।

व्याख्या:- वेदों के गीतों को साम कहते हैं। इस अध्याय के २२वें श्लोक में भगवान् कहते हैं कि वे वेदों में सामवेद हैं। इस श्लोक में वे और भी स्पष्ट करते हैं कि सामवेद के मन्त्रों में बृहत् साम उनकी विभूति या स्वरूप है। पतंजलि के महाभाष्य में कहा गया है कि सामवेद की एक हजार शाखाएँ हैं- "सहस्रवर्ती सामवेद:"। यद्यपि समस्त सामवेद ईश्वर की ही विभूति है, किंतु उनका बृहत् साम अधिक प्रिय हैं क्योंकि बृहत् सामवेद में ईश्वर की महिमा का अधिक वर्णन किया गया है।

विभिन्न शास्त्र गायत्री छंद की महिमा का वर्णन करते हैं। नारायणोपनिषद में गायत्री को समस्त वेदों की जननी कहा गया है- ''गायत्री छन्दसा मातेति।'' बृहद् योगियाज्ञवल्क (१०।१०) में कहा गया है कि गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं है, केशव से बड़ा कोई देवता नहीं है और गायत्री से बड़ा कोई मंत्र नहीं है और न ही कभी होगा-

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं न देव: केशवात्पर:।
गायत्रास्तु परं जप्यं न भूतं न भविष्यति।।

इन्हीं सब कारणों से भगवान् ने गायत्री को अपनी विभूति कहा है।।३५।।

द्यूतं छलयताम् अस्मि # तेज: तेजस्विनाम् अहम्।
जय: अस्मि व्यवसाय: अस्मि # सत्त्वं सत्त्ववताम् अहम्।।३६।।

अनुवाद:- मैं छल करनेवालों का पासा हूँ, मैं तेजस्वियों का तेज हूँ, मैं विजेताओं की विजय हूँ, मैं उद्यमी पुरुषों का व्यवसाय हूँ और मैं सात्त्विक व्यक्तियों का सत्त्वगुण हूँ।।३६।।

वृष्णीणां बासुदेवः अस्मि # पाण्डावानां धनञ्जयः।
मुनीनाम् अपि अहम् व्यासः # कवीनाम् उशनाः कविः।।३७।।

अनुवादः– मैं वृष्णियों में वासुदेव, पाण्डवों में धनंजय, मुनियों में व्यासदेव और कवियों में शुक्राचार्य हूँ।।३७।।

दण्डो दमयताम् अस्मि # नीतिः अस्मि जिगीषताम्।
मौनं च एव अस्मि गुह्यानां # ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम्।।३८।।

अनुवादः– मैं शासकों का दंड हूँ, मैं जीतने वालों में नीति हूँ, गुप्त विषयों में मैं मौन हूँ और ज्ञानवानों का मैं ज्ञान हूँ।।३८।।

यत् च अपि सर्वभूतानां # बीजं तत् अहम् अर्जुन।
न तत् अस्ति विना यत् स्यात # मया भूतं चराचरम्।।३९।।

अनुवादः– हे अर्जुन! मैं ही समस्त प्राणियों का मूल कारण हूँ अर्थात् समस्त प्राणियों की उत्पत्ति मुझसे ही हुई है। इस पूरे ब्रह्मांड में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो मेरे बिना मौजूद हो।।३९।।

न अन्तः अस्ति मम दिव्यानां # विभूतीनां परंतप।
एष तु उद्देशतः प्रोक्तो # विभूतेः विस्तरो मया।।४०।।

अनुवादः– हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अंत नहीं है। इसलिए मैंने आपको इसका केवल एक छोटा सा हिस्सा बताया है।।४०।।

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं # श्रीमत् उर्जितम् एव वा ।
तत् तद् एव अवगच्छ त्वं # मम तेजः अंश-संभवम्।।४१।।

अनुवादः– यह जानो कि जो कुछ ऐश्वर्ययुक्त, तेजोमय, शक्तिशाली है, वे सब मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हैं।।४१।।

अथवा बहुना एतेन # किं ज्ञातेन तव अर्जुन।
विष्टभ्य अहम् इदं कृत्स्नम् # एकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

अनुवादः- अथवा अर्जुन! इतना जानने से क्या फायदा? केवल इतना जानो कि यह सारा संसार मेरे एक अंश में ही विद्यमान है।।४२।।

व्याख्याः- दसवें अध्याय के अंतिम श्लोक में भगवान् अर्जुन को एक महान शिक्षा देते हैं और अर्जुन को उनकी परमेश्वरता के बारे में बताते हैं जैसे सिंधु का वर्णन बिंदु में करते हैं। दूसरे अध्याय से सातवें अध्याय तक परमपुरुष भगवान् कृष्ण के मुख से परमार्थ पर विभिन्न उपदेश सुनने के बाद अर्जुन परमार्थ के बारे में अधिक जानने के लिए बहुत उत्सुक हो गए। तो आठवें अध्याय के पहले श्लोक में उन्होंने ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, अधिभूत क्या है और अधिदैव क्या है, विस्तार से जानने की अपनी रुचि व्यक्त की। तदनुसार, भगवान् ने अर्जुन की जिज्ञासा को शांत करने के लिए नौवें अध्याय में उन्हें विस्तार से बताया, और दसवें अध्याय में अर्जुन के कल्याण के लिए अपनी विभूतियों का सारांश दिया। लेकिन ईश्वर की दिव्य विभूतियाँ असीम, अनादि, अगण्य, अनंत हैं। उन असीम, अनादि, अगण्य, अनंत विभूतियों को ठीक-ठीक जान लेना या उनका विस्तार से वर्णन करना किसी के लिए भी संभव नहीं है - "न हि ईश्वरस्य सर्वात्मनो दिव्यानां विभूतिनाम् इयत्ता शक्या वक्तुं ज्ञातुं वा केनचित्" (शङ्कराचार्य ८/४०)। वे इनका पूर्ण वर्णन कर सकते हैं। लेकिन भगवान् ने ठीक ही महसूस किया कि अर्जुन के पास अब एक बड़ी जिम्मेदारी है। यदि वे इस संकट के समय अर्जुन को इस ज्ञान को विस्तार से समझाने लगें तो कुरुक्षेत्र-युद्ध का मुख्य उद्देश्य की पूर्ति बाधाग्रस्त हो जाएगा। इसलिए, अर्जुन को अधिक जानने की इच्छा से दूर करने के लिए, उन्होंने उनसे कहा कि वर्तमान स्थिति में अर्जुन को अधिक जानने की कोई आवश्यकता नहीं है, उन्हें अब अपने वर्णधर्म का पालन करना चाहिए। इसलिये भगवान् ने बहुत ही संक्षेप में अंत में अर्जुन से कहा कि इस संपूर्ण ब्रह्मांड उनके संपूर्ण अस्तित्व का एक

अंश मात्र है। लेकिन जितनी आसानी से भगवान् ने अर्जुन को अपने तत्त्व के बारे में यह बता दिया, इसे समझना इतना आसान नहीं है। यह समझाना आवश्यक है कि कैसे यह सारा ब्रह्मांड भगवान्का संपूर्ण अस्तित्व के एक अंश में ही विद्यमान है। इस संबंध में एक उदाहरण देने से भगवान् श्रीकृष्ण के इस कथन का अर्थ हमारे सामने स्पष्ट हो जाएगा। इस पृथ्वी, असंख्य ग्रहों, तारों, महासागरों, वनों से घिरे हुए हम जिस संसार में रहते हैं, उसे सौरमंडल कहते हैं और यह सौरमंडल असीम अंतरिक्ष में स्थित है। सौरमंडल का विस्तार कितना भी बड़ा क्यों न हो, वास्तव में यह सीमित है। लेकिन अंतरिक्ष का विस्तार और गहराई अनंत है। नतीजतन, यह सीमित सौरमंडल उस अनंत, अनादि, असीम अंतरिक्ष के एक हिस्से में ही मौजूद है। इसी तरह भगवान् के ईश्वरता अनंत, अनादि, असीम हैं - उनका कोई आरंभ नहीं है, कोई अंत नहीं है, उनका विस्तार, गहराई, ऊंचाई, परिधि अथाह है। यदि आप मुट्ठी भर रेत को विशाल समुद्र में फेंक दें, तो यह पूरे समुद्र में कभी नहीं फैलेगी, यह समुद्र के एक संकीर्ण हिस्से में ही रहेगी। इस कुल ब्रह्मांड का विस्तार परमात्मा के लिए समुद्र में फेंकी गई मुट्ठी भर रेत के समान है। इसलिए, प्राकृत बुद्धि में इस दृश्यमान ब्रह्मांड को कितना भी बड़ा क्यों न माना जाए, इसका विस्तार ईश्वर की समग्रता की तुलना में बिल्कुल नगण्य है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि यह दुनिया उनके एक अंश में ही मौजूद है। वास्तव में, यदि परमेश्वर का यह एक वचन पूरी हृदय में दृढ़ता से स्थापित हो जाता है, तो परमेश्वर के स्वरूप के बारे में जानने के लिए और कुछ भी शेष नहीं रह जाता है।।४२।।

।। दसवाँ अध्याय समाप्त ।।

ग्यारहवाँ अध्याय

विश्वरूप-दर्शन-योग

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं # गुह्यम् अध्यात्म-संज्ञितम्।
यत् त्वया उक्तं वच: तेन # मोह: अयं विगतो मम।।१।।

अनुवाद:- अर्जुन ने कहा- आपने मुझपर अनुग्रह करने के लिए अध्यात्मविषयक जो परम गोपनीय वचन यानी उपदेश कहे हैं, उनसे मेरे मन का अज्ञान दूर हो गया है।।१।।

व्याख्या:- हृदय में कार्पण्यदोष के कारण युद्ध क्षेत्र में उपस्थित प्रतिद्वंद्वी रिश्तेदारों को देखकर अर्जुन को उन पर दया आई, उन्होंने युद्ध न करने का फैसला किया क्योंकि उनके दिल में आत्मतत्त्व की कोई अवधारणा नहीं थी और उन्हे लगा कि वह इन सभी रिश्तेदारों की मृत्यु का कारण बनेंगे और भले ही भगवान् कृष्ण ने उन्हे विभिन्न तरीकों से लड़ने के लिए प्रोत्साहित करने की कोशिश की, लेकिन उनकी सलाह अर्जुन को स्वीकार्य नहीं हुई क्योंकि अर्जुन यह नहीं समझ पाए कि उनके रथ का सारथी कोई सामान्य इंसान नहीं बल्कि परमेश्वर है। ये दो विचार अर्जुन के मन का अज्ञान हैं। लेकिन इतने लंबे समय के बाद कृष्ण की परम गुप्त उपदेश पर उनके हृदय में सत्य का प्रकाश चमक उठा। उन्होंने महसूस किया कि आत्मा वास्तव में अविनाशी है और कृष्ण स्वयं ही परमेश्वर भगवान् हैं। उन्हे एहसास हुआ कि कोई किसी को नहीं मारता। भगवान् कृष्ण सृजन, स्थिति और विनाश के

स्वामी हैं। वही निर्णय लेते हैं कि कब किसका देहावसान होगी और दुनिया उनके निर्देशों के अनुसार चलती है। इसलिए उन्होंने कृष्ण से कहा कि उनका मोहभंग हो गया है।।१।।

भव अप्ययौ हि भूतानां # श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष # माहात्म्यम् अपि च अव्ययम्।।२।।

अनुवादः- हे कमलनयन! मैंने आपसे जीवों के जन्म और मृत्यु के बारे में विस्तार से सुना और आपके अविनाशी माहात्म्य के बारे में भी सुना।।२।।

एवम् एतद् यथा आत्थ # त्वम् आत्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुम् इच्छामि ते रूपम् # ऐश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

अनुवादः- हे परमेश्वर! आप अपने बारे में जैसे कहते हैं, आप ठीक वैसे ही हैं। हे पुरुषोत्तम! मैं आपका दिव्य रूप देखना चाहता हूँ।।३।।

मन्यसे यदि तत् शक्यं # मया द्रष्टुम् इति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं # दर्शय आत्मानम् अव्ययम् ।।४।।

अनुवादः- हे प्रभो! यदि आप मुझे आपका वह (ऐश्वर) रूप देखने योग्य समझते हैं तो हे योगेश्वर! आप मुझे अपना अविनाशी स्वरूप दिखलाइये।।४।।

श्रीभगवान् उवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि # शतशः अथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि # नाना-वर्ण-आकृतीनि च।।५।।

अनुवादः- भगवान् ने कहा- हे पार्थ! मेरे नाना प्रकार के दिव्य, नाना वर्ण और आकारवाले सैकड़ों और हजारों रूपों को देखो ।।५।।

पश्य आदित्यान् वसून् रुद्रान् # अश्विनौ मरुतः तथा।
बहूनि अदृष्टपूर्वाणि # पश्य आश्चार्याणि भारत।।६।।

अनुवादः- हे अर्जुन! बारह आदित्यों, आठ वसुओं, ग्यारह रुद्रों, दो अश्विनीकुमारों और मरुतों को देखो। और बहुत सी अद्भुत रूपों को देखो जो पहले कभी नहीं देखी गई हैं।।६।।

इह एकस्थं जगत् कृत्स्नं # पश्य अद्य सचराचरम्।
मम देहे गुड़ाकेश # यत् च अन्यद् द्रष्टुम् इच्छसि।।७।।

शब्दार्थ : गुड़ाकेश - निद्रा को जीतने वाला।

अनुवादः- हे निद्रा को जीतने वाले अर्जुन! अब तुम मेरे इस शरीर में सभी चराचरके साथ ब्रह्मांड को और जो कुछ भी तुम देखना चाहते हो उसे देखो।।७।।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् # अनेन एव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः # पश्य मे योगम् ऐश्वरम्।।८।।

अनुवादः- किंतु तुम अपने नेत्रों से मेरे इस रूप को नहीं देख सकते। इसलिए मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ, उनसे मेरी दिव्य योगशक्ति को देखो ।।८।।

संजय उवाच

एवम् उक्त्वा ततो राजन् # महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय # परमं रूपम् ऐश्वरम्।।९।।

अनुवादः- संजय ने कहा- हे राजन! महायोगेश्वर हरि ने यह कहा और फिर अर्जुन को अपना परम दिव्य रूप दिखाया।।९।।

अनेक-वक्त्र-नयनम् # अनेक-अद्भुत-दर्शनम्।
अनेक-दिव्य-आभरणं # दिव्य अनेक उद्यत आयुधम्।।१०।।

अनुवादः- उस विराट् दिव्य रूप के अनेक मुख हैं, अनेक नेत्र हैं, अनेक प्रकार के दर्शनीय दिव्य आभूषण हैं, अनेक उद्यत दिव्यास्त्र हैं।।१०।।

दिव्यमाल्य-अम्बरधरं # दिव्यगन्ध-अनुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवम् # अनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

अनुवादः- वह विराट् शरीर दिव्य मालाओं और दिव्य वस्त्रों से विभूषित है, वह अंग दिव्य सुगंध से आच्छादित हैं। वहां से महा चमत्कारिक प्रकाश निकलता है, और वह शरीर असीमित है, हर जगह मुखवाला हैं।।११।।

दिवि सूर्यसहस्रस्य # भवेत् युगपत् उत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्यात् # भासः तस्य महात्मनः।।१२।।

अनुवादः- आकाश में यदि सहस्त्र सूर्यों की ज्योति एक साथ प्रकट हो तो उस संयुक्त ज्योति की तुलना उस महात्मा की ज्योति से की जा सकती है।।१२।।

तत्र एकस्थं जगत् कृत्स्नं # प्रविभक्तम् अनेकधा।
अपश्यत् देवदेवस्य # शरीरे पाण्डवः तदा।।१३।।

अनुवादः- तब अर्जुन ने देवदेव भगवान् के शरीर में एक ही स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रकार से बंटा हुआ सारा जगत् को देखा।।१३।।

ततः स विस्मयाविष्टो # हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं # कृताञ्जलिः अभाषत।।१४।।

अनुवादः- तब अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के विराट् रूप को देखकर

चकित हो उठे। उनके सर्वांग में रोमांच दिखाई दिया। तब उन्होंने विश्वरूप भगवान् कृष्ण को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोले - ।।१४।।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवान् तव देव देहे # सर्वान् तथा भूत-विशेष-सङ्घान्।
ब्रह्माणम् ईशं कमल-आसनस्थम् # ऋषीन् च सर्वान् उरगान् च दिव्यान्।।१५।।

अनुवाद:- अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! मैं आपके शरीर में समस्त देवताओं और प्राणियों का विशेष समागम देखता हूँ। मैं आपके शरीर में पद्मासन पर बैठे प्रभु ब्रह्मा, सभी दिव्य ऋषियों और नागों को भी देख रहा हूँ।।१५।।

अनेक-बाहु-उदर-वक्त्र-नेत्रं # पश्यामि त्वां सर्वत: अनन्त-रूपम्।
न अन्तं न मध्यं न पुन: तव आदिं # पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

अनुवाद:- हे विश्वेश्वर! आप में मुझे असंख्य भुजाएँ, पेट, चेहरे, आँखें दिखाई देती हैं। आपको हर जगह देखा जाता है। हे विश्वरूप! मैं न आपके अंत कौ देख पाता हुँ, न मध्य को और न आदि को ही।।१६।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिनं च # तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्षं समन्ताद # दीप्त-अनल-अर्क-द्युतिम् अप्रमेयम्।।१७।।

अनुवाद:- मुकुटधारी, गदाहस्त, चक्रधारी, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के असीम तेज के समान दुर्निरीक्ष यानी कठिनाइ से देखे जाने योग्य आपका अप्रमेय तेजोमय रूप मैं सर्वत्र देखता हूँ।।१७।।

त्वम् अक्षरं परमं वेदितव्यं # त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वम् अव्यय: शाश्वत-धर्मगोप्ता # सनातन: त्वं पुरुषो मतो मे।।१८।।

अनुवाद:- आप जानने योग्य अविनाशी अक्षर परब्रह्म हैं। आप जगत् के

परम शरण हैं, आप ही अनादि अविनाशी, शाश्वत धर्म के रक्षक और सनातन हैं। इस प्रकार मैं आपको देखता हूँ।।१८।।

अनादि-मध्य-अन्तम् अनन्त-वीर्यम् # अनन्त-बाहुं शशि-सूर्य-नेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्त-हुताश-वक्त्रं # स्वतेजसा विश्वम् इदं तपन्तम्।।१९।।

अनुवादः- मैं आपका न आदि देखता हूँ, न मध्य और न अन्त देख पाता हुँ। आप अनंत शक्तिशाली हैं, आपकी भुजाएँ असंख्य हैं, आपके दो नेत्र चन्द्रमा और सूर्य के समान हैं, आपका मुख प्रज्वलित अग्नि के समान है, आप अपने तेज से इस संसार को तपाते हैं।।१९।।

द्यावापृथिव्योः इदम् अन्तरं हि # व्याप्तं त्वया एकेन दिशः च सर्वाः।
दृष्ट्वा अद्भुतं रूपम् उग्रं तव इदं # लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

अनुवादः- हे महात्मन! स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का विशाल क्षेत्र यानी अंतरिक्ष और दस दिशाएँ आप ही से व्याप्त हैं। साथ ही स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों लोक आपके विचित्र और भयानक रूप को देखकर व्यथित हो रहे हैं।।२०।।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति # केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्ति इति उक्त्वा महर्षि-सिद्ध-सङ्घाः # स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

अनुवादः- ये देवताओं के समूह आपमें प्रवेश कर रहे हैं, कोई भयभीत होकर हाथ जोड़कर आपकी स्तुति कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धों के संघ स्वस्ति वाक्य का उच्चारण करते हुए वेदोक्त उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।।२१।।

रुद्र-आदित्या वसवो ये च साध्या # विश्वे अश्विनौ मरुत: च उष्मपा: च ।
गन्धर्व-यक्ष-असुर-सिद्ध-संघा # वीक्षन्ते त्वां विस्मिता: च एव सर्वे ।।२२।।

अनुवाद:- ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु तथा समस्त साध्य, विश्वदेवता, दो अश्विनीकुमार, मरुत्, पितर तथा गंधर्व-यक्ष-असुर-सिद्धों सभी विस्मय से आपकी ओर देख रहे हैं।।२२।।

व्याख्या :- भगवान् ने यहां तैंतीस करोड़ देवताओं का परिचय कराया है। सनातन धर्म में देवताओं की संख्या के बारे में एक आम गलत धारणा है। आमतौर पर 'कोटि' शब्द का अर्थ सौ लाख हर कोई समझता है। संस्कृत में 'कोटि' शब्द का एक और अर्थ है - श्रेणी, वर्ग आदि। इसलिए सनातन धर्म में देवताओं की संख्या तैंतीस सौ लाख नहीं है बल्कि तैंतीस है। ऋग्वेद के मंत्र ८।२८।१ में तैंतीस देवताओं का उल्लेख है- "ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बहि: आसदन्" इति। लेकिन इन तैंतीस देवताओं की पहचान वेदों में नहीं है। हालाँकि, शतपथ ब्राह्मण से संबंधित बृहदारण्यकोपनिषद के मंत्र ३।९।२ में, तैंतीस करोड़ नहीं, बल्कि तैंतीस देवताओं को स्वीकार किया गया है - "त्रयस्त्रिंशत् तु एव देवा:।" तो सामान्य समाज में देवताओं की संख्या तैंतीस करोड़ यानि तैंतीस सौ लाख मानी गई है, जो कि सरासर गलत है। यहाँ कोटि का अर्थ वर्ग है, अर्थात् देवताओं की संख्या तैंतीस है। इस मंत्र में कहा गया है कि ये तैंतीस देवता आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य यह इकतीस है तथा इंद्र और प्रजापति कुल मिलाकर तैंतीस हैं - "त्रयस्त्रिंशत् अष्टौ वसव: एकादश रुद्रा: द्वादश आदित्या: ते एकत्रिंशत् इन्द्र: च एव प्रजापति: च त्रयसात्रंशौ इति।" तो जिज्ञासु के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि हम जिन अन्य देवताओं को जानते हैं वे कौन हैं? इस प्रश्न का उत्तर इस मंत्र में देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वे ईश्वर की विभूति हैं- "एते

एषाम् एव महिमानः।" 'महिमानः' शब्द का अर्थ है विभूति। अब जो जिज्ञासु हैं वे जानना चाहेंगे कि ये आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य कौन हैं। इसलिए मुझे लगता है कि इस मामले पर प्रकाश डालना जरूरी है। हरिवंश में कहा गया है-

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यंबकश्चापराजितः।
बृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवस्तथा।।
मृगव्याधश्च सर्पश्च कपाली च बिशाम्पते।
एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः।। —(१।३।५१-५२)

अर्थात् हर, बहुरूप, त्र्यंबक, अपराजित, वृषाकपि शंभु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, सर्प और कपाली ये ग्यारह रुद्र हैं। उनमें से शंभु सभी के अधीश्वर हैं।

यहां बारहवें आदित्य के बारे में कहा गया है-

अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पुषा च भारत।।
विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च।
अंशो भगश्चातितेजा आदित्य द्वादशा स्मृताः।
—(१।३।६०-६१)

अर्थात् हरिवंश के अनुसार बारह आदित्य हैं - अर्यमा, धाता, त्वष्टा, पूषा, विवस्वान सविता, मित्र, वरुण, अंश और परम तेजस्वी भग। तो इस जानकारी को पढ़ने के बाद किसी के मन में देवताओं की संख्या तैंतीस करोड़ है यानी ३३,००,००,००० या कुल तैंतीस, उसके बारे में मन में कोई संशय नहीं होना चाहिए।।२२।।

रूपं महत् ते बहु-वक्त्र-नेत्रं # महाबाहो बहु-बाहु-उरु-पादम्।
बहु-उदरं बहु-दंष्ट्रा-करालं # दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिताः तथा अहम्।।२३।।

अनुवादः- हे महाबाहो! आपके अनेक मुख, नेत्र, असंख्य हाथ, जाँघ, पैर, असंख्य पेट, अनेक दाँतों वाला आपका भयानक विशाल रूप देखकर त्रिलोक और मैं अत्यंत भयभीत हो गए हैं।।२३।।

नभः-स्पृशं दीप्तम् अनेक-वर्णं # व्यात्त-आननं दीप्त-विशाल-नेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथिता-अन्तरात्मा # धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

अनुवादः- हे विष्णु! आपका यह गगन-स्पर्शी महान तेजोमय, बहुरंगी और खुला हुआ मुखों, अति उज्ज्वल बड़ी-बड़ी नेत्रों देखकर मेरा अंतःकरण अत्यन्त भयभीत हो रहा है। मेरा चित्त अब और धैर्यवान और शांत नहीं रह सकता।।२४।।

दंष्ट्रा-करालानि च ते मुखानि # दृष्ट्वा एव काल-अनल-सन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म # प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

अनुवादः- आपके भयानक दांत और कालाग्नि के समान मुख देखकर मैं व्याकुल हो रहा हूँ और मुझे मन की शांति नहीं मिल रही है। हे देवेश! हे विश्व के आश्रय (जगन्निवास)! आप प्रसन्न होइये ।।२५।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः # सर्वे सह एव अवनिपाल-सङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः तथा असौ # सह अस्मदीयैः अपि योधमुख्यैः।।२६।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति # दंष्ट्रा-करालानि भयानकानि।
केचित् विलग्ना दशन् अन्तरेषु # संदृश्यन्ते चूर्णितैः उत्तम-अङ्गैः।।२७।।

अनुवादः- वे सब धृतराष्ट्र के पुत्र, भीष्म द्रोण और अन्य राजाओं सहित

सूतपुत्र कर्ण भी हमारे पक्ष के प्रमुख योद्धाओं के साथ वड़ी जल्दी से आपकी ओर दौड़े चले आ रहे हैं और भयंकर दांतों से भरे आपके भयानक मुंह के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। कुछ के सिर कुचले गए हैं और उस अवस्था में आपके दांतों के बीच फंसे हुए दिखाई देते हैं ।।२६-२७।।

यथा नदीनां बहवः अम्बु-वेगाः # समुद्रम् एव अभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तव अमी नरलोक-वीराः # विशन्ति वक्त्राणि अभि-विज्वलन्ति।।२८।।

अनुवादः- जिस प्रकार सभी नदियों का जल चारों ओर से दौड़कर उत्ताल समुद्र में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ये सब शूरवीर आपके अग्निमय मुख में घुसे जाते हैं।।२८।।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा # विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथा एव नाशाय विशन्ति लोकाः # तव अपि वक्त्राणि समृद्ध-वेगाः।।२९।।

अनुवादः- जैसे पतंगा मरने के लिये जलती हुई आग में प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग मरने के लिये आपके जलते हुए मुंह में झपटते हैं।।२९।।

व्याख्याः- ऊपर के लगातार दो श्लोकों में अर्जुन युद्ध के मैदान में उपस्थित सभी योद्धाओं को भगवान् के जलते हुए मुख में प्रवेश करने के लिए भागते हुए देखते हैं। यहाँ वे सभी योद्धाओं को दो समूहों में विभाजित करते हैं और उनके लिए दो प्रकार की उपमाओं का उपयोग करते हैं। जैसे नदियों का विशाल धारा समुद्र में समा जाता है उसी तरह एक प्रकार का योद्धा भगवान् के मुख में प्रवेश कर रहा है और दूसरे प्रकार का योद्धा भगवान् के जलते हुए मुख में भयानक बल के साथ प्रवेश कर रहा है, जैसे पतंगा जलती हुई आग से आकर्षित होते हैं और अज्ञानता से मरने के लिये आग में कूद

जाते हैं। प्रथम श्रेणी के योद्धा ही सच्चे योद्धा होते हैं। वे युद्ध का पूर्णतः समर्थन नहीं करते। वे जीवन के अंत में परम भगवान् से मिलने को अपना परम सौभाग्य मानते हैं। जैसे नदी का एकमात्र लक्ष्य है समुद्र में मिल जाना और उसकी गोद में सदा के लिए विलीन हो जाना, वही नदी के जीवन का परम सार्थकता है, वही उनका परम सुख है, यह मिलन ही उसके जीवन का एकमात्र स्वप्न है। इसी प्रकार कौरव पक्ष के भीष्म, द्रोण आदि योद्धा युद्ध में वीरगति को प्राप्त करने के बाद परमेश्वर से मिलना चाहते थे। लेकिन कई अन्य योद्धा कीड़ों की तरह होते हैं। आग के चमकीले रंग से आकर्षित होकर कीट उसकी ओर दौड़ते हैं और मर जाते हैं। ठीक उसी प्रकार कौरव पक्ष के अन्य योद्धा बिना किसी आदर्श के असत् इरादे से व्यक्तिगत लाभ के लिए युद्ध के मैदान में इकट्ठे हुए हैं। उन्हें युद्ध में अपने प्राणों की आहुति देने का कोई श्रेय नहीं है। इसलिए इनकी तुलना शलभों से की गई है। लेकिन भीष्म-द्रोणदि शूरवीरों की तुलना समुद्र से बंधी नदी से की गई है क्योंकि नदी के प्रवाह की सफलता समुद्र से मिलन में है, इसलिए इन शूरवीरों का परमेश्वर के साथ मिलन ही जीवन का परम वांछित मोक्ष है।।२९।।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् # लोकान् समग्रान् वदनैः ज्वलद्भिः।
तेजोभिः आपूर्य जगत् समग्रं # भासः तव उग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

अनुवादः- हे विष्णो! आप अपने प्रज्वलित मुख से सब मनुष्यों को भस्म कर रहे हैं, और सर्वत्र अपनी जीभ से चाट रहे हैं और सारे संसार को अपनी तेज किरणों से भर देते हैं, और उसे दग्ध कर रहे हैं।।३०।।

आख्याहि मे को भवान् उग्ररूपो # नमः अस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुम् इच्छामि भवन्तम् आद्यं # न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

अनुवाद:- हे उग्ररूप! मुझे वतलाइये आप कौन हैं। हे देववर! आपको नमस्कार हो, आप मुझ पर प्रसन्न होइये। हे आदिपुरुष! आपको जानना चाहता हूँ । मुझे समझ नहीं आ रहा है कि आप अब किस काम में लगे हैं।।३१।।

व्याख्या :- अर्जुन बचपन से ही कृष्ण के मोहन मूर्ति, परम सौम्य दिव्यदर्शन रूप को देखा करते थे। वे उनके सभी कार्यों में निरंतर सहयोगी थे। इस अपूर्व देवदर्शन सखा का शरीर अन्य पांच ज्ञात व्यक्तियों के समान है। किंतु आज अर्जुन अपने अपूर्व देवदर्शन सखा की ऐसी भयानक छवि देखकर एकदम व्याकुल हो उठे। उन्हें कोई संदेह नहीं है कि यह विशाल शरीर वाला व्यक्ति उनका मित्र श्रीकृष्ण ही हैं। लेकिन कृष्ण का यह रूप उनके लिए बिलकुल अनजाना है! लंबे समय तक श्रीकृष्ण की सलाह उनके लिए एक अनमोल रत्न रही। लेकिन आज उनका भयानक रूप देखकर वह डर गये। उन्हें यह जरा भी समझ नहीं आ रहा है कि उनके मित्र श्रीकृष्ण इस विकट रूप धारण कर क्या करना चाह रहे हैं। इसलिए उन्होंने प्रचंड भयातुर होकर श्रीकृष्ण से विनम्रतापूर्वक पूछा कि वे इस भयानक रूप को धारण करके क्या करना चाहते हैं।।३१।।

श्रीभगवान् उवाच

कालः अस्मि लोकक्षयकृतं प्रवृद्धो # लोकान् समाहर्तुम् इह प्रवृत्तः।
ऋते अपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे # ये अवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

अनुवाद:- श्रीभगवान् ने कहा- मैं लोकों का नाश करने वाला घोर काल

हूँ। मैं अब लोगों को संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। विपक्ष के सभी योद्धा, भले ही आप युद्ध न करें, मारे जाएंगे।।३२।।

तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ यशो लभस्व # जित्वा शत्रुन् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मया एव एते निहताः पूर्वम् एव # निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

अनुवादः- इसलिए उठो, अपने शत्रुओं को जीतो और सफलता प्राप्त करो और एक समृद्ध राज्य का आनंद लो। हे अर्जुन! मैं उन्हें पहले ही मार चुका हूँ। अब तुम (उन्हें युद्ध में मारकर) निमित्तमात्र बनो।।३३।।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च # कर्णं तथा अन्यान् अपि योधवीरान्।
मया हतान् त्वं जहि मा व्यथिष्ठा # युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

अनुवादः- द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य पराक्रमी योद्धाओं को मैं पहले ही मार चुका हूँ। तुम फिर से युद्ध में अपने मृत शत्रुओं को मार डालो, भय मत करो, तुम युद्ध जीत जाओगे। तुम लड़ो।।३४।।

संजय उवाच

एतत् श्रुत्वा वचनं केशवस्य # कृताञ्जलिः वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एव आह कृष्णं # सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

अनुवादः- संजय ने कहा- केशव के वचन सुनकर अर्जुन काँप उठे और उन्होंने अपने हाथ जोड़कर डरते-डरते कृष्ण को प्रणाम किया और फिर गद्गद स्वर में कहने लगे - ।।३५।।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषिकेश तव प्रकीर्त्या # जगत् प्रहृष्यति अनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति # सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः।।३६।।

अनुवादः- अर्जुन ने कहा- हे हृषिकेश! यथोचित रूप से आपका प्रतापी

कीर्तन सुनकर सारा संसार आनन्दित हो रहा है और आपसे अनुरक्त हो रहा है। राक्षस लोग डर के मारे दूर दूर भाग रहे हैं और सारे सिद्धों आपको दण्डवत कर रहे हैं।।३६।।

कस्मात् च ते न नमेरन् महात्मन् # गरीयसे ब्रह्मणः अपि आदि-कर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास # त्वम् अक्षरं सत्-असत् तत् परं यत्।।३७।।

अनुवादः- हे महात्मन! हे अनंत! हे देवेश! हे जगन्निवास (संसार का धाम अर्थात् शरण)! आप ब्रह्मा से भी अधिक पूज्य हैं, आप ही आदिपुरुष हैं । वे आपको क्यों न नमस्कार करें? आप अविनाशी परब्रह्म हैं जो सत् अर्थात् प्रकट जगत् और असत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति और उन दोनों से परे हैं।।३७।।

व्याख्याः- इस श्लोक में अर्जुन कहते हैं कि भगवान् कृष्ण अक्षर अर्थात् उनका कभी क्षय नहीं होता, नाश नहीं होता है और वह कूटस्थ अर्थात् सदैव अपरिवर्तनशील, अविनाशी हैं और सत् अर्थात् प्रकट भौतिक संसार जिसे प्रकृति का कार्य कहा जाता है तथा असत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति अर्थात् जो इस व्यक्त जगत् का कारण कहा जाता है एवं सत् और असत् अर्थात् कार्य और कारण दोनों से ही परे है। शंकराचार्य ने अपने गीता भाष्य में सत् और असत् किसे कहते हैं इसकी स्पष्ट व्याख्या की है- ''किं तत्, सद् असद् बिद्यमानम् असत् च यत्र नास्ति इति बुद्धिः अर्थात् जो विद्यमान है, वह वस्तु सत् है और जिसका विद्यमानता नहीं है, वह असत् है। भगवान् कृष्ण स्वयं श्रीगीता में कई स्थानों पर कहते हैं कि वे इस भौतिक संसार को जन्म देने वाली प्रकृति के गर्भ में सृष्टि का बीज बोते हैं जिसके फलस्वरूप यह भौतिक संसार उत्पन्न होता है। लेकिन क्योंकि उनके हृदय में कर्तापन का कोई भाव नहीं है, वे इस भौतिक संसार से कोई बंधन नहीं बनाते है। इसलिए, यद्यपि वे इस भौतिक संसार के निर्माता हैं, वे इससे बहुत ऊपर हैं। फिर वे उनका

परााशक्ति यानी जीव जगत् की रचना के लिए अपनी अपराशक्ति यानी अव्यक्त प्रकृति के गर्भ में सृष्टि का बीज रोपण किये, जिसके फलस्वरूप यह प्रकट जीव जगत् उत्पन्न हुआ, उस चेतन संसार से भी वे बहुत परे हैं। ईश्वर और जीव में यही अंतर है। जब कोई जीव किसी चीज के लिए थोड़ा सा कुछ करता है, तो वह उससे गहरे बंधन में जुड़ जाता है और उसमें अहंकार का एक बड़ा भाव काम करने लगता है। जीव जन्म से पूर्व असत् अर्थात् अव्यक्त अर्थात् निराकार की अवस्था में होता है और जन्म के फलस्वरूप सत् अर्थात् प्रकट अर्थात् आकारयुक्त हो जाता है और मृत्यु के पश्चात पुन: असत् अर्थात् अव्यक्त अर्थात् निराकार हो जाता है। भगवान् ऐसा नहीं हैं। उन्हे जीव की तरह सत् अर्थात् व्यक्त अथवा असत् अर्थात् अव्यक्त अर्थात् निराकार अथवा जीव के समान सत् तथा असत् अर्थात् साकार तथा निराकार दोनों की उपाधि से विभूषित नहीं किया जा सकता। उन्हे आदिपुरुष यानी प्रथम आत्मा कहा जाता है। उनसे पहले कोई और नहीं था। वास्तव में उन्हीं के बाद इस सृष्टि की रचना हुई अर्थात् उन्ही के द्वारा इस संसार की रचना और विकास हुआ। उनका जन्म एक जीव की तरह नहीं हुआ था। वास्तव में जीव जन्म से ही आकार लेता है। तो जो पैदा नहीं हुआ वह कैसे साकार बनेगा? तो वे साकार नहीं है। फिर गीता में कहा गया है कि जीव जन्म से पहले निराकार अवस्था में होते हैं और जन्म के बाद वे आकार को प्राप्त करते हैं और मृत्यु के बाद वे फिर से निराकार अवस्था को प्राप्त करते हैं। लेकिन परमपुरुष भगवान् का जीवों की तरह नाश नहीं होते हैं। फिर जिसका नाश नहीं होता अर्थात् जो अविनाशी है, वह अपनी सत् अर्थात् साकार अवस्था को खोकर निराकार अवस्था को कैसे प्राप्त कर सकता है? तो वे सत्, असत् या सदसत् इन सभी मामलों से परे हैं। तो वे न तो सत् हैं, न असत् हैं और

न ही सदसत् ये दोनों गुणवाला हैं। मानव चेतना में वे सत् यानी साकार हैं, मानव चेतना में वे असत् यानी निराकार हैं। लेकिन वास्तव में वे न तो साकार हैं, निराकार हैं और न ही साकार-निराकार ये दोनों गुणवाला हैं। वे इन सभी उपाधियों से परे हैं।

लेकिन ऐसा कहने पर एक सवाल जरूर उठ सकता है। ऐसा लग सकता है कि भगवान् श्रीगीता में कहते हैं कि जब पृथ्वी अधर्म, अन्याय की उत्पत्ति और धर्म की हानि में फंस जाता है तो वे दुनिया में बार–बार अवतार लेते हैं। वास्तव में, हमने उन्हें कंस की कारागार में जन्म लेते, मक्खन चुराते, वृन्दावन के गोठमें गायों के झुंड में घूमते, कंस, शिशुपाल जैसे अत्याचारी राजाओं के पापों का दंड देते हुए और पवित्र ब्रजगोपिनियों के साथ परम पवित्र रासलीला में डुबकी लगाते देखा है। ऐसे में उन्हे साकार रूप में आना पड़ा और उनके काम के अंत में, हमने उन्हे एक जीव की तरह देहांतरण होते देखा जैसा कि हमने श्रीमद्भागवत-महापुराण में देखा, एक ब्याधके द्वारा शर से विद्ध होनेके कारण उनका देहांतरण हो गया था। फिर हमने उनका जन्म, मरण, साकार, निराकार सब प्रकार की अवस्थाओं चर्म चक्षु से देखा है। तो यह कैसे कहा जा सकता है कि वे न सत् यानी साकार अथवा न असत् यानी निराकार हैं? वास्तव में यह बाजीगर का खेल है, हमारी मायावी आंखों में मरीचिका जैसी भ्रमदर्शन है। वह अंतरिक्ष में तैरती हुई वाष्प की तरह है। ये अनंत वाष्प के कण अंतरिक्ष में स्वतंत्र रूप से विचरण करते हैं। तब उनका कोई आकार नहीं होता। परंतु संसार को जब भी उसकी आवश्यकता होती है, वह निराकार वाष्प वारि का रूप धारण करके इस धरित्रि पर उतरती है और जब धरित्री की प्यास बुझ जाती है, तो वह पुनः उसी वाष्प का रूप धारण करके अंतरिक्ष पर लौट जाती है। जल न कभी पैदा होता है और न

कभी नाश होता है। वह वाष्प के रूप में अस्तित्व में था, और जब पृथ्वी की आवश्यकता समाप्त हो गई, तो उसने अपना पूर्व रूप धारण किया और अंतरिक्ष की गोद में लौट आया। जल का रूप उसका वास्तविक रूप नहीं है, उसका वास्तविक रूप अदृश्य वाष्प रूप है। जिस वृक्ष को उसने जीवन दिया है, वह एक दिन नष्ट हो जाएगा। लेकिन जल कभी नष्ट नहीं होता, केवल रूप बदलता है। पानी को गर्म करके या धूल से ढक कर नष्ट नहीं किया जा सकता है। फलस्वरूप वह अपने जलमय शरीर को त्याग देता है और अनंत काल तक वाष्प के रूप में बना रहता है। पानी के रूप में जो भाप उतरती है, वह उसका नया जन्म नहीं है और न ही यह उसकी मृत्यु है जब वह सूखकर गायब हो जाती है। भगवान् के जन्म और मृत्यु की बात भी इसी प्रकार की है। वह सृष्टि के पूर्व से परमात्मा के रूप में मौजूद हैं। युगों-युगों से वे स्वयं मछली, कूर्म, वराह, कभी राम, कभी अपने रूप के दिव्य प्रकाश द्वारा यमुना नदी के दोनों तटों को आच्छादित कर ब्रजदुलाल के रूप में इस संसार में अवतरित होते हैं। फिर, काम के अंत में, परमेश्वर का रूप धारण करके, वे अपने वैकुंठधाम लौट जाते हैं और जाने से पहले, वे इस मिट्टी की दुनिया को अपने माया के माध्यम से मानव शरीर के अनुरूप अपनी कुछ दिव्य लीलाओं को दिखाते हैं।।३७।।

त्वम् आदिदेवः पुरुषः पुराणः # त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ता असि वेद्यं च परं च धाम # त्वया ततं विश्वम् अनन्तरूप।।३८।।

अनुवादः- आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप इस संसार के अंतिम शरण हैं, आप सब कुछ जानते हैं और आप सभी को जानने के योग्य

हैं और आप सभी के सर्वश्रेष्ठ अंतिम शरण हैं। हे अनंतरूप ! आप संपूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त हैं।।३८।।

वायुः यमः अग्निः वरुणः शशाङ्कः # प्रजापतिः त्वं प्रपितामहः च।
नमो नमस्ते अस्तु सहस्रकृत्वः # पुनश्च भूयः अपि नमो नमस्ते।।३९।।

अनुवादः- आप वायु, यम, अग्नि, वरुण और चंद्र सभी हैं। आप प्रजापतिः हैं, आप पितामह ब्रह्मा हैं, आप ब्रह्मा के पिता हैं। आपको कोटि-कोटि प्रणाम, पुनः प्रणाम, फिर भी प्रणाम।।३९।।

नमः पुरस्तात् अथ पृष्ठतः ते # नमः अस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्त-वीर्य अमित-वित्रमः त्वं # सर्वं समाप्नोषि ततः असि सर्वः।।४०।।

अनुवादः- आपके आगे नमस्कार, पीछे नमस्कार, चारों ओर नमस्कार है। आपकी शक्ति असीम है, आपका पराक्रम भी अपरिमित है। आप सब संसार को व्याप्त किये हुए हैं। इसलिए इस ब्रह्मांड में आप ही सर्वरूप हैं।।४०।।

सखा इति मत्वा प्रसभं यत् उक्तं # हे कृष्ण हे यादव हे सखा इति।
अजानता महिमानं तव इदं # मया प्रमादात् प्रणयेन वा अपि।।४१।।

(यौगिक श्लोक होने के कारण इस श्लोक का अर्थ प्रकट करने के लिए 'तत् क्षमाये' अंश अगले श्लोक से लिया गया है)।

अनुवादः- आपकी ऐसी महिमा के बारे में मेरी अज्ञानता के कारण अज्ञानवश या प्रेमवश आपको अपना मित्र मानकर हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे!' यह सब मैंने आपको अविनयपूर्वक कहा (मैं इन सबके लिए आपसे क्षमा मागता हूँ) ।।४१।।

यत् च अवहासार्थं असत्कृत: असि # विहार-शय्या-आसन-भोजनेषु।
एक: अथवा अपि अच्युत तत समक्षं # तत् क्षामये त्वाम् अहम् अप्रमेयम्।।४२।।

अनुवाद:- हे अच्युत! आहार, विहार, निद्रा, आसन के समय उपहास करके अकेले में या लोगों के सामने मेरे द्वारा जिस प्रकार से आपका अपमान किया गया है, वह सब अपराध के लिए अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिंत्य प्रभाववाले विराट् पुरुष आपसे मैं क्षमा माँगता हूँ।।४२।।

पिता असि लोकस्य चराचरस्य # त्वम् अस्य पूज्यश्च गुरु: गरीयान्।
न त्वत् सम: अस्ति अभ्यधिक: कुत: अन्य: # लोकत्रये अपि अप्रतिमप्रभाव।।४३।।

अनुवाद:- हे अतुलनीय प्रभावशाली! आप चराचर लोक के पिता और परमतम पूजनीय हैं, आप गुरु और गुरु-श्रेष्ठ हैं। त्रिलोक में आपके तुल्य कोई नहीं, आपसे बढ़कर दूसरा कहाँ होगा? ।।४३।।

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं # प्रसादये त्वाम् अहम् ईशम् ईड्यम्।
पिता इव पुत्रस्य सखा इव सख्यु: # प्रिय: प्रियाय अर्हसि देव सोढुम्।।४४।।

अनुवाद:- हे देव! आप स्तुति करने योग्य परमेश्वर हैं। इसलिए, मैं आपको प्रणाम करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझ पर प्रसन्न हों। जैसे पिता पुत्र का अपराध क्षमा कर सकता है, मित्र मित्र का अपराध क्षमा कर सकता है, जैसे भक्त का अपराध भगवान् क्षमा कर सकते हैं, वैसे ही आप भी मेरे अपराध क्षमा कर सकते हैं।।४४।।

व्याख्या:- मूल श्लोक में प्रयुक्त 'प्रियायार्हसि' (प्रियाय अर्हसि) पद के संधि और अर्थ के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। विद्वानों के एक वर्ग ने 'प्रियायार्हसि' पद को संधि-विच्छेद किया है - 'प्रियाया: अर्हसि' और

एक अन्य वर्ग संधि-विच्छेद करना चाहता है - 'प्रियाय अर्हसि'। अब यदि हम 'प्रियायार्हसि' पद को संधि-विच्छेद करके 'प्रियाया: अर्हसि' लिख दें तो सबसे पहले तो यह व्याकरण के नियमों का उल्लंघन होगा। दूसरा, 'प्रियाया:' पद 'प्रिया' शब्द का षष्ठी विभक्ति, एकवचन का रूप है जिसका अर्थ है – पत्नी का। फिर श्लोक में 'प्रिय: प्रियाया: अर्हसि' का अर्थ होगा कि जैसे पति पत्नी के अपराध को क्षमा कर सकता है। लेकिन श्रीमद्भगवद्गीता जैसे पवित्र ग्रंथ के मामले में इस तरह की व्याख्या सही नहीं है। प्रथम तो उस स्थिति में उपमा की उत्कृष्टता की निरंतरता भंग हो जाती है क्योंकि व्यासदेव को दो उत्कृष्ट उपमा जैसे पिता-पुत्र, दो मित्र आदि देना और फिर पति-पत्नी की उपमा देना स्वीकार्य नहीं है। दूसरे, श्रीमद्भगवद्गीता में सर्वत्र 'प्रिय' शब्द का प्रयोग भगवान् के भक्त के अर्थ में किया गया है। उदाहरण के लिए श्लोक १२/१४, ७/१७, १८/६५। अत: यहाँ 'प्रियायार्हसि' पद का उचित संधि-विच्छेद 'प्रियाय अर्हसि' होगा, जिसका अर्थ होगा - 'जैसा कि भगवान् भक्त के अपराधों को क्षमा करते हैं' आदि। अर्जुन जानबूझकर खुद को 'प्रिय' शब्द से भगवान् कृष्ण के भक्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। 'प्रियायार्हसि' पद की यह व्याख्या श्रद्धेय बाल गंगाधर तिलक महाशय ने भी की है।।४४।।

अदृष्टपूर्वं हृषित: अस्मि दृष्ट्वा # भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तद् एव मे दर्शय देव रूपं # प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

अनुवाद:- हे देव! मैंने आज जो देखा वह पहले कभी नहीं देखा। आपके इस तेजस्वी रूप को देखकर मेरा हृदय तो हर्षित होता ही है, पर साथ ही मेरा मन घोर भय से व्याकुल हो उठता है। इसलिए हे देवेश! हे जगन्निवास! आप मुझे अपना पूर्व रूप दिखलाइये, आप प्रसन्न होइये ।।४५।।

व्याख्या :– यह दूसरी बार है जब श्रीकृष्ण से इस प्रकार का अनुरोध किया गया है। कंस की कारागार में कृष्ण के जन्म के समय उनके पिता वसुदेव ने कृष्ण से यही अनुरोध किया था। कारागार में दिव्य रूप से अवतार लेने वाले भगवान् कृष्ण नीचे के दाहिने हाथ में गदा, ऊपर वाले दाहिने हाथ में शंख, ऊपर वाले बाएँ हाथ में चक्र और नीचे वाले बाएँ हाथ में कमल (वासुदेवो गदाशङ्खचक्रपद्मधरो मतः – सिद्धार्थसंहिता) लिए हुए अनंत प्रकाश से परिपूर्ण चतुर्भुज रूप में जब प्रकट हुए तब उनके सुंदर रूप को देखकर उनके पिता वसुदेव एक ओर हर्षित भी थे और भयभीत भी। इसलिए, उन्होंने अपने पुत्र से अपने अलौकिक रूप को संवरण करने और एक साधारण मानव बच्चे का रूप धारण करने का अनुरोध किया।।४५।।

किरीटिनं गदिनं चक्र-हस्तम् # इच्छामि त्वां द्रष्टुम् अहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन # सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

अनुवादः– मैं आपको उसी मुकुटधारी, गदाधारी, सुदर्शन चक्रधारी रूप में देखना चाहता हूँ। हे सहस्रवाहो! हे विश्वरूप! आप पहले की तरह अपने चतुर्भुज रूप में प्रकट होइये।।४६।।

श्रीभगवान् उवाच

मया प्रसन्नेन तव अर्जुन इदं # रूपं परं दर्शितम् आत्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वम् अनन्तम् आद्यं # यत् मे त्वत् अन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

अनुवादः– श्रीभगवान् ने कहा- हे अर्जुन! तुम पर प्रसन्न होकर मैं अपनी योगमाया शक्ति से यह परम तेजोमय, असीम, आदि स्वरूप, मेरा श्रेष्ठ विश्वरूप दिखलाया है जो तुमके अलावा किसी ने पहले नहीं देखा था।।४७।।

न वेद-यज्ञ-अध्ययनैः न दानैः न च क्रियाभिः न तपोभिः उग्रैः।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वद् अन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

अनुवादः- हे कुरुकुल श्रेष्ठ! वेदों, यज्ञों, विद्याओं, दानों, कर्मों, घोर तपस्या आदि की सहायता के बिना जैसे तुम मेरे इस अलौकिक रूप को देखा, मनुष्यलोक में तुमसे भिन्न और कोई भी मेरे उस रूप को इस तरह नहीं देख सकते।।४८।।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरम् ईदृक् मम इदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनः त्वं तत् एव मे रूपम् इदं प्रपश्य।।४९।।

अनुवादः- मेरे यह घोर रूप देखकर हृदय में किसी प्रकार का भय या मोह उत्पन्न न हो। निर्भय और प्रसन्नचित्त होकर मेरे पूर्व रूप को देखो।।४९।।

संजय उवाच

इति अर्जुनं वासुदेवः तथा उक्ता # स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतम् एनं # भूत्वा पुनः सौम्यवपुः महात्मा।।५०।।

अनुवादः- संजय ने कहा-अर्जुन से ऐसा कहकर वासुदेव ने फिर से अपना पहले वाला चतुर्भुज रूप दिखाया और महान आत्मा श्रीकृष्ण ने फिर से द्विभुज मोहन मूर्ति धारण की और भयभीत अर्जुन को पुनः आश्वस्त किया।।५०।।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वा इदं मानुषं रूपं # तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीम् अस्मि संवृत्तः # सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

अनुवादः- अर्जुन ने कहा- हे जनार्दन! मनुष्य के आकार की आपकी

यह मनमोहन मूर्ति देखकर अब मेरे मन में स्थिरता आ गई और मैं अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ।।५१।।

श्रीभगवान् उवाच

सुदुर्दर्शम् इदं रूपं # दृष्टवान् असि यत् मम।
देवा अपि अस्य रूपस्य # नित्यं दर्शन-काक्षिणः।।५२।।

अनुवादः- श्रीभगवान् ने कहा- मेरा ऐसा दुर्लभ दर्शन जो रूप तुमने देखा है, देवता भी उस रूप को देखने की सदा आकांक्षा करते हैं।।५२।।

न अहं वेदैः न तपसा # न दानेन न च इज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं # दृष्टवान् असि मां यथा।।५३।।

अनुवादः- तुमने मुझे आज जिस रूप में देखा, वह वेदों से प्राप्त ज्ञान से या तपस्या से या दान से या यज्ञ आदि से और कोई नहीं देख पाता।।५३।।

भक्त्या तु अनन्वया शक्य # अहम् एवंविधः अर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन # प्रवेष्टुं च परंतप।।५४।।

अनुवादः- हे परंतप अर्जुन! किंतु अनन्य भक्ति द्वारा मेरे इस रूप को जाना, देखा और मुझमें समाया जा सकता है।।५४।।

व्याख्या :- भगवान् ने अभी-अभी अर्जुन को उनके जो प्रकृत स्वरूप अर्थात् दिव्य विश्वरूप दिखाया वह अत्यंत दुर्लभ है। बहुत कम मानव उनके इस रूप को देख पाए हैं। भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि उनके इस दुर्लभ रूप को देखने के लिए उनके प्रति अनन्य भक्ति की आवश्यकता है। मनुष्य

कितना भी शास्त्रों के सहारे ज्ञान प्राप्त कर ले, कितना ही तप, साधना, यज्ञ कर ले, यदि उसके हृदय में भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति नहीं है, तो उसे भगवान् का वह रूप देखना कभी संभव नहीं है।

लेकिन ईश्वर की अनन्य भक्ति किसे कहते हैं? ईश्वर की अनन्य भक्ति वह भक्ति है जिसमें भक्त के हृदय में ईश्वर के अतिरिक्त और किसी बात का विचार उत्पन्न नहीं हो सकता और भक्त के हृदय में सभी इंद्रियों द्वारा परमपुरुष भगवान् वासुदेव के अलावा कोई अन्य उपलब्धि नहीं रहती है। इसे अनन्य भक्ति कहा जाता है। भगवान् के उस दिव्य विश्वरूप के दर्शन भगवान् की अनन्य भक्ति के बिना संभव नहीं है। कठोपनिषद में कहा गया है -

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य: तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।
—(१।२।२३)

अर्थात् इस आत्मा को अनेक वेदों में पारंगत होने से अथवा बौद्धिक शक्ति के बल से अथवा अनेक शास्त्रों के श्रवण से प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिन पर वे कृपा करते हैं केवल वे ही उन्हें देख पाते हैं।

लेकिन भगवान् भक्त पर ऐसी कृपा कब करते हैं? जब एक भक्त एकचित्त भक्ति के साथ अपने आप को भगवान् के चरणों में समर्पित करता है और जीवन का परम आश्रय उन्हीं के अभय चरणों में शरण लेता है, उसी क्षण भगवान् उस अनन्यचित्त एकनिष्ठ भक्त पर कृपा करते हैं और फिर भगवान् अपने सच्चे दिव्य स्वरूप को उसके सामने प्रकट करते हैं। अत: भगवान् को प्राप्त करने के लिए केवल उनकी अनन्य भक्ति की ही आवश्यकता है।। ५४।।

मत्-कर्मकृत् मत्-परमो # मद्-भक्तः सङ्ग-वर्जितः।
निर्वैरः सर्भभूतेषु # यः स माम् एति पाण्डव।।५५।।

अनुवादः- हे पाण्डुपुत्र अर्जुन! जो मेरे लिए ही कार्य करता है, मेरे प्रति समर्पितप्राण, मेरे भक्त, सभी वस्तुओं के प्रति आसक्ति से मुक्त है और किसी जीव के प्रति शत्रुता नहीं रखता वह मुझे प्राप्त करता है।।५५।।

।। ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ।।

बारहवाँ अध्याय

भक्तियोग

अर्जुन उवाच

एवं सतत-युक्ताः ये # भक्ताः त्वां पर्युपासते।
ये च अपि अक्षरम् अव्यक्तं # तेषां के योगवित्तमाः ।।१।।

अनुवादः- इस प्रकार जो लोग सदैव भक्तिपूर्वक अपने हृदय और मन को आपके भीतर समर्पित कर आपके मोहनमूर्तिधारी श्यामसुन्दर साकार रूपका पूजा करते हैं और जो लोग अविनाशी निराकार ब्रह्म की पूजा करते हैं उनमें श्रेष्ठ योगी कौन है? ।।१।।

श्रीभगवान् उवाच

मयि आवेश्य मनो ये मां # नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परया उपेताः # ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

अनुवादः- श्रीभगवान् ने कहा- जो मुझमें मन लगाकर अर्थात् अत्यंत श्रद्धापूर्वक मुझमें ही सदा मेरे साथ युक्त होकर मेरा भजन करते हैं, वे मेरा सबसे अच्छा भक्त हैं।।२।।

ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यम् # अव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगम् अचिन्त्यं च # कूटस्थम् अचलं ध्रुवम् ।।३।।
संनियम्य इन्द्रियग्रामं # सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति माम् एव # सर्वभूतहिते रताः।।४।।

अनुवादः- परंतु जो पुरुष इंद्रियों को वश में करता है और हितैषी, मित्र, शत्रु, उदासीन द्वेषी, सम्बन्धी, संत, पापी, सबके प्रति समचित्त अर्थात् सबको एक समान देखने वाला होता है और सभी प्राणियों के कल्याण में रत होकर अनिर्देश्य अर्थात् जिसका स्वभाव, गुण, कर्म निर्धारित नहीं किया जा सकता; अव्यक्त अर्थात् निराकार; सर्वव्यापी अर्थात् जो हर जगह मौजूद है; अचिन्त्य अर्थात् जिसे विचार द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता; कूटस्थ अर्थात् नित्य एकरूप अर्थात् जिसकी बुढ़ापे आदि की भाँति परिवर्तन नहीं होता; अचल अर्थात् स्थिर, नित्य और अक्षर अर्थात् अविनाशी, निर्विकार, निष्क्रिय, निराकार ब्रह्म की उपासना करने वाला है वह निश्चय ही मुझे प्राप्त होता है।।३-४।।

क्लेशः अधिकतरः तेषाम् # अव्यक्त-असक्त-चेतषाम्।
अव्यक्ता हि गतिः दुःखं # देहवद्भिः अवाप्यते ।।५।।

अनुवादः- निराकार ब्रह्म की उपासना करने वालों को सिद्धि प्राप्त करना अधिक कठिन होता है क्योंकि निराकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना में देहाभिमानी अर्थात् शरीरधारी व्यक्ति के लिए सफलता प्राप्त करना अत्यंत कठिन होता है ।।५।।

ये तु सर्वाणि कर्माणि # मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येन एव योगेन # मां ध्यायन्त उपासते।।६।।
तेषाम् अहं समुद्धर्ता # मृत्युसंसार-सागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ # मयि आवेशित-चेतसाम्।।७।।

अनुवादः- हे पार्थ! परंतु जो सभी प्रकार के कर्मों को मुझे समर्पित कर देते हैं और अनन्य मन से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मैं उन भक्तों को शीघ्र ही मृत्यु के सागर से उद्धार कर लेता हूँ ।।७।।

व्याख्या :- यहाँ सातवें श्लोक में भगवान् हमारे पार्थिव संसार की तुलना महासागर से करते हैं। वह महासागर कौन सा है? वह महासागर मृत्यु का समुद्र है। जैसे समुद्र में सर्वत्र जल ही जल रहता है - आप जहां भी देखें, बस अंतहीन जल है। इसी तरह हमारी पार्थिव दुनिया में हर तरफ आर्तनाद सुनाई दे रही हैं - अगर आप अपनी आंखें खोलेंगे तो आपको हर तरफ कोई न कोई जीव की बेबस मौत की चीखें नजर आएगी। वास्तविक दुनिया में, अगर कोई गहरे समुद्र में गिर जाए तो एक अच्छा तैराक जाकर उसे बचा सकता है। परंतु मृत्यु रूपी अदृश्य अनंत पारावार से केवल परम दयालु सच्चिदानंदघन भगवान् कृष्ण ही रक्षा कर सकते हैं। इसके लिए एक भक्त की उसके प्रति एकनिष्ठ अनन्य भक्ति की आवश्यकता होती है।

यहां एक और बात पर चर्चा जरूरी है। हमने देखा कि छठे अध्याय के पांचवें श्लोक में भगवान् भक्त को उपदेश देते हैं - 'उद्धरेत् आत्मना आत्मानम्' अर्थात् भक्त को अपने उद्धार के लिए स्वयं ही प्रयास करना होगा। लेकिन इस श्लोक में हम देखते हैं कि भगवान् कह रहे हैं कि वे भक्त को मृत्यु के सागर से बचाते हैं - 'तेषां अहं समुद्धर्ता'। यहां सामान्य विचार में लोग सोच सकते हैं कि भगवान् अलग-अलग समय पर अलग-अलग बातें कह रहे हैं। लेकिन मामला वह नहीं है। हमें ईश्वर की उपदेश के गूढ़ अर्थ को समझने का प्रयास करना होगा। भगवान् कहना चाहते हैं कि संसार के बंधनों से मुक्ति पाने के लिए, जीव को पहले अपनी ओर से उपयुक्त साधन या प्रयास शुरू करना होगा। भगवान् ने पहले ही कह चुके हैं कि मनुष्य की सिद्धि प्राप्त करने के लिए, यानी संसार के बंधनों को पार करने के लिए दो निष्ठाएं या साधनाएं हैं - एक है निष्काम कर्म-साधन और दूसरी है ज्ञान-साधन। भगवान् की उपदेश का सही अर्थ यह है कि यदि भक्त अपने सभी कार्यों को भगवान् के प्रति समर्पित कर देता है और केवल कर्म-साधन या ज्ञान-साधन में आगे बढ़ने का प्रयास करना शुरू कर देता है, तो जब उपयुक्त समय आएगा, तो भगवान् स्वयं आगे बढ़ेंगे और भक्त को बचाने के लिए उनकी हाथ भक्त के प्रति विस्तार करेंगे जैसे कोई नाव से नदी पार पार करने के लिए एक किनारे से दूसरे

किनारे तक जाता है, तो जब वह दूसरे किनारे पर पहुँचता है, तो किनारे से दूसरा व्यक्ति उसके पास पहुँचता है और उसका हाथ पकड़ लेता है, जिससे वह किनारे पर कीचड़ में न गिरे। बिल्कुल वैसे ही यदि भक्त इस संसार रूपी मृत्यु सागर से छुटकारा पाना चाहता है, तो उसे अपनी क्षमता के अनुसार भगवान् द्वारा निर्देशित दो साधनाओं में से किसी एक में आगे बढ़ना चाहिए ताकि उसकी ओर से संदेश भगवान् तक जा सके – हे प्रभु! हे भगवान्! मैं आ रहा हूँ, आप कृपया मुझे उद्धार करें। तभी भगवान् निश्चित रूप से उसे उद्धार करने के लिए अपना सदैव निर्भय हाथ भक्त की ओर बढ़ाएंगे।।६-७।।

मयि एव मन आधत्स्व # मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मयि एव # अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

अनुवादः- मुझमें मन लगाओ, मुझमें बुद्धि लगाओ, तो देहांतरणके वाद मुझमे निवास करोगे। इसमें कोई संदेह नहीं है।।८।।

अथ चित्तं समाधातुं # न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो # माम् इच्छ आप्तुं धनंजय।।९।।

अनुवादः- हे धनंजय! अतएव यदि तुम अपना मन मुझमें दृढ़तापूर्वक नहीं लगा सकते तो अभ्यासयोग द्वारा अर्थात् निरंतर प्रयास अर्थात् अन्य सब वस्तुओं से मन को हटाकर और निरंतर मुझमें ही एकाग्र होकर मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करो।।९।।

अभ्यासे अपि असमर्थः असि # मत् कर्मपरमो भव।
मदर्थम् अपि कर्माणि # कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्स्यसि।।१०।।

अनुवादः- और यदि अभ्यास से भी मुझे प्राप्त न कर सको तो मेरा मंदिर बनवाना, तुलसीमंच की स्थापना करना, मेरे वचनों को सुनना, कीर्तन करना, पूजन करना, यज्ञ करना आदि सब मेरे प्रति समर्पित कर्म करो। यदि तुम मेरे आनंद के लिए किए गए कर्मों को करोगे तो भी तुम्हें सफलता मिलेगी अर्थात् तुम मुझे प्राप्त करोगे।।१०।।

अथ एतद् अपि असक्तः असि # कर्तुं मद् योगम् आश्रितः।
सर्व-कर्मफल-त्यागं # ततः कुरु यत-आत्मवान्।।११।।

अनुवादः- यदि तुम यह भी न कर सको अर्थात् मेरे आनंद के लिये किये गये कर्म को न कर सको तो अपने आप को पूरी तरह मुझमें समर्पित करके मन को वश में कर लो और सब प्रकार के कर्मों के फल की आसक्ति को त्याग दो, अर्थात् ईश्वर यानी मेरी आज्ञा के अनुसार यथासम्भव कर्म करो और सब कर्मों का भार मुझ पर छोड़ दो यह स्मरण रखते हुए कि उस कर्म के सभी दृश्य या अदृश्य परिणाम ईश्वर के नियंत्रण में हैं, तो तुम मेरी असीम दया को प्राप्त करोगे और मुझे प्राप्त करोगे।।११।।

श्रेयो हि ज्ञानम् अभ्यासात् # ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्म-फल-त्यागः # त्यागात् शान्तिः अनन्तरम्।।१२।।

अनुवादः- अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से कर्मफल की आसक्ति का त्याग श्रेष्ठ है और निश्चय ही त्याग करने पर ही शांति प्राप्त होती है।।१२।।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां # मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः # समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।
संतुष्टः सततं योगी # यत-आत्मा दृढनिश्चयः।
मयि अर्पित-मनोबुद्धिः # यः मद्-भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

अनुवादः- जो सब प्राणियों के प्रति वैर रहित, मैत्री से पूर्ण, करुणामय और सब वस्तुओं के प्रति ममता यानी आसक्ति रहित अर्थात् जिसके हृदय में 'मैं-मैं' का भाव नहीं, अहंकार नहीं, जो सुख और दुःख को समान रूप से देखता है, जो क्षमाशील है, सदा आत्मसंतुष्ट है, जिसका मन हमेशा मेरी भक्ति में डूबा रहता है, जिसकी इंद्रियाँ संयमित हैं, जो मेरे प्रति दृढ़ श्रद्धा रखता है और जो अपना सारा मन और बुद्धि मुझे समर्पित कर देता है वह भक्त मेरा प्रिय है।।१३-१४।।

यस्मात् न उद्विजते लोकः # लोकात् न उद्विजते च यः।
हर्ष-अमर्ष-भय-उद्वेगैः # मुक्तः यः स च मे प्रियः।।१५।।

अनुवादः- जो किसी के लिए उद्वेग का कारण नहीं बनता और किसी अन्य व्यक्ति से उद्वेग प्राप्त नहीं करता है और जो आनंद, द्वेष, भय आदि से मुक्त है, वह मेरा प्रिय भक्त है।।१५।।

अनपेक्षः शुचिः दक्ष # उदासीनो गत-व्यथः।
सर्व-आरम्भ-परित्यागी # यो मद्-भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

अनुवादः- जो अपेक्षा अर्थात् आकांक्षा से रहित है, जिसका तन-मन सब पवित्र है, जो कर्तव्य-पालन में निपुण है, जो लाभ-हानि, सुख-दु:ख, शत्रु और मित्र जैसे किसी भी मामले में किसी का पक्ष नहीं लेना चाहता, जिसके हृदय में कभी किसी विषय में पीड़ा नहीं होती, जो कभी किसी ऐहिक या पारलौकिक विषय में किसी विषय का परिणाम की आकांक्षा नहीं करता, सदैव निष्काम भाव से कर्म करता है, ऐसा भक्त मेरा प्रिय है।।१६।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि # न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभ-अशुभ-परित्यागी # भक्तिमान् यः स मे प्रियः।।१७।।

अनुवादः- जो किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति पर हर्षित नहीं होता, जो किसी से ईर्ष्या नहीं करता, जो अप्रिय वस्तु की प्राप्ति पर कभी शोक नहीं करता, किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं करता, जिसने कर्म करते हुए सभी शुभ यानी पुण्य की इच्छा और अशुभ यानी पाप के भय आदि सभी वस्तुओं का त्याग कर दिया है, जो भक्तियुक्त है, वही मेरा प्रिय भक्त है।।१७।।

व्याख्याः- यहाँ जो प्रिय या अप्रिय वस्तु का उल्लेख है वे सब सांसारिक वस्तुएँ हैं। भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि पत्नी-बच्चे-परिवार-धन जैसी सांसारिक वस्तुएँ अनित्य, दु:खदायी और कर्मबंधन के हेतु हैं। इसलिए सच्चे भक्त के मन में यह सब मिले या न मिले, उसके मन में हर्ष या शोक

नहीं होना चाहिए। वास्तव में, सर्वव्यापी, सबका परम आश्रय भगवान् ही सच्चे भक्त को सबसे प्रिय हैं और भक्त कभी भी भगवान् से अलग नहीं होता है। इसलिए लोगों की दृष्टि में प्रिय सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति या हानि उसे प्रसन्न या परेशान नहीं कर सकती। एक सच्चा भक्त केवल परमेश्वर भगवान् को ही प्राप्त करना चाहता है। परमात्मा को पाने के बाद उसके हृदय में परम शांति व्याप्त हो जाती है। इसलिए उसके हृदय में तुच्छ नश्वर वस्तुओं की इच्छा नहीं होती। वह सभी आजीविकाओं और शारीरिक गतिविधियों जैसे यज्ञ, दान, तपस्या आदि को करने के लिए शास्त्रों द्वारा निर्धारित शुभ कार्य और झूठ, कपट, हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि के पापों को त्याग देता है क्योंकि उन्होंने शुद्ध हृदय से सभी कार्यों को भगवान् को समर्पित कर दिया है। फलस्वरूप वह इन सब कर्मों को करता हुआ प्रतीत होने पर भी उसके लिए कोई पाप या कर्मबंधन नहीं होता।

हम पहले भी कई बार चर्चा कर चुके हैं कि भगवान् ने अपने श्रीश्रीगीता के पंक्तियों में मनुष्य के कल्याण के लिए, उसके जीवन को शत-प्रतिशत शुद्ध, परिष्कृत बनाने के लिए अनमोल उपदेश दी। इस श्लोक में वे कहते हैं कि मनुष्य को सच्चिदानंदघन परमपुरुष की कृपा तभी प्राप्त होगी जब वह अपने मन से शुभ यानी पुण्य कर्मों के कारण अपने दिल में आसक्ति, अहंकार को त्याग देगा और सभी प्रकार के अशुभ यानी पाप कर्मों से परहेज करेगा। क्योंकि मनुष्य के जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष है, लेकिन यदि वह पुण्य कर्म करने से हृदय में उसके प्रति आसक्ति पैदा हो जाती है तो उसके कर्मबंधन बनेंगे और परिणामस्वरूप उसे मृत्यु के बाद फिर से जन्म लेना पड़ेगा क्योंकि आत्मा की मुक्ति तब तक नहीं होती जब तक हृदय के सारे बंधन दूर नहीं हो जाते। फिर पाप करने पर भी मृत्यु के बाद पापी को नहीं बख्शा जाता क्योंकि पाप से भी कर्मबंधन का निर्माण होता है। इसलिए पापी को भी मृत्यु के बाद कोई शरीर ग्रहण करके अपने पापों के प्रायश्चित

के लिए इस संसार में लौटना पड़ता है क्योंकि जब तक उसके सारे पाप नष्ट नहीं हो जाते तब तक उसकी मुक्ति नहीं होती। अतः दोनों को सर्वथा त्याग देना चाहिए- ''पापवत् पुण्यस्य अपि बन्धनहेतुत्वाविशेषाद् उभयपरित्यागी'' इति (रामानुजाचार्य)। यहाँ पुण्य कर्मों को छोड़ने की अभिव्यक्ति द्वारा भगवान् उसके फल के लिए आसक्ति छोड़ने के बारे में कहते हैं। उन्होंने मनुष्य से कहा - हमेशा अच्छे कर्मों का व्रत लो लेकिन उन अच्छे कामों को करने के लिए अपने दिल में कभी भी अहंकार महसूस मत करो और पाप कर्मों से हमेशा दूर रहो। यह गीता के महान उपदेशों में से एक है।।१७।।

समः शत्रौ च मित्रे च # तथा मान-अपमानयोः।
शीत-उष्ण-सुख-दुःखेषु # समः सङ्ग-विवर्जितः।।१८।।
तुल्य-निन्दा-स्तुतिः मौनी # संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिः # भक्तिमान् मे प्रियो नरः।। १९।।

अनुवादः- जो शत्रु और मित्र को, मान और अपमान को, सर्दी-गर्मी-सुख-दुख को समान दृष्टि से देखता है, जो सभी मामलों से अनासक्त है, जो मौनी, जो स्तुति और निंदा को समान मानता है, जो स्वल्प-भाषी है और जो जो कुछ भी प्राप्त कर लेता है उसी में संतुष्ट रहता है, जो रहने के स्थान में ममता और आसक्तिसे रहित है, जिसका बुद्धि अचंचल है और जिसका हृदय श्रद्धा से भरा है ऐसा भक्त मेरा प्रिय है।।१८-१९।।

ये तु धर्म-अमृतम् इदं # यथा उक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत् परमा # भक्ताः ते अतीव मे प्रियाः।।२०।।

अनुवाद :- परंतु जो, पहले कहे हूए, इस धर्ममय अमृत का अनुष्ठान करते हैं वे श्रद्धायुक्त मेरे परायण भक्त मुझे अतीव प्रिय हैं।।२०।।

।। बारहवाँ अध्याय समाप्त ।।

तेरहवाँ अध्याय

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव # क्षेत्रम् क्षेत्रज्ञम् एव च।
एतत् वेदितुम् इच्छामि # ज्ञानं ज्ञेयं केशव।।

अर्थ :- वेदितुम् = जानना; ज्ञेयं = जानने योग्य विषय

अनुवाद:- अर्जुन ने कहा - हे केशव! मैं प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय के बारे में जानना चाहता हूँ।।

व्याख्या:- यहाँ इस श्लोक की एक विशेष चर्चा करना आवश्यक है। श्रीमद् शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, श्रीधराचार्य आदि प्रमुख टीकाकारों ने इस श्लोक को अपनी टीकाओं में प्रस्तुत नहीं किया है। इससे ऐसा लगता है कि शायद यह श्लोक मूल गीता में नहीं था, बाद में किसी ने पिछले अध्याय और बाद के अध्यायों के बीच संबंध स्थापित करने के लिए इस श्लोक को श्रीमद्भगवद्गीता में शामिल किया। गीता के प्रसिद्ध टीकाकार पूज्य श्री जगदीशचंद्र घोष महाशय ने इस श्लोक को अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है। आदरणीय बाल गंगाधर तिलक महाशय ने भी अपने 'श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य' या 'कर्मयोग शास्त्र' में इस श्लोक का उल्लेख किया है, लेकिन उनमें से किसी ने भी इस श्लोक को श्रीगीता के ७०० श्लोकों में शामिल नहीं किया। हरिदाससिद्धांतबागीष महाशय ने इस श्लोक को अपने द्वारा संपादित ग्रन्थ

'महाभारत' में भीष्मपर्व से संबंधित श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय के पहले श्लोक के रूप में प्रस्तुत किया है।

भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय में जो ज्ञान की चर्चा शुरू की, वह वास्तव में उस अध्याय में समाप्त नहीं हुई। वास्तव में, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुष और ज्ञान और ज्ञेय के उचित ज्ञान के बिना परमेश्वर परमपुरुष भगवान् के पूर्ण स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। हमने देखा है कि भगवान् ने बारहवें अध्याय में अर्जुन को बताया था कि मनुष्य सभी कर्मों के फल के प्रति आसक्ति को त्यागकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि भगवद्भक्तिसे भी लोगों को मुक्ति मिलती है। परिणामस्वरूप, अर्जुन के मन में स्वाभाविक रूप से एक संदेह झाँकने लगा कि क्या ज्ञान प्राप्त किए बिना ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि इतने लंबे समय तक भगवान् श्रीकृष्ण से इसके बारे में इतनी सारी सलाह सुनने के बाद, अर्जुनका दिल कम से कम कुछ हद तक पारमार्थिक ज्ञान के बारे में प्रबुद्ध हो गया था। परंतु हम पहले ही देख चुके हैं कि भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में कभी भी अर्जुन को कोई स्वत: उपदेश नहीं दिया। भगवान् ने अर्जुन को केवल उन्हीं विषयों के बारे में उपदेश दी जिनके बारे में उन्होंने जानने की जिज्ञासा व्यक्त की। अब तक अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जो भी प्रश्न पूछे थे, उन सभीका उत्तर श्रीकृष्ण ने बारहवें अध्याय तक पूरा कर दिया था। लेकिन फिर भी अर्जुन का हृदय पारमार्थिक ज्ञान के प्रकाश से पूरी तरह प्रकाशित नहीं हुआ था। अत: यदि अर्जुन ने अपने हृदय में उठ रहे प्रश्न को भगवान् के समक्ष व्यक्त न किया होता तो तेरहवें अध्याय से लेकर अठारहवें अध्याय तक भगवान् ने अर्जुन को जो उपदेश दिये थे, उनका प्रवाह बाधित हो गया होता। अत: मैं इस श्लोक को श्रीमद्भगवद्गीता के मुख्य श्लोक में सम्मिलित करना ही उचित समझती हूँ। इस संबंध में, आदरणीय बाल गंगाधर तिलक महाशय ने राय दी कि श्रीमद्भगवद्गीता के सभी संस्करणों

में तेरहवें अध्याय की शुरुआत में इस श्लोक को शामिल किया जाना चाहिए - "In every edition of the Gita, the following stanza (यानी 'प्रकृतिं पुरुषं चैव' इत्यादि जिसे मैंने इस अध्याय की शुरुआत में शामिल की) is to be found in the beginning of Chapter XIII". इसलिए मैंने भी इस श्लोक को तेरहवें अध्याय के आरंभ में प्रस्तुत किया है लेकिन इस श्लोक की कोई क्रम संख्या नहीं दी क्योंकि मैं नहीं चाहती कि जिस बहुप्रचारित दृष्टिकोण से गीता के श्लोकों की कुल संख्या सात सौ है, उस पर कोई प्रभाव पड़े ।

श्रीभगवान् उवाच

इदं शरीरं कौन्तेय # क्षेत्रम् इति अभिधीयते।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः # क्षेत्रज्ञ इति तद् विदः।।१।।

अनुवादः- हे कौन्तेय! इस शरीर को क्षेत्र कहते है और जो इस रूप में शरीर को जानता है उसे तत्त्वज्ञ क्षेत्रज्ञ कहते है।।१।।

व्याख्याः- यहाँ 'क्षेत्र' शब्द का अर्थ शरीर है और 'क्षेत्रज्ञ' वह है जो इस शरीर में रहता है अर्थात् जीवात्मा । जैसे संगीत को अच्छी तरह जानने वाले को संगीतज्ञ कहा जाता है, वैसे ही शरीर को अच्छी तरह से जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। आत्मा शरीर को उसके हाथों और पैरों आदि विभिन्न रूपों में और संपूर्ण शरीर को जानती है, इसलिए उसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। साधक रामप्रसाद ने अपने गीत में शरीर को क्षेत्र के रूप में बहुत ही सुंदर ढंग से वर्णित किया है- 'मनरे कृषिकाज जान ना/एमन मानब जमिन रइल पतित' इत्यादि (हे मन! आप नहीं जानते कि खेती कैसे की जाती है क्योंकि मानव जीवनरूप इतना अच्छा क्षेत्र बंजर रह गया है)। वास्तव में आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। यहाँ क्षेत्रज्ञ शब्द स्वयं भगवान्

कृष्ण को संदर्भित करता है। ब्रह्मा से लेकर स्तंभ तक सभी क्षेत्र अर्थात् शरीर में जो चेतन आत्मा क्षेत्रज्ञ के रूप में निवास करता है वे सभी ईश्वर के अंश हैं। इसलिए वे उससे भिन्न नहीं हैं। परमपुरुष भगवान् को जीवात्मा के रूप में विभिन्न रूपों में समझा जाता है।।१।।

क्षेत्रज्ञं च अपि मां विद्धि # सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः ज्ञानं # यत् तत् ज्ञानं मतं मम।।२।।

अनुवादः- हे भारत! ब्रह्माण्ड में जितने क्षेत्र हैं अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तंभों तक जितने शरीर हैं, मुझे उन सबका क्षेत्रज्ञ अर्थात् ईश्वर जानो। मेरा मत है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है।।२।।

व्याख्याः- भगवान् ने यहाँ आत्मा और परमात्मा के अभेद को समझाया है। उनके कथन का आशय यह है कि आत्मा और परमात्मा एक ही हैं। उनमें कोई अंतर नहीं है। प्रकृति के संयोग के कारण इनमें अंतर प्रतीत होता है। वे अर्जुन को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि सभी शरीरों में रहने वाली चेतन आत्मा वास्तव में उनका एक हिस्सा है। फलस्वरूप भिन्न-भिन्न शरीरों में विद्यमान चेतन क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में कोई अंतर नहीं है। एक ही परमात्मा जीवात्मा के रूप में भिन्न-भिन्न क्षेत्र यानी शरीर में अर्थात् भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देते हैं।

इस श्लोक में भगवान् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ ज्ञान बताते हैं क्योंकि क्षेत्र अर्थात् शरीर जड़, नश्वर, अनित्य, क्षणभंगुर, परिवर्तनशील, उत्पन्न होने वाला और नष्ट होने वाला है। लेकिन क्षेत्रज्ञ यानी आत्मा अविनाशी, शाश्वत, चेतन, शुद्ध, निर्विकार, सदा अपरिवर्तनशील है। तो क्षेत्र यानी शरीर और क्षेत्रज्ञ यानी आत्मा अभिन्न नहीं हैं। लेकिन अज्ञानता के कारण लोग शरीर और आत्मा को एक ही मानते हैं और शरीर को अधिक महत्त्व देते

हैं और आत्मा को जानने का कोई प्रयास नहीं करते। इसलिए क्षेत्र अर्थात् शरीर और क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा के स्वरूप को जानना आवश्यक है। यदि इस ज्ञान को ठीक से प्राप्त कर लिया जाए, तो मानव हृदय से अज्ञान का अंधकार दूर हो जाएगा और मन सत्य के प्रकाश से आलोकित हो जाएगा, और तब लोगों को इस नश्वर शरीर की चिंता नहीं रहेगी। इसलिए भगवान् ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को उत्तम ज्ञान कहा है। यहाँ भगवान् का इरादा अर्जुन के हृदय में इस सत्य के प्रकाश को प्रकट करना है ताकि अर्जुन को सृष्टि के वास्तविक सत्य का एहसास हो और वह अपने सामने खड़े अपने रिश्तेदारों के नश्वर शरीरों को नष्ट करने के विचार के कारण युद्ध को छोड़ने के बारे में न सोचे।।२।।

तत् क्षेत्रं यत् च यादृक् च # यद् विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत् प्रभावश्च # तत् समासेन मे शृणु।।३।।

अनुवादः– वह क्षेत्र क्या है, उसका प्रकार क्या है, उसका विकार क्या है, वह कहाँ से उत्पन्न होता है और उसका प्रभाव कैसा होता है, उसके बारे में मैं आपको संक्षेप में बता रहा हूँ, आप सुनिए।।३।।

ऋषिभिः बहुधा गीतं # छन्दोभिः विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैः चैव # हेतुमद्भिः विनिश्चितैः।।४।।

अनुवादः– उस तत्त्व की व्याख्या ऋषियों ने अनेक प्रकार से की है, विभिन्न वेदादि ग्रन्थों में भी इस तत्त्व को स्पष्ट किया गया है और ब्रह्मसूत्र के पदों से भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के तत्त्व को स्पष्ट रूप से समझाया गया है।।४।।

व्याख्याः– विष्णुपुराण में ऋषि पराशर क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा के यर्थार्थ स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं–

अहं त्वं च तथान्ये च भूतैरुह्याम पार्थिव।
गुणप्रवाहपतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम्।।
कर्मवश्या गुणाश्चैते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते।
अविद्यासंचितं कर्म तच्चाशेषेषु जन्तुषु।।
आत्मा शुद्धः अक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः
प्रवृद्ध्यपचयौ न अस्य एकस्याखिलजन्तुषु।।

—(विष्णुपुराण २।१३।६४-६६)

अर्थात् हे राजा, आप, मैं और अन्य सभी जीवित प्राणियों को पंचभूतों द्वारा ले जाया जाता है। क्षिति, अप्, तेज आदि पंच महाभूत भी सत्त्व, रजः तम इस त्रिगुण के प्रवाह में गिरते हैं और कालसागर में प्रवाहित होते हैं। ये सत्त्वादि त्रिगुण भी कर्मके अधीन हैं। वह कर्म अविद्या संचित है और सभी जीवों में विद्यमान है। आत्मा एक, शुद्ध, अविनाशी, शांत, निर्गुण और प्रकृति से ऊपर है। वह संसार के सभी प्राणियों में निवास करता है, उसका न कोई परिवर्तन होता है और न क्षय।

विष्णुपुराण में आगे कहा गया है कि यह जो हाथ, पैर, मुंडवाला शरीर है जिसे क्षेत्र कहा जाता है उससे जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ भिन्न है - पिण्डःपृथग् यतः पुंसः पादपाण्यादिलक्षणः (२।१३।८४)। तो ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषियों ने देह अर्थात् क्षेत्र और जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ के स्वरूप की व्याख्या की है। विभिन्न वेद, उपनिषद भी कहते हैं कि शरीर और आत्मा की प्रकृति अलग-अलग है। तैत्तिरीय उपनिषद के मंत्र २।४ में कहा गया है कि इस मनोमय शरीर के भीतर रहने वाला जीवात्मा विज्ञानमय है और वह शरीर अर्थात् क्षेत्र से भिन्न है – ''तस्माद् वा एतस्मान्मनोमयाद् अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः।'' ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद में शरीर और आत्मा की पर्याप्त चर्चा की गई है- 'न वियदश्रुतेः' (२।३।१), 'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च

ताभ्यः' (२।३।१७), 'ज्ञोऽत एव' (२।३।१८), 'परात्तु तच्छ्रुतेः (२।३।४१) प्रभृति।।४।।

महाभूतानि अहंकारो # बुद्धिः अव्यक्तम् एव च।
इन्द्रियाणि दश एकं च # पञ्च च इन्द्रियगोचराः।।५।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं # संघातः चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन # सविकारम् उदाहृतम्।।६।।

अनुवाद :- महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति, दश इंद्रियाँ, एक मन, पंच तन्मात्र, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात अर्थात् पंचमहाभूतों के योग के रूप में शरीर, चेतना, धृति अर्थात् धैर्य ये सब संक्षेप में सविकार क्षेत्र कहलाता है।।५-६।।

व्याख्याः- क्षिति, उप, तेज, वायु और आकाश ये पांच महाभूत हैं, । ग्यारह इंद्रियाँ - वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं, आंख, कान, जीभ, नाक और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, और मन एक इंद्रिय है, कुल ग्यारह इंद्रियाँ हैं; रूप, रस, स्पर्श, गंध और शब्द ये पाँच तन्मात्राएँ हैं। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, ज्ञान और धैर्य - ये सब देह यानी क्षेत्र के विकार हैं, आत्मा का धर्म है ।। ५-६।।

अमानित्वम् अदम्भित्वम् # अहिंसा क्षान्तिः आर्जवम्।
आचार्य-उपासनं शौचं # स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः।।७।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् # अनहङ्कार एव च।
जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि # दुःख-दोष-अनुदर्शनम्।।८।।
असक्तिः अनभिष्वङ्गः # पुत्र-दार-गृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वम् # इष्ट-अनिष्ट-उपपत्तिषु।।९।।

मयि च अनन्ययोगेन # भक्तिः अव्यभिचारिणी।
विविक्त-देश-सेवित्वम् # अरतिः जनसंसदि।।१०।।
अध्यात्मज्ञान-नित्यत्वं # तत्त्व-ज्ञानार्थ-दर्शनम्।
एतत् ज्ञानम् इति प्रोक्तम् # अज्ञानं यत् अतः अन्यथा।।११।।

अनुवाद:- अपने गुण का बखान न करना, अपने धन, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदि का अभिमान न करना, अहिंसा, क्षमा, मन, वाणी और शरीर की सरलता, गुरु की अच्छी सेवा, आंतरिक और बाहरी शुद्धि, मन की स्थिरता, शारीरिक इंद्रियों का संयम (७), इस लोक और परलोक की इंद्रिय-बोधगम्य वस्तुओं के लिए वैराग्य, मन, बुद्धि, इंद्रियों और शरीर की सभी अहंकारी भावनाओं को त्यागना, जन्म-मृत्यु- जरा-रोग, दु:ख रूप दोषों के बारे में बार-बार सोचते रहना (८), अनासक्ति, पत्नी, पुत्र, पुत्री, कुटुम्ब, धन आदि किसी भी वस्तु में लिप्त न होना, वांछित और अवांछित पार्थिव लाभ में हमेशा मन की समता बनाए रखना (९), मेरी अनन्य भक्ति और परमेश्वर के सिवा कोई नहीं है ऐसी एकनिष्ठ भक्ति के साथ अपने दिल को मेरे हवाले कर देना, एकांत स्थान से प्रेम, भीड़-भाड़ वाली जगहों में अप्रीति (१०), आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति निरंतर भक्ति, तत्त्वज्ञान की खोज यह सब ज्ञान हैं। इसके विपरीत जो कुछ है वह अज्ञान है।।११।।

व्याख्या:- यहाँ भगवान् कहते हैं कि जन्म-मृत्यु-जरा-रोग के दोषों का बार-बार विचार करना ही प्रज्ञा का लक्षण है। भगवान् के इस कथन का अर्थ समझना आवश्यक है। जन्म-मरण-जरा-रोग पाप का परिणाम है। जो व्यक्ति अच्छे कर्मों में लिप्त होकर पुण्य प्राप्त करता है, वह परम भगवान् के धाम को जाता है, उसे कभी पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता। जन्म रोगों का स्रोत है। जब भी कोई जन्म लेता है तो उसे जीवन में तरह-तरह के कष्ट, दु:ख और पीड़ाएं भोगनी पड़ती हैं। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति जीवन को सदा आनंद का स्थान नहीं बल्कि रोग-व्याधि का आगार मानता है ।।७-११।।

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि # यत् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म # न सत् तत् न असत् उच्यते।।१२।।

अनुवादः- अब मैं तुम्हें उस विषय को बतलाता हूँ जो जानने योग्य है। इसे जानकर मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इस वस्तु का न आदि है, न अंत है, न तो उत्पत्ति है और न ही विनाश, वह वस्तु मेरा आश्रित ब्रह्मतत्त्व है जो सत् और असत् अर्थात् कार्य और कारण से परे है।।१२।।

व्याख्याः- यहाँ भगवान् ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि ब्रह्म सत् और असत् से परे है। इस अध्याय के चौथे श्लोक में भगवान् कहते हैं कि वेदों में क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यह क्षेत्रज्ञ वही ब्रह्म है। कठोपनिषद १। २। १८ मंत्र में हम पाते हैं कि वह 'विपश्चित' हैं अर्थात् अविलुप्त, चैतन्य हैं, उसका न जन्म है, न मृत्यु - "न जायते म्रियते वा विपश्चित न अयं" इति। इस कारण से, चूंकि उसका कोई आदि यानी उत्पत्ति नहीं है, वह अनादि है - "आदिर्यस्य न विद्यते तद् अनादिः" (रामानुजाचार्य गीताभाष्य १३।१२)।

भगवान् कहते हैं कि ब्रह्म न तो सत् है और न ही असत्। शास्त्रों में सत् और असत् शब्दों की विभिन्न व्याख्याएँ हैं। परंतु संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जो द्रव्य उत्पन्न होता है और जो नष्ट हो जाता है उसे असत् कहते हैं अर्थात् विद्यमान है और नाशवान है और जिसका कोई सृजन नहीं, कोई क्षय नहीं, कोई लय नहीं, सनातन अविनाशी है उस परब्रह्म को सत् कहा जाता है। यहाँ यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि 'सत्' और 'असत्' शब्द जिस अर्थ में गीता में प्रयुक्त हुए हैं, उपनिषदों में इस शब्द का प्रयोग इसके विपरीत अर्थ में किया गया है। इस संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है वह असत् वस्तु है। लेकिन जो सृष्टि से पहले अस्तित्व में था और प्रलय के बाद भी नष्ट नहीं होगा, उसे न तो सत् कहा जा सकता है

और न ही असत्– “न सत् तत् न असत् उच्यते” (श्रुति)। शंकराचार्य ने अपनी गीताभाष्य में इस मामले को तार्किक रूप से समझाया। उनका कहना है कि हम किसी वस्तु को चार प्रकार से समझ सकते हैं: जाति, क्रिया, गुण और संबंध। उदाहरण के लिए, एक गाय को उसकी जाति, सफेद-काले रंग जैसे गुणों, उसकी गतिविधियों जैसे घास खाने, दूध देने, चरने आदि से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त गाय, घोड़े आदि को और किसी प्रकार से नहीं जाना जा सकता। लेकिन इस प्रकार ब्रह्म को चार तत्त्वों जाति, क्रिया, गुण और संबंध से नहीं जोड़ा जा सकता है। इसलिए उसे सत् या असत् नहीं कहा जा सकता। श्वेताश्वतरोपनिषद के मंत्र ६।१९ में ब्रह्म के बारे में कहा गया है - निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् इति। अर्थात् ब्रह्म निराकार, क्रियाहीन, निर्विकार है। इस दृष्टि से ब्रह्म-जाति जैसी कोई वस्तु नहीं है, जिस प्रकार गोजाति, हस्ति जाति, सर्पजाति आदि कही गई है। लेकिन इस प्रकार ब्रह्म को चार तत्वों जाति, क्रिया, गुण और संबंध से नहीं जोड़ा जा सकता है। इसलिए उसे सत् या असत् नहीं कहा जा सकता। फिर ब्रह्म को श्वेत, श्याम आदि किसी भी गुण से वर्णित नहीं किया जा सकता क्योंकि शास्त्रों में ब्रह्म को निराकार कहा गया है। उसे किसी भी क्रिया से नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि उसे शास्त्रों में क्रियाहीन कहा गया है। फिर वह किसी से संबंधित नहीं है क्योंकि शास्त्र उसके बारे में कहते हैं कि वह एक और अद्वितीय है- ‘‘एकम् एव अद्वितीयम्’’ (छान्दोग्योपनिषत् ६।२।१)। शंकराचार्य कहते हैं कि वह एक, अद्वितीय, इंद्रियातीत और आत्मरूप है, इसलिए ब्रह्म किसी से संबंधित नहीं है, उसे शब्दों द्वारा भी व्यक्त नहीं किया जा सकता है - ‘‘न च सम्बन्धि एकत्वाद् अद्वयत्वाद् अविषयत्वाद् आत्मत्वाद् च न केनचित् शब्देन उच्यते’’ (गीता शांकरभाष्य)।

तैत्तिरीय उपनिषद के २।७ मंत्र में कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व वह असत् अर्थात् अव्यक्त था और सृष्टि के बाद व्यक्त अर्थात् सत् हो गया– ‘‘असद्वा

इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।'' तो वास्तव में उसे न तो असत् कहा जा सकता है और न ही सत् । सृष्टि के पूर्व की अवस्था को कारण अवस्था और सृष्टि के बाद की अवस्था को कार्य अवस्था कहते हैं। जैसे वाष्प। जब यह वाष्प जल में रूपांतरित होने से पहले वाष्पके रूपमें रहता है तब यह जल का कारण होता है। लेकिन जब यह वाष्प संघनित होकर जल बन जाता है तो यह जल वाष्प का कार्य बन जाता है। उसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार ब्रह्मा का संबंध सृष्टि से पहले की स्थिति यानी कारण की स्थिति और सृष्टि के बाद की स्थिति यानी कार्य की स्थिति दोनों से ही था। लेकिन रामानुजाचार्य के अनुसार कर्मरूप की अविद्या के कारण यह संवंध स्थापित हुआ, वास्तव में यह सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था और इसलिए आत्मा को सत् और असत् इन दो शब्दों से वर्णित नहीं किया जा सकता है - ''कार्यकारणावस्थाद्वयान्वय: तु आत्मन: कर्मरूपा अविद्यावेष्टनकृत: न स्वरूपत: इति सदसत् शब्दाभ्याम आत्मस्वरूपं न उच्यते" (गीताभाष्य रामानुज)। इसके अलावा, भले ही शास्त्रों में वर्णित है कि वह सृष्टि से पहले कारण अवस्था में मौजूद थे, इस कारण अवस्था में उसके शरीर को नाम और रूप के बिना सूक्ष्म चेतन और अचेतन पदार्थ के संग्रह के रूप में वर्णित किया गया है। इसलिए कारण अवस्था में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों को असत् बताया गया है। लेकिन चूंकि क्षेत्रज्ञ की यह स्थिति कर्म से संबंधित थी, इसलिए उसके शुद्ध रूप को सत् या असत् शब्दों से नहीं बताया जा सकता। इन सभी निर्णयों में ब्रह्म को सत् या असत् नहीं कहा जा सकता।।१२।।

सर्वत: पाणिपादं तत् # सर्वत: अक्षि-शिरोमुखम्।
सर्वत: श्रुतिमत् लोके # सर्वम् आवृत्य तिष्ठति।।१३।।

अनुवाद:- वह ज्ञेय ब्रह्म सब ओर हाथ, पैर, नेत्र, मस्तक, मुख और कान वाला है। वह संसार की प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है।।१३।।

व्याख्या:- भगवान् यहाँ कहते हैं कि क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा अर्थात् ब्रह्म का हाथ, पैर, आँख, सिर, मुँह और कान सब जगह है। फिर श्वेताश्वतरोपनिषद के ३।१९ मंत्र में कहा गया है कि वह 'अपनिपादो' है अर्थात् उसके हाथ-पैर नहीं हैं। ऐसे में ये दोनों बयान विरोधाभासी लग सकते हैं। परंतु श्वेताश्वतरोपनिषद का यह मंत्र ही इस संदेह को दूर करता है कि उसके हाथ नहीं होते हुए भी वह सब कुछ स्वीकार करता है, पैर नहीं होने पर भी वह सर्वत्रगामी है, आंख नहीं होने पर भी वह सब कुछ देखता है, कान नहीं होने पर भी वह सब कुछ सुनता है-

अपाणिपादो जवनो प्रहीता
पश्यत्यचक्षुः सः शृणोति अकर्णः।

तो इस श्लोक में भगवान् के कथन का अर्थ यह है कि यदि कोई भक्त इस ब्रह्मांड में कहीं भी सच्चे मन से उसे कुछ भी अर्पित करता है तो वहां पर भेंट की गई वस्तु को स्वीकार करके वे भक्त को प्रसन्न करते हैं। उनके हाथ हर जगह हैं। उनके चरण हर जगह हैं। भक्त जहाँ भी उनके चरणों में प्रणाम करता है, वे उसका प्रणाम स्वीकार करते हैं। भक्त को यह खोजने की जरूरत नहीं है कि उनके पैर कहां हैं। उनकी आंखें हर जगह हैं। इस का अर्थ यह है कि इस संपूर्ण ब्रह्मांड के कण-कण में उनकी दृष्टि है। ब्रह्मांड में ऐसा कोई स्थान नहीं है जिसे वे न देखता हो। तो इस असीम ब्रह्मांड में कहीं भी कुछ भी होता है, जो कोई और जहाँ भी जो कुछ करता है, वे उसे तुरंत देख लेता है। यह बिल्कुल भी संभव नहीं है कि उनकी दृष्टि या ज्ञान के बाहर कहीं भी कुछ भी घटित होगा। परिणामस्वरूप यदि कोई यह सोचता है कि वह गुप्त रूप से कोई कार्य करेगा तो यह उसका असफल प्रयास होगा। भगवान् का सिर हर जगह है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भक्त उनकी पूजा करने के लिए श्रद्धापूर्वक जहाँ कही भी पुष्प आदि उनके

मस्तक पर चढ़ाते हैं, भगवान् तुरंत उस अर्घ्य को अपने सिर पर स्वीकार करते हैं। उनका मुख हर जगह है, इसका मतलब यह है कि ब्रह्मांड में जहां भी भक्त भक्तिपूर्वक उन्हें कोई भी खाद्य पदार्थ अर्पित करने की इच्छा रखता है, भगवान् तुरंत वहां प्रकट होते हैं और उस भोजन को ग्रहण करके भक्त की इच्छा पूरी करते हैं। उनके कान हर जगह हैं। कोई फर्क नहीं पड़ता कि उनका भक्त ब्रह्मांड में कहीं भी उनकी स्तुति, प्रार्थना करता है, वे उसे उचित रूप से सुनते हैं। उन्होंने ही इस संसार को बनाया है। इसलिए वे ब्रह्मांड में व्याप्त हैं। अर्थात् वे ज्ञेय वस्तु क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा अर्थात् ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वदर्शी, सर्वसाक्षी, सर्वतोगामी हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' में भगवान् के इस रूप का अपूर्व भाषा, सुर, ताल, लय और छंद में अत्यंत सुंदर चित्रण किया है-

बिनुपद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आननरहित सकल-रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा।।
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिँ वरणी।।
(बालकाण्ड)

अर्थात् उसके पैर नहीं हैं फिर भी वह हर जगह चलता है, उसके कान नहीं हैं फिर भी वह सब कुछ सुनता है, उसके हाथ नहीं हैं फिर भी वह काम करता है, उसके पास कोई मुंह नहीं है फिर भी वह एक महान वक्ता है, उसके पास कोई शरीर नहीं है फिर भी वह सब स्पर्श अनुभव करता है, उसके पास आँखें नहीं हैं फिर भी वह सब कुछ देखता है, उसके पास नाक नहीं है फिर भी वह सूंघता है। उसका काम बहुत ही अलौकिक है। उसकी महिमा वर्णनातीत है।।१३।।

सर्व-इन्द्रिय-गुण-आभासं # सर्व-इन्द्रिय-विवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृत् चैव # निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१४।।

अनुवाद:- वह इंद्रिय-विषयों से पूर्णत: अवगत है किंतु वह स्वयं किसी इंद्रिय के वश में नहीं है। वह किसी वस्तु से आसक्त नहीं है, वह सबका पालन-पोषण करता है, वह प्राकृत सत्त्व रज: तम: इन तीन गुणों से रहित है, फिर भी वह 'भग' शब्द द्वारा व्यक्त षडैश्वर्य गुणों का भोक्ता है।।१४।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् ने अपने स्वभाव के एक अद्भुत और अनोखा पहलू का उल्लेख किया है। पहले हमने गीता में सीखा था कि यद्यपि भगवान् समस्त इंद्रियधारी जीवों के भीतर निवास करते हैं तथापि वे सदैव असंग हैं अर्थात् उन्हें किसी भी वस्तु से कोई आसक्ति नहीं है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वे इंद्रियों के गुणों से अवगत नहीं हैं। गीता में कहा गया है कि वे सर्वज्ञ हैं। वे इस सृष्टि के प्रत्येक अणु-परमाणु की गति-प्रकृति को पूर्णत: जानते हैं। अत: वे इंद्रियों से अज्ञ नहीं हो सकते। लेकिन उनके स्वरूप की उत्कृष्ट विशेषता यह है कि इंद्रियाँ जो अपने सत्त्व, रज: और तमोगुण द्वारा प्राकृत जीव को मोहित और अवश बना देती हैं, इस प्रकार वे परमात्मा को बिल्कुल भी प्रभावित नहीं कर पाती हैं। भगवान् इंद्रियों की सभी बातें जानते हैं, लेकिन उनके प्रति पूरी तरह से उदासीन है। फिर, प्राकृत जीव अपने बच्चों, माता-पिता या रिश्तेदारों से उसके लगाव के कारण उनका पालन-पोषण करता है। परमात्मा इस ब्रह्मांड में सभी जीवित प्राणियों का पालन-पोषण भी करते हैं। लेकिन उसके दिल में उनके प्रति कोई लगाव नहीं है। वे बिना किसी कारण के प्राणियों का भला करते हैं। वे इस संबंध में सभी प्रकार के व्यसनी दोष से पूरी तरह मुक्त हैं। यह सर्वव्यापक भगवान् का चमत्कारी, अद्भुत एवं अद्वितीय गुण है।।१४।।

बहिरन्तश्च भूतानाम् # अचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात् तत् अविज्ञेयं # दूरस्थं च अन्तिके च तत्।।१५।।

अनुवादः- वह सब प्राणियों के बाहर भी है और भीतर भी। वह यह चराचर जगत् भी है। वह बहुत सूक्ष्म है। इसलिए वह हमारे ज्ञान से परे है। वह दूर है, वह निकट भी है।।१५।।

व्याख्याः- इस श्लोक में कहा गया है कि सर्वज्ञ परमात्मा समस्त प्राणियों के बाहर और भीतर दोनों जगह है। किसी जलाशय के जल में बाहर की ओर भी जल होता है और भीतर की ओर भी जल होता है। सोने के गहनों में बाहर भी सोना होता है और भीतर भी सोना होता है। इसी तरह परमात्मा भी सभी जीवों के अंदर और बाहर दोनों जगह मौजूद है। वास्तव में वही ये सब चर अर्थात् चेतन और अचर अर्थात् अचेतन पदार्थ हैं। इसे यह कहकर समझाया जा सकता है कि जैसे बर्फ के टुकड़े में बाहर भी पानी होता है, अंदर भी पानी होता है और बर्फ स्वयं ही पानी होता है, कोई अन्य पदार्थ नहीं। इसी प्रकार इस जगत् में जितने भी चेतन और अचेतन पदार्थ हैं, वे सब उसी परमात्मा के रूप हैं। कहा जाता है कि वे इतने सूक्ष्म हैं कि समझ से परे हैं। इसका मतलब क्या है? विज्ञान के अनुसार वायुमंडल में पानी के कण मौजूद होते हैं, लेकिन वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि उन्हें पहचाना नहीं जा सकता। इसी प्रकार प्रकृति के समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों में वह इतने सूक्ष्म रूप से विद्यमान हैं कि उन्हें समझा ही नहीं जा सकता। जिनके हृदय अविद्या, अज्ञान से आच्छादित हैं, वे उनके इस सूक्ष्म रूप को नहीं जान सकते, लेकिन जिनके हृदय में ज्ञान का प्रकाश प्रकट हुआ है, वे उनके सूक्ष्म रूप को जान सकते हैं, जैसे अज्ञानी व्यक्ति विज्ञान के सिद्धांत को न जानने के कारण वायुमंडल में जल के कणों की उपस्थिति को नहीं जान सकता। लेकिन वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश से संपन्न एक वैज्ञानिक यह जान सकता है।

इसीलिए श्रुतियों में कहा गया है कि जो ज्ञानी अर्थात् आत्मतत्त्वविद् हैं वे सर्वत्र परमात्मा को देखते हैं- ''आत्मा एव अधस्तात् आत्मा उपविष्ठात् आत्मा पश्चात् आत्मा पुरस्थात् आत्मा दक्षिणत आत्मा उत्तरतः।'' अर्थात् आत्मा नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दक्षिण, उत्तर सब जगह विद्यमान है। वे हर जगह ब्रह्म की उपस्थिति देखते हैं – आत्मैवेदं सर्वम् (छान्द्योग्योपनिषत् ३।२५।२), ब्रह्मैवेदं सर्वम्'' (बृहदारण्यकोपनिषत् २।५।१)।

इसलिए शंकराचार्य कहते हैं कि क्योंकि वह ज्ञेय यानी जानने योग्य वस्तु अज्ञेय है और उनका तत्त्व हजारों-अरबों वर्षों तक भी नहीं जाना जा सकता है, वह अज्ञानियों से बहुत दूर है, लेकिन जो आत्म-ज्ञानी हैं, उनके लिए वह आत्मा है। इसलिए वह उनके निकट है- ''अविज्ञाततया दूरस्थं वर्षसहस्रकोट्यापि अविदुषाम् अप्राप्यत्वाद् अन्तिके च तद् आत्मत्वाद् विदुषाम्"।।१५।।

अविभक्तं च भूतेषु # विभक्तम् इव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तत् ज्ञेयं # ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१६।।

अनुवादः– वह ज्ञेय यानी जानने योग्य ब्रह्म अखण्ड है, परंतु सम्पूर्ण भूतों में विभक्त सा स्थित प्रतीत होता है, वही सब प्राणियों का पालन करता है, वही सब प्राणियों का संहार करता है और वही सब प्राणियों की सृष्टि करता है।।१६।।

व्याख्याः– यहाँ भगवान् कहते हैं कि वे अखण्ड हैं किंतु सम्पूर्ण भूतों में विभाजित रूप में दिखाई देते हैं। इस शब्द का अर्थ यह है कि वे सभी जीवों का निर्माता हैं। अतः वे उन सभी प्राणियों की सृष्टि का कारण हैं। इस प्रकार वे सभी प्राणियों में कारणात्मक रूप से एक और अभिन्न हैं। फिर जब उनके द्वारा कारण के रूप में विभिन्न जीवों की रचना की जाती है, तो यह कारणरूपी उनका कार्य होता है जो देव, मनुष्य, जीव, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता एक शब्द में सभी चर यानी चेतन एवं अचर यानी अचेतन पदार्थ में विभिन्न शरीरों में देखा जाता है। तो वे कह रहे हैं कि वे जब कारण रूप में होते

हैं तब एक और अभिन्न ही होते हैं लेकिन जब वे कार्य के रूप में होते हैं तब वे भिन्न भिन्न रूपमें दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए, समुद्र से पैदा हुई फेन समुद्र से अलग दिखाई देती है लेकिन वास्तव में समुद्र से अलग नहीं है। जो आत्मज्ञानी हैं वे ब्रह्मा से लेकर स्तंभों तक सर्वत्र एक ही आत्मा को देखते हैं। किंतु जिनकी आँखों में अज्ञान का अन्धकार भरा हुआ है वे सब कुछ भिन्न भिन्न रूप में देखते हैं।।१६।।

ज्योतिषाम् अपि तत् ज्योतिः # तमसः परम् उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं # हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१७।।

अनुवादः- वह ज्योतिर्मय पदार्थों जैसे सूर्य आदि का प्रकाश है, वह तम अर्थात् अविद्या के अंधकार यानी प्रकृति से परे है, वह 'ज्ञान', 'ज्ञेय', 'ज्ञानगम्य' है अर्थात् ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, वह सबके हृदय में निवास करता है।।१७।।

व्याख्याः- परमेश्वर श्रीकृष्ण समस्त ब्रह्मांड के स्वामी हैं। उनकी उंगली के इशारे पर दुनिया चलती है, चंद्रमा और सूर्य उदय होते हैं और अस्त होते हैं। चंद्रमा, सूर्य, ग्रहों और तारों से निकलने वाला प्रकाश ईश्वर से प्राप्त होता है। यह कथन विभिन्न श्रुतियों द्वारा समर्थित है जैसे श्वेतश्वतरोपनिषद के ६।१४, मुंडकोपनिषद के २।२।१०, कठोपनिषद के २।२।१५ आदि जहां यह कहा गया है कि सूर्य, चंद्रमा, तारा, नक्षत्र, अग्नि में से कोई भी परब्रह्म को प्रकट नहीं कर सकता है। क्योंकि वे स्वयं ही प्रकट हैं, सभी उनके प्रकाश से देदीप्यमान हैं –

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विधुतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

तो ब्रह्मांड में जितने लोक यानी भुवन हैं, वहाँ जितनी भी रोशनी है उन सभी का एकमात्र स्रोत हैं परब्रह्म। उनके सिवा कोई ज्योति नहीं है, कोई प्रकाश नहीं है।।१७।।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं # ज्ञेयं च उक्तं समासतः।
मद् भक्त एतद् विज्ञाय # मद्-भावाय उपपद्यते ।।१८।।

अनुवादः- इस प्रकार मैंने क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय के बारे में संक्षेप में कहा है। मेरा भक्त इन बातों को अच्छी तरह जान कर मेरे स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाता है।।१८।।

प्रकृतिं पुरुषं च एव # विद्धि अनादी उभौ अपि।
विकारान् च गुणान् च एव # विद्धि प्रकृति-सम्भवान्।।१९।।

अनुवादः- जान लें कि प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं और शरीर और इंद्रियों के सब विकार यथा सुख, दुःख, मोह आदि गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं।।१९।।

व्याख्याः- यहाँ भगवान् प्रकृति और पुरुष की बात करते हैं। प्रकृति से स्थूल अर्थ में हमारा मतलब स्त्री शरीर से है और पुरुष से हमारा मतलब पुरुष शरीर से है। लेकिन शास्त्रों में इन शब्दों का इन अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है। सांख्यदर्शन में आत्मा को पुरुष कहा जाता है और भौतिक संसार के मूल तत्त्व को प्रकृति कहा जाता है। शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर की त्रिविध माया शक्ति जो समस्त विकारों का कारण है वह प्रकृति कहलाती है - ''प्रकृतिः ईश्वरस्य विकारकारणशक्तिः त्रिगुणात्मिका माया।'' अब यह जानना जरूरी है कि 'विकार' और 'गुण' क्या है। सुख, दुख, कामना और द्वेष आदि शरीर के कर्मों को 'विकार' कहते हैं और सत्त्व, रजः और तम इन तीन चीजों को गुण कहते हैं।।१९।।

कार्यकारणकर्तृत्वे # हेतुः प्रकृतिः उच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां # भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते।।२०।।

अनुवादः- कार्य-कारणके कर्तापनमें प्रकृति को हेतु कहा जाता है अर्थात् कार्य और कारण प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। पुरुष सुख-दुःख के भोग का हेतु है।।२०।।

व्याख्याः- इस श्लोक में प्रयुक्त 'कार्यकारणकर्तृत्वे' पद का भिन्न पाठ 'कार्यकरणकर्तृत्वे' भी मिलता है। रामानुजाचार्य, श्रीधराचार्य, जगदीशचन्द्र घोष आदि अधिकांश टीकाकारों ने 'कार्यकारणकर्तृत्वे' पद का प्रयोग किया है। लेकिन शंकराचार्य 'कार्यकरणकर्तृत्वे' पद का प्रयोग किया है। चूंकि अधिकांश भाष्यकारों ने इस श्लोक में 'कार्यकारणकर्तृत्वे' पद का प्रयोग किया है, इसलिए इस ग्रन्थ में 'कार्यकारणकर्तृत्वे' पद का प्रयोग किया गया है, क्योंकि पाठक समुदाय इस पद से अधिक परिचित है। अब इस श्लोक में प्रयुक्त 'कार्य', 'कारण' और 'करण' शब्दों का अर्थ जानना आवश्यक है। अब यदि 'कार्य' और 'कारण पाठ को स्वीकार कर लिया जाए तो वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ पाँचों कर्मेंद्रियाँ; आँख, कान, जीभ, नाक और त्वचा पाँचों ज्ञानेंद्रियाँ और मन कुल ग्यारह इंद्रियां और रूप, रस, रंग, गंध और स्पर्श ये पाँचों इंद्रियोंके विषय - ये सोलह विषय 'कार्य' हैं। शरीर इन सबका समष्टि है। वे दूसरों के कार्य हैं, वे स्वतंत्र रूप से किसी के कारण नहीं हैं। हम फूल को अपनी आंखों से देखते हैं, नाक से सूंघते हैं, त्वचा से स्पर्श महसूस करते हैं। ये सब दूसरों के कार्य हैं। आँख, नाक, त्वचा इनके कारण नहीं हैं। इन क्रियाओं का वास्तविक कारण फूल का अस्तित्व होना । 'कार्य' शब्द की व्याख्या करते हुए रामानुजाचार्य और श्रीधराचार्य कहते हैं - ''कार्य शरीरम्'' अर्थात् शरीर का नाम कार्य है।

दूसरे, यदि हम 'कार्य' और 'कारण' पाठ को स्वीकार करते हैं तो क्षिति अर्थात् पृथ्वी, अप अर्थात् जल, तेज अर्थात् अग्नि, मरुत अर्थात् वायु और व्योम अर्थात् आकाश ये पाँचों सूक्ष्म महाभूत तथा मन, बुद्धि और अहंकार ये तीनों अन्तकरण कारण होंगे। बुद्धि अहंकारका कारण है और पाँच सूक्ष्म महाभूत पाँचों इंद्रियों के विषय - रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द के कारण है ।

अब, शंकराचार्य के अनुसार यदि पाठ को 'कार्यकरणकर्तृत्वे' के रूप में लिया जाता है, तो 'कार्य' शब्द क्षिति यानी पृथ्वी, अप यानी जल, तेज यानी अग्नि, मरुत यानी वायु और व्योम यानी आकाश ये पांच सूक्ष्म महाभूत और पाँचों इंद्रियों के विषय अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द इन दसों का संकेत करेंगे। उस स्थिति में करण शब्द वाक, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ ये पाँचों कर्मेंद्रियाँ; आँख, कान, जिह्वा, नाक और त्वचा ये पाँचों ज्ञानेंद्रियाँ और मन, बुद्धि और अहंकार ये तीनों अन्त:करण इन तेरहका का संकेत करेंगे। ये तेईस प्रकार के तत्त्व प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। इसलिए प्रकृति उनका उपादान कारण यानी उत्पन्न करने में हेतु है।

यहां एक और मुद्दे पर विशेष चर्चा की जरूरत है। इस श्लोक में, भगवान् पुरुष व आत्मा का वर्णन सुख और दु:ख के भोक्ता के रूप में करते हैं। लेकिन आत्मा शुद्ध है और सभी चीजों के प्रति निर्लिप्त, उदासीन है और पूरी तरह अनासक्त, असंग है। तो उसे सुख-दु:ख कैसे लगेगा? यहाँ यह कहा जा सकता है कि प्रकृति अचेतन पदार्थ है। इसलिए उसके लिए किसी भी चीज का आनंद लेना संभव नहीं है। पुरुष भी असंग है। तो उसके पास आनंद लेने के लिए भी कुछ नहीं है। वास्तव में जड़ा प्रकृति के साथ संबंध पुरुष को एक उपभोक्ता की तरह महसूस कराता है। प्रकृति और पुरुष के बीच एक अविभाज्य संबंध मौजूद है। इसलिए पुरुष को सुख-दु:ख भोगने का हेतु कहा गया है।।२०।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि # भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गः अस्य # सत्-असत्-योनि-जन्मसु।।२१।।

अनुवादः– पुरुष प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रजः और तम इन तीन प्रकार के गुणों को भोगता है और भोग के प्रकार के अनुसार निम्न या उच्च योनी अर्थात् कुल या वंश या प्रजाति में जन्म लेता है।।२१।।

व्याख्याः– प्राकृत लोगों के लिए 'योनी' शब्द का अर्थ गर्भाशय, गर्भ आदि होता है। कुछ भाष्यकारों ने गीता में प्रयुक्त 'योनि' शब्द की व्याख्या गर्भाशय, जरायु आदि के अर्थ में की है। परंतु यह व्याख्या सही नहीं है। शास्त्रों की गति कुछ भिन्न है। श्रीमद्भगवद्गीता में 'योनि' शब्द का प्रयोग गर्भाशय, जरायु आदि के अर्थ में कदापि नहीं हुआ है। 'योनि' शब्द के और भी कई अर्थ हैं, उनमें से कुछ हैं - वंश, गोत्र, परिवार, प्रजाति आदि। संपूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता में ''योनि'' शब्द का प्रयोग वंश, गोत्र, परिवार, प्रजाति आदि के अर्थ में किया गया है।

शास्त्रों में कहा गया है कि चौरासी लाख योनियों की परिक्रमा करके मनुष्य जीवन प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ योनि शब्द का अर्थ है - चौरासी लाख प्रजाति का जीवों की देह यानी शरीर। जीव जन्म के बाद प्रकृति के तीन गुणों सत्त्व, रजः और तमः से विवश होकर जो-जो कर्म करता है, उसे उन कर्मों के लिए निर्धारित फल मिलता है और उस कर्मफल के अनुसार उसे एक विशेष प्रकार का देह यानी शरीर प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति अत्यधिक मात्रा में मांस खाने का आदी है, तो उसे अगली जन्म में मोची के कुत्ते के रूप में जन्म लेना पड़ेगा और मृत जानवरों की खाल से निकाले गए पिघले हुए मांस से अपना पेट भरना पड़ेगा। और यदि कोई कुत्ता किसी मंदिर में शरण लेता है और उस मंदिर के देवता को चढ़ाए गए भोजन के बचे हुए प्रसाद को खाकर जीना पसंद करता है, तो वह भी अपने पुण्य के कारण अगले जन्म में बेहतर नस्ल के घर में पैदा होगा।

यहां उल्लेख किया जा सकता है कि परम पूजनीय ए. सी. भक्तिवेदांतस्वामी प्रभुपाद ने इस श्लोक में प्रयुक्त 'योनी' शब्द की अपूर्व सुंदर व्याख्या की है– 'आवास गृह'। वे कहते हैं - जीव की कामनाओं और कार्यों के अनुसार, जड़ा प्रकृति उसे विभिन्न आवास गृह में भेजती है। जीव ही इन सब लोकों की प्राप्ति का उत्तरदायी है और उसी के अनुसार सुख-दु:ख भोगता है। यदि किसी जीव को सूअर के शरीर में डाल दिया जाए तो वह सुअर की तरह विष्ठा खाने और कार्य करने के लिए विवश हो जाता है। इसी प्रकार, यदि एक जीव को देवता के शरीर में रखा जाता है, तो उसे उस शरीर के अनुसार व्यवहार करना होता है (१३।२०)। इस मामले में सुअर या देवता का शरीर उस आत्मा का 'आवास गृह' है। प्रभुपाद द्वारा 'आवास गृह' के अर्थ में 'योनि' शब्द का प्रयोग वास्तव में अपूर्व सुंदर है।।२१।।

उपद्रष्टा अनुमन्ता च # भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मा इति च अपि उक्तो # देहे अस्मिन् पुरुषः परः।।२२।।

अनुवादः– इस शरीर में परमपुरुष का वास है। वह फिर से साक्षी, अनुमोदक, धारण करनेवाला, पालन करनेवाला, भोक्ता, महेश्वर, परमात्मा के रूप में जाना जाता है।।२२।।

व्याख्याः– यहाँ आत्मा को उपद्रष्टा अर्थात् साक्षी कहा गया है। साक्षी वह व्यक्ति होता है जो स्वयं कुछ न करते हुए वस्तु को निकट से देखता है। श्राद्ध, पूजादि कार्य में एक पुजारी संबंधित कार्य करता है और दूसरा अधिक अनुभवी पुजारी यह देखने के लिए पास बैठता है कि पूरा समारोह ठीक से चल रहा है या नहीं। हम पहले ही जान चुके हैं कि आत्मा निष्क्रिय है, यह स्वयं कुछ नहीं करती है, लेकिन अनुभवी पुजारी की तरह सच्चिदानंघन परब्रह्म घनिष्ठ रूप से जीव के बहुत करीब रहता है और सभी के शुभाशुभ कार्यों की निगरानी करती है। इसलिए वह साक्षी है। फिर वही अनुमंता अर्थात्

अनुमोदक है। उपरोक्त अधिक अनुभवी पुजारी पूरे समारोह को बैठकर देखता है और अगर कुछ गलत नहीं है तो वह चुप रहता है यानी वह समारोह की प्रक्रिया को मंजूरी देता है। इस मामले में वह उस अधिनियम का अनुमोदक है। इसी प्रकार परमात्मा समस्त हृदयों और इंद्रियों की समस्त क्रियाओं को घनिष्ठ रूप से देखकर कभी भी मना नहीं करता, अतः वे इंद्रियों के कर्मों का असुमन्ता हैं। आत्मा को भर्ता भी कहते हैं। वे विष्णु के रूप में सारे संसार की रक्षा और पालन-पोषण करते हैं। इसलिए उन्हें 'भर्ता' कहा जाता है। वही देवताओं के रूप में समस्त यज्ञों की हवि को और समस्त प्राणियों के रूपो मे समस्त भोगों को भोगते हैं। इसलिये उन्हें भोक्ता कहते हैं। वे सभी लोकपालों और ब्रह्मादि देवताओं को नियंत्रित करता है। इसलिए वे महेश्वर हैं। वे सभी गुणों से परे हैं। इसलिए वे 'परमात्मा' हैं। इसलिए देखा जाता है कि एक ही परमात्मा भिन्न-भिन्न कारणों और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। लेकिन वास्तव में उनमें कोई अंतर नहीं है।।२२।।

य एवं वेत्ति पुरुषं # प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानः अपि # न स भूयः अभिजायते।।२३।।

अनुवादः- जो उस पुरुष और गुणों के साथ प्रकृति को इस प्रकार जानता है, वह इस भौतिक दुनिया में सव प्रकार से रहकर भी पुनर्जन्म के चक्र में नहीं पड़ता है।।२३।।

व्याख्याः- जब कोई इस प्रकार परमात्मा को जान पाता है, तो उसके हृदय में सच्चे ज्ञान की ज्वाला प्रज्वलित हो जाती है। उस जलते हुए ज्ञान-अग्नि से उसके हृदय का सारा अज्ञान नष्ट हो जाता है। फलस्वरूप जब वह वर्तमान शरीर को त्याग देता है, तो वह अनंत ज्ञान रूपी निर्दोष आत्मस्वरुप को प्राप्त करता है और परमात्मा में विलीन हो जाता है, अर्थात् उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। फलस्वरूप उसे पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता।।२३।।

ध्यानेन आत्मनि पश्यन्ति # केचित् आत्मानम् आत्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन # कर्मयोगेन च अपरे।।२४।।

अनुवादः- कोई परमात्मा को अपने हृदय में ध्यानयोग द्वारा शुद्ध सूक्ष्म बुद्धि से देखता है, कोई ज्ञानयोग से और कोई कर्मयोग से उसे प्राप्त करता है।।२४।।

व्याख्याः- भगवान् का ध्यान कैसा होना चाहिए ? छान्दग्योपनिषद् का मंत्र ७।६।१ कहता है कि मनुष्य को कितनी एकनिष्ठ भक्ति से ईश्वर का ध्यान करना चाहिए ताकि वह उसे प्राप्त कर सके– "ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरीक्षं ध्यायतीव यन्तीवापो द्यौध्यायन्तीवापोध्यायन्तीव पर्वता" इति। अर्थात् जैसे पृथ्वी ध्यानमग्न है, जैसे अंतरिक्ष ध्यानमग्न है, जैसे द्युलोक ध्यानमग्न है, जैसे जल ध्यानमग्न है, जैसे पर्वत ध्यानमग्न है वैसे ही उनका भक्त भी ध्यानमग्न होना चाहिए। तभी उस सच्चिदानंदघन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है।।२४।।

अन्ये तु एवम् अजानन्तः # श्रुत्वा अन्येभ्य उपासते ।
ते अपि च अतितरन्ति एव # मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२५।।

अनुवादः- फिर ऐसे बहुत से संत हैं जो इस तत्त्व को नहीं जानते। वे किसी गुरु की सलाह सुनकर पूजा करते हैं। वे श्रुतिपरायण मनुष्य भी भवसागर को पार कर सकते हैं।।२५।।

यावत् संजायते किंचित् # सत्त्वं स्थावर-जङ्गमम्।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात् # तद् विद्धि भरत-ऋषभ।।२६।।

अनुवादः- हे भरतकुल शिरोमणि! आप इसे अपने ज्ञान में रखें कि इस ब्रह्मांड में जो कुछ भी उत्पन्न होता है, ये सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ यानी अपरा प्रकृति और आत्मा के संयोग से उत्पन्न होता है।।२६।।

समं सर्वेषु भूतेषु # तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्सु अविनश्यन्तं # यः पश्यति स पश्यति।।२७।।

अनुवादः- जो पुरुष सब प्राणियों के नश्वर शरीरों में समान रूप से स्थित अविनाशी परमात्मा को देखता है, वह यथार्थ रूप से देखता है, दूसरे शब्दों में, उसकी दृष्टि ही ठीक दृष्टि है।।२७।।

व्याख्याः- हम बहुत कुछ देखते हैं। लेकिन हमारा सभी विचार यथार्थ विचार नहीं हैं। हम लोगों के समूह में पुरुष या महिला को देखते हैं। लेकिन हमारा यह नजरिया सही नजरिया नहीं है। तत्त्वज्ञानी वहां पुरुषों और महिलाओं को नहीं देखता, वह केवल मनुष्य को ही देखता है। वही यथार्थ देखता है। शंकराचार्य ने गीता के अपने भाष्य में उपमाओं की सहायता से बहुत सुंदर व्याख्या की है कि सच्चा दर्शन कैसा होता है। उन्होंने कहा कि तिमिर यानी डिप्लोपिया या डबल विजन से पीड़त मरीज एक ही समय में एक से अधिक चंद्रमा देख सकता है। उसका यह दृष्टि सही नहीं है। सही दृष्टि वाले लोगों को हमेशा एक ही चाँद दिखाई देता है- ''यथा तिमिरदृष्टिः अनेकं चन्द्रं पश्यति तम् अपेक्ष एकचन्द्रदर्शी विशिष्यते स एव पश्यति इति।''

इस अखिल ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा से लेकर मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि अनेक पदार्थ हैं। प्राकृत दृष्टि वाला व्यक्ति इस ब्रह्मांड में सभी अलग-अलग प्रजातियों के पदार्थ को अलग-अलग देखता है। यही उसका स्थूल दर्शन है। लेकिन जो आत्मतत्त्वज्ञानी हैं वे चेतन और अचेतन सभी पदार्थ में परब्रह्म परमेश्वर के अस्तित्व को देखते हैं। भगवान् कहते हैं कि उनकी यह दृष्टि सही दृष्टि है— ''एकम् अविभक्तं यथोक्तम् आत्मानं यः पश्यति स विभक्तानेकात्मविपरीतदर्शिभ्यो विशिष्यते स एव पश्यति इति।'' (शङ्कराचार्य)।।२७।।

समं पश्यन् हि सर्वत्र # समवस्थितम् ईश्वरम्।
न हिनस्ति आत्मना-आत्मानं # ततो याति परां गतिम्।।२८।।

अनुवाद:- जो यह देखता है कि परमात्मा सब प्राणियों में समान रूप से विद्यमान है, वह कभी भी अपने आप से हिंसा नहीं करता अर्थात् उसका मन कभी नीचा नहीं होता। इसलिए वह परम गति को प्राप्त होता है।।२८।।

व्याख्या:- भगवान् यहाँ कहते हैं कि जो कभी स्वयं से हिंसा नहीं करता वह मोक्ष को प्राप्त करता है। लेकिन भगवान् की यह वाणी आम लोगों को स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आती है। अत: इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। वास्तव में हम कभी किसी को स्वयं से हिंसा करते नहीं देखते हैं। तो फिर भगवान् के इस कथन का अर्थ क्या है? प्रभु के इस कथन का सूक्ष्म अर्थ यह है कि अज्ञानियों की आंखें, विचार और हृदय सब अज्ञान से ढके हुए हैं। इसलिए वह सभी प्राणियों में मौजूद प्रत्यक्ष आत्मा को देखे बिना सभी निर्जीव शरीरों को आत्मा मानता है और धर्माधर्म का विचार किए बिना कार्य करता है और इस प्रकार पाप प्राप्त करने से शरीर को नष्ट कर देता है। फिर पुनर्जन्म लेता है और इस प्रकार अपने शरीर को फिर से नष्ट कर देता है। इस प्रकार उसकी आत्मा को नष्ट करने की क्रिया अनंत काल तक चलती रहती है, और इस तरह बार-बार उसके नए शरीर को नष्ट करना उसकी अपनी आत्म-हिंसा है।

इसका दूसरा अर्थ भी है। आत्मा सबके हृदय में निवास करती है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे जीव से हिंसा करता है तो यह अपने ही आत्मा द्वारा उस जीव की आत्मा से हिंसा करना होगा जो कभी नहीं करना चाहिए।

तो जो आत्मतत्त्व को ठीक से जानता है वह कभी भी इस तरह से अपने आप से हिंसा नहीं करता। वह सभी प्राणियों में एक अभिन्न आत्मा को देखता

है। निर्धारित कर्मों को ठीक से करने से वह कर्मबंधनों से मुक्त हो जाता है और ईश्वर में लीन हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है। फलस्वरूप उसका पुनर्जन्म नहीं होता।।२८।।

प्रकृत्या एव च कर्माणि # क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथा आत्मानम् # अकर्तारं स पश्यति।।२९।।

अनुवादः- संसार में जितने भी कर्म होते हैं, वे सब ईश्वर की माया शक्ति प्रकृति द्वारा होते हैं और आत्मा अकर्ता अर्थात् वह कोई कर्म नहीं करता। जो इस तत्त्वको सही ढंग से समझता है वह सही ज्ञानी व्यक्ति है।।२९।।

यदा भूत-पृथग-भावम् # एकस्थम् अनुपश्यति।
तत् एव च विस्तारं # ब्रह्म संपद्यते तदा।।३०।।

अनुवादः- जब कोई जीवों के विभिन्न भावों को परमात्मा में स्थित देखता है और देखता है कि वे सभी परमात्मा से उत्पन्न हैं, तो वह ब्रह्म को प्राप्त करता है।।३०।।

व्याख्याः- आत्मदर्शी मनुष्य संसार में विद्यमान ब्रह्म से पूरे जीव को अलग नहीं देखता है। वह सभी में एक परमात्मा को देखता है। तब उसके छान्दोग्योपनिषद् के ७।२५।२ मंत्र के अनुसार सभी ब्रह्म प्रतीत होते हैं - ''आत्मैवेदं सर्वम् इति।'' तब वह देखता है कि जीवन, आशा, संकल्प, आकाश, प्रकाश, जल, अन्न, सब कुछ आत्मा से उत्पन्न होता है और सब कुछ आत्मा के भीतर ही लुप्त हो जाता है - ''आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नम्'' इति। (७/२६/१)।

जब कोइ ज्ञानी पुरुष इसे महसूस करता है, तो वह सच्चिदानंदघन ब्रह्म को प्राप्त करता है।।३०।।

अनादित्वात् निर्गुणत्वात् # परमात्मा अयम् अव्ययः।
शरीरस्थः अपि कौन्तेय # न करोति न लिप्यते।।३१।।

अनुवादः- हे कौन्तेय! सनातन, निर्गुण और अविनाशी होनेसे परमात्मा यद्यपि शरीर में निवास करता है, फिर भी वह कोई कर्म नहीं करता, वह किसी कर्मबंधन में लिप्त नहीं होता।।३१।।

व्याख्याः- यहाँ परमात्मा को अनादि, सनातन, अव्यय और निर्गुण कहा गया है। लेकिन ऐसा क्यों कहा जाता है, इस पर चर्चा की जरूरत है। परमात्मा अनादि है। वे अनादि है क्योंकि उनसे पहले कोई नहीं थे जिनके द्वारा उन्हें बनाया गया था। उनका कोई सृष्टिकर्ता नहीं है। उसने खुद को बनाया। वे स्वयं का निर्माता हैं। वे आदिपुरुष हैं। चूँकि वे आदि हैं, इसलिए वे निराकार हैं, और चूँकि वे निराकार हैं, इसलिए वे अव्यय हैं, अर्थात् क्षयरहित हैं क्योंकि जिसका कोई अवयव नहीं है वह कैसे क्षयशील होगा? वे सत्त्व, रजः और तमः की त्रिगुण रहित हैं। जिस वस्तु में गुण होता है, उसके गुण का क्षय होता है। तो उस वस्तु का भी क्षय होता है। लेकिन वे गुण विहीन हैं। तो उनकी गुणवत्ता कम होने का सवाल ही नहीं उठता। इसलिए परमात्मा अव्यय यानी क्षयरहित हैं। आत्मा शरीर में निवास करती है लेकिन निर्गुण होने के कारण यह कोई क्रिया नहीं करती है और चूँकि यह कोई कर्म नहीं करती है इसलिए यह किसी भी कर्मफल में लिप्त नहीं होती है। गीता में पहले से ही कहा गया है कि वे अकर्ता हैं। जो अपने को कर्ता समझता है वह कर्म में लिप्त होता है। लेकिन वे अकर्ता है। इसलिए वे कर्मफल में लिप्त नहीं होते।।३१।।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यात् आकाशं न उपलिप्यते।
सर्वत्र अवस्थितो देहे तथा आत्मा न उपलिप्यते।।३२।।

अनुवाद:- आकाश सर्वत्र है। लेकिन वह किसी चीज में लिप्त नहीं होता क्योंकि वह बहुत सूक्ष्म है। इसी प्रकार आत्मा निर्गुण होने के कारण सभी शरीरों में सर्वव्यापी होते हुए भी शरीर के गुण-दोषों से प्रभावित नहीं होती।।३२।।

यथा प्रकाशयति एकः # कृत्स्नं लोकम् इमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं # प्रकाशयति भारत।।३३।।

अर्थ :- कृत्स्नं = समग्र

अनुवाद:- हे भारत! जैसे एक सूर्य सारे संसार को प्रकाशित करता है, वैसे ही एक आत्मा सभी शरीरों को प्रकाशित करता है।।३३।।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोः एवम् # अन्तरं ज्ञान-चक्षुषा।
भूत-प्रकृति-मोक्षं च # ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३४।।

अनुवाद:- जो शास्त्रों और गुरु के उपदेश से उत्पन्न आत्म साक्षात्काररूप ज्ञानचक्षुओं द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच अंतर और अविद्यारूपा जड़ा प्रकृति के बंधनों से मोक्ष का मार्ग जान लेते हैं वे परम गति प्राप्त करते हैं।।३४।।

व्याख्या:- यहाँ संक्षेप में मोक्ष क्या है यह जान लेते हैं। शब्दकोश मोक्ष शब्द को परिभाषित करता है जिसका अर्थ है - 'अपवर्ग' अर्थात् वह जो मनुष्य को संसार के बंधनों से मुक्त या अलग करता है। रामानुजाचार्य ने मोक्ष शब्द की बड़ी सुंदर व्याख्या की है - ''मोक्ष्यते अनेन इति मोक्षः।'' अर्थात् जिसके द्वारा छुड़ाया जाय उसका नाम मोक्ष है। इसलिए हमें यह जानने की आवश्यकता है कि किससे और कैसे मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है। यह श्लोक 'भूत-प्रकृति-मोक्षं' अर्थात् भूत-प्रकृति से मुक्ति की बात करता है।

अब 'भूत' शब्द का अर्थ क्या है? प्रकृति में दिखाई देने वाली सभी वस्तुओं को भूत कहा जाता है। अतएव भौतिक जगत् के समस्त दृश्य पदार्थों के प्रति आसक्ति के बंधन से मुक्त होकर सच्चिदनंन्दघन परमात्मा में लीन हो जाना मोक्ष कहलाता है।

अब प्रश्न - यह मोक्ष कैसे प्राप्त होता है ? इस अध्याय के सातवें श्लोक से लेकर ग्यारहवें श्लोक तक हमने देखा कि भगवान् ने अमानित्व यानी अपने गुणों का अभिमान न करना, दंभहीनत्व अर्थात् अपने रूप, यौवन, वैभव, शक्ति, शिक्षा आदि का अभिमान नहीं करना, अहिंसा, सहनशीलता, सरलता आदि विभिन्न विशेषताओं के बारे में कहा। उनका कहना है कि यही मानव-मन का सच्चा और आदर्श ज्ञान है और इसके अलावा लोग जिसे ज्ञान समझते हैं, वह वास्तव में अज्ञान है। जब कोई मनुष्य उपर्युक्त ज्ञान प्राप्त कर लेता है और अपने हृदय से अवशिष्ट सभी अज्ञान को मिटा देता है, तो क्षेत्र यानी शरीर और क्षेत्रज्ञ यानी आत्मा के ज्ञान के माध्यम से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच के अंतर को जानकर, अमानित्व, दंभहीनत्व जैसे गुणों को हृदय में ठीक से उपलब्धि करके तदनुसार कार्य करते हुए सभी प्रकार के संसारबंधन से मुक्त हो जाता है। तब वह सच्चिदनंदघन परमात्मस्वरूपके साथ स्वयं को विलय करके मोक्ष प्राप्त करता है।।।३४।।

।। तेरहवाँ अध्याय समाप्त ।।

चौदहवाँ अध्याय

गुणत्रय-विभाग योग

श्रीभगवान् उवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि # ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यत् ज्ञात्वा मुनयः सर्वे # परां सिद्धिम् इतो गताः।।१।।

अनुवादः- श्रीभगवान् ने कहा- अब मैं तुम्हें उन ज्ञानों में भी श्रेष्ठ ज्ञान फिर कहूँगा, जिसे जानकर मुनिगण इस देह के बंधनों से मुक्त होकर परिशुद्ध आत्मरूप अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।।१।।

व्याख्याः- अब भगवान् ने अर्जुन को उत्तम ज्ञान के बारे में बताने का प्रयास किया। हमें यह जानने की जरूरत है कि उत्तम ज्ञान क्या है। शंकराचार्य कहते हैं- ''परं परवस्तुविषयत्वात् — ज्ञानं सर्वेषां ज्ञानानाम् उत्तमम् उत्तमफलत्वात्'' (शङ्कराचार्य गीताभाष्य)। अर्थात् वह ज्ञान जो परवस्तुविषयक है अर्थात् जो ज्ञान परमात्मा के स्वरूप को प्रकट करता है वह परम ज्ञान कहलाता है। और जो ज्ञान अच्छा फल देता है अर्थात् जीवात्मा को प्रकृति के बंधनों से हमेशा के लिए मुक्त कर देता है और उसे ईश्वर से जोड़ देता है वह उत्तम ज्ञान कहलाता है।।१।।

इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य # मम साधर्म्यम् आगताः।
सर्गे अपि न उपजायन्ते # प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

अनुवादः- इस ज्ञान के द्वारा मुनिगण मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं। फलस्वरूप वे सृष्टि के समय भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलय के समय भी व्याकुल नहीं होते ।।२।।

व्याख्या:- भगवान् के स्वरूप को प्राप्त करने का अर्थ है निर्गुणता को प्राप्त करना। भगवान् हर तरह से सत्त्व, रज: और तम: ये तीन गुण से रहित हैं, अर्थात् वे निर्गुण हैं। जब परमेश्वर का कोइ भक्त भगवान् का स्वरूप प्राप्त कर लेता है, तो ये तीन प्रकार के गुण उसमें कोई कार्य नहीं कर सकते हैं। ये तीन गुण सांसारिक त्रिताप दहन के कारण हैं। इसलिए त्रिगुण-पीड़ित व्यक्ति आत्मतत्त्व को न जानकर माया द्वारा पथभ्रष्ट हो जाता है, और नश्वर जीवन के प्रत्यक्ष सुख को सत्य मानकर जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्ति अनुभव करता है। इसलिए मृत्यु के समय इस संसार से अपना मोह त्यागने पर उसे तीव्र पीड़ा होती है। इसलिए उसे इस नश्वर, मृत्युमय, ज्वालामय संसार में बार-बार जन्म लेना पड़ता है। लेकिन जो लोग परमेश्वर भगवान् की तरह निर्गुणता प्राप्त करते हैं, उन्हें इस संसार की किसी भी वस्तु के लिए कोई लगाव, ममता, मोह, लोभ, वासना, सुख, दु:ख नहीं होता है। नतीजतन, मृत्यु के समय उन्हें कोई दर्द महसूस नहीं होता है। फिर प्रलय के बाद जब सर्ग अर्थात् सृष्टि का समय फिर से आता है, तब भी जब ब्रह्मादि देवता फिर से जन्म लेते हैं, तो वे फिर से जन्म नहीं लेते हैं क्योंकि उनका मोक्ष पूर्व जन्म में मृत्यु के साथ ही प्राप्त होता है।।२।।

मम योनि: महद् ब्रह्म # तस्मिन् गर्भं दधामि अहम्।
संभव: सर्वभूतानां # ततो भवति भारत।।३।।

अनुवाद:- हे भारत! मेरी गर्भाधानस्थान महद् ब्रह्म प्रकृति है। मैंने इस महद् ब्रह्म के गर्भ मैं बीज बोता हूँ और उसी के फलस्वरूप समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है।।३।।

व्याख्या:- परमात्मा की माया सत्त्व, रज: और तमोमयी प्रकृति समस्त प्राणियों की जन्मस्थली है। प्रकृति को अक्सर शास्त्रों में महद् ब्रह्म के रूप में जाना जाता है। मुण्डकोपनिषद के मंत्र १।१।९ में प्रकृति को 'ब्रह्म' कहा गया है - ''य: सर्वज्ञ: सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तप:। तस्मादेतदब्रह्म नामरूपमन्नं

च जायते इति।'' अर्थात् जो सर्वज्ञ, सर्वविद् और सर्वज्ञता जिसकी तपस्या है उस ब्रह्म से हिरण्यगर्भ, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है।

प्रकृति को किसी भी तरह से देश और काल के अंतर के संबंध में विभाजित नहीं किया जा सकता है। इसलिए प्रकृति 'महान' है और अपने समस्त कर्मों की वृद्धि के कारण वह 'ब्रह्म' है– ''देशतः कालतश्चानवच्छिन्नत्वान्महद् बृंहणत्वात्स्वकार्याणां वृद्धिहेतुत्वाद्वा ब्रह्म, प्रकृतिरित्यर्थः'' (श्रीधराचार्य, गीताभाष्य)। रामानुजाचार्य कहते हैं कि अचेतना प्रकृति महत्तत्त्व और अहंकार आदि समस्त विकारों की कारण है। इसलिए प्रकृति को 'महद् ब्रह्मं' कहा जाता है - ''अचेतना प्रकृतिः महदहङ्कारादिविकाराणां कारणतया 'महद् ब्रह्म' इति उच्यते।''

ईश्वर क्षिति (पृथ्वी), अप(जल), तेज (अग्नि), मरुत् (वायु), व्योम (आकाश), मन, बुद्धि एवं अहंकार इन आठ भागों में विभक्त अपनी माया स्वरूप महद्ब्रह्म प्रकृति के गर्भ में गर्भ को स्थापन करता है । इसका अर्थ यह है कि जो भी प्राणी प्रलय के समय अपने-अपने संस्कार के साथ परमेश्वर की शरण लेते हैं, सृष्टि के प्रारंभ में भगवान् विशेष रूप से अपने आश्रय में रहने वाले जीवों को इस प्रकृति से जोड़ते हैं, और परिणामस्वरूप, सभी जीव-जगत् की उत्पत्ति प्रकृति से होती है। यह प्रकृति के गर्भ में ईश्वर का गर्भ स्थापन करना है। यहाँ योनि शब्दका प्रयोग जरायु के अर्थ में नहीं, बल्कि प्रकृति के जीव सृष्टिका क्षेत्र के रूपक के रूप में किया गया है। ।।३।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय # मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद् योनिः # अहं वीजप्रदः पिता।।४।।

अनुवादः- हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! जो देव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, पतंगे, आदि विभिन्न प्रजातियों में उत्पन्न होते हैं उन सभी शरीरों की जननी है अचेतन प्रकृति और चूंकि मैं उस प्रकृति के गर्भ में पूरे जीवकुल को स्थापित करता हूँ, इसलिए मैं उन सबका पिता हूँ।।४।।

सत्त्वं रजः तमः इति # गुणाः प्रकृति-सम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो # देहे देहिनम् अव्ययम्।।५।।

अनुवादः- हे महाबाहो! सत्त्व, रजः और तमः प्रकृति से उत्पन्न ये तीन गुण अविनाशी आत्मा को शरीर में बांधते हैं।।५।।

व्याख्याः- आत्मा सभी प्रकार से विकाररहित है। इसलिए उसे बांधा नहीं जा सकता। तो भगवान् यहाँ सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के माध्यम से आत्मा को शरीर से बाँधने के बारे में क्यों कहते हैं? वह बंधन क्या है? दरअसल, आत्मा का ऐसा बंधन अज्ञानता के कारण सोचा जाता है। ये तीनों गुण अपने-अपने भोगों, शरीर और उससे जुड़े पदार्थों में अपनी ममता, आसक्ति और अभिमान उत्पन्न करते हैं। वे ही इन तीनों गुणों को अपने शरीर से जोड़ते हैं। अर्थात् जीवात्मा के तीन गुणों से शरीर और उससे संबंधित पदार्थ में जो ममता, आसक्ति और अभिमान उत्पन्न होते है यही है शरीर के साथ आत्मा का बंधन।।५।।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् # प्रकाशकम् अनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति # ज्ञानसङ्गेन च अनघ।।६।।

अनुवादः- हे निष्पाप अर्जुन! इन तीन गुणों में सत्त्वगुण सबसे पवित्र, प्रकाशक और निर्दोष है क्योंकि यह निर्मल है। इसलिए यह सत्त्वगुण सुख और ज्ञान देकर जीवात्मा को उसके साथ बांधता है और शुद्ध सुख और ज्ञान प्रदान करता है अर्थात् यह बंधन मनुष्य के हृदय में शुद्ध सुख और ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा पैदा करता है।।६।।

व्याख्याः- वास्तव में आत्मा निर्विकार है, उसका सुख-दुःख नाम की कोई चीज नहीं है। लेकिन अज्ञानता के कारण लोग सोचते हैं कि आत्मा सुख-दुःख के बंधनों में बँधी हुई है। जब विषयरूप सुख को विषयी आत्मा के साथ 'मैं सुखी हूँ' इस तरह का संवंन्ध वनाकर आत्मा को भूलवश सुख

के साथ जोड़ दिया जाय तो वह अविद्या कहलाती है - ''सुखी अहम् इति विषयभूतस्य सुखस्य विषयिणि आत्मनि संश्लेषापादनं मृषा एव सुखे सञ्जनम् इति। सा एषा अविद्या'' (शङ्कराचार्य गीताभाष्य १४।६।)। शंकराचार्य यह भी कहते हैं कि विषयी अर्थात् आत्मा का कोई विषयधर्म कभी नहीं होते - ''न हि विषयधर्मो विषयिणो भवति।'' इच्छा से लेकर धृति तक सभी धर्म विषयरूप क्षेत्र के धर्म हैं। लेकिन सत्त्वगुण ज्ञान की सहायता से आत्मा को सुख से जोड़ता है। तो जिस आत्मा का सुख से कोई संबंध नहीं है, सत्त्वगुण उस सुख से आत्मा को जोड़ देता है । फिर, चूँकि सत्त्वगुण ज्ञान देता है और चूँकि ज्ञान सुख देता है, यह ज्ञान क्षेत्र या अंतकरण से संबंधित है। लेकिन इसका क्षेत्रज्ञ यानी आत्मा से कोई संबंध नहीं है। किंतु अविद्या यानी अज्ञानता के कारण लोग सोचते हैं कि ज्ञान का संबंध आत्मा से है। इसलिए वह उससे जुड़ जाता है जो कर्मबंधन का कारण बनता है क्योंकि सुख और ज्ञान दोनों के प्रति आकर्षण ही मन में आसक्ति पैदा करता है - ''सुखे इव ज्ञानादौ सङ्गो मन्तव्यो'' इति (शङ्कराचार्य)। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान के साथ आसक्ति के तथाकथित संबंध को अच्छी तरह से समझने की उपदेश दी।।६।।

रजो रागात्मकं विद्धि # तृष्णा-सङ्ग-समुद्भवम्।
तत् निबध्नाति कौन्तेय # कर्मसङ्गेन देहिनम्।।७।।

अनुवादः- हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! रजोगुण रागात्मक अर्थात् कामना-वासना, आसक्ति-आकांक्षा का निर्माता है। यही रजोगुण कर्म के प्रति आसक्ति द्वारा जीवात्मा को बाँधता है।।७।।

तमः तु अज्ञानजं विद्धि # मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः # तत् निबध्नाति भारत।।८।।

अनुवादः- तमोगुण अज्ञानता से उत्पन्न होता है और मोह उत्पन्न करता है। यह गुण जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य, नींद आदि से बांधता है।।८।।

सत्त्वं सुखे संजयति # रजः कर्मणि भारत।

ज्ञानम् आवृत्य तु तमः # प्रमादे संजयति उत।।९।।

अनुवादः- हे अर्जुन! सत्त्व गुण का कार्य है जीव को शुद्ध सुख से जोड़ना, रजोगुण का उद्देश्य है जीव को कामना-वासना-आसक्ति से जोड़ना और तमोगुण का कार्य है ज्ञान को आच्छादित करके मन में अज्ञान, प्रमाद आदि को उत्पन्न करना।।९।।

रजः तमः च अभिभूय # सत्त्वं भवति भारत।

रजः सत्त्वं तमश्चैव # तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

अनुवादः- हे अर्जुन! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्व गुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण और सत्त्व गुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है।।१०।।

सर्वद्वारेषु देहे अस्मिन् # प्रकाश उपजायते।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद् # विवृद्धं सत्त्वम् इति उत।।११।।

अनुवादः- जब शरीर की सब इंद्रियद्वारों यथा आँख, कान आदि में ज्ञानका प्रकाश होता है, तब समज्झो कि शरीर में सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है।।११।।

लोभः प्रवृत्तिः आरम्भः # कर्मणाम् अशमः स्पृहा।

रजसि एतानि जायन्ते # विवृद्धे भरत-ऋषभ।।१२।।

अनुवादः- हे भरतश्रेष्ठ! रजोगुण बड़ने पर लोभ, प्रवृत्ति, कर्म करने का उत्साह, अशांति, स्पृहा आदि उत्पन्न होते हैं।।१२।।

अप्रकाशः अप्रवृत्तिः च # प्रमादो मोह एव च।
तमसि एतानि जायन्ते # विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

अनुवादः- हे कुरुनन्दन! तमोगुण के बढ़ने से विवेकहीनता, उत्साह की कमी, प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है।।१३।।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु # प्रलयं याति देहभृत्।
तदा उत्तम-विदां लोकान् # अमलान् प्रतिपद्यते।।१४।।

अनुवाद :- यदि कोई जीवात्मा की मृत्यु उस समय होती है जब उसमें सत्त्वगुण बढ़ता है, तो वह आत्मज्ञानी पुरुष निर्मल लोकों को प्राप्त होता है।।१४।।

रजसि प्रलयं गत्वा # कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनः तमसि # मूढ-योनिषु जायते।।१५।।

अनुवादः- यदि कोई जीवात्मा की मृत्यु उस समय होती है जब उसमें रजोगुण बढ़ता है तो वह कर्मों की आसक्ति वाले मनुष्यों में जन्म लेता है और तमोगुण में मरा हुआ मनुष्य अन्य पशु- पक्षी आदि मूढयोनियों में जन्म लेता है।।१५।।

कर्मणः सुकृतस्य आहुः # सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसः तु फलं दुःखम् # अज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

अनुवादः- विद्वानों का कथन है कि सुकृत अर्थात् शुद्ध सात्त्विक कर्म करने का फल निर्मल सुख देता है, लेकिन रजोगुण का परिणाम दुखदायी होता है और तमोगुण के प्रभाव में किए गए कार्यों से अज्ञान की प्राप्ति होती है।।१६।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् अर्जुन को बता रहे हैं कि सात्त्विक, राजस और तामस कर्म क्या होते हैं और उन कर्मों का क्या फल होता है। शास्त्रविहित सभी कर्म जो निष्काम मन से किए जाते हैं सात्त्विक कर्म कहलाते हैं। ऐसे कर्मों के संस्कार से मन में ज्ञान-वैराग्य आदि निर्मल भाव उत्पन्न होते हैं और इस क्रिया का सुफल मनुष्य को मृत्यु के समय एक दु:ख रहित निर्मल लोक की ओर ले जाता है जिससे वह बाद में आत्मज्ञानी सात्त्विक परिवार में पैदा होता है।

राजस कर्मों वे कर्म है जो केवल भोग के उद्देश्य से किए जाते हैं। इन सभी कार्यों को करते समय लोगों को कड़ी मेहनत करनी पड़ती है जो परिणाम में दुख की ओर ले जाती है। ऐसे कर्मों के संस्कार से हृदय में सदा कामना-वासना, भोग-लालसा आदि पैदा होती हैं जो मानव हृदय की शांति को नष्ट कर देती हैं, मन को गहरे दुख से भर देती हैं और अविद्या तथा अज्ञानता से निर्देशित अंधा आदमी सोचता है कि यह ही सुख है लेकिन वास्तव में यह एक गहरा दुख है। यह कर्म मानव मन को भोग के प्रति अत्यधिक लगाव से संक्रमित करता है और उसे बार-बार तीव्र दर्दनाक जन्म और मृत्यु के चक्र में डुबो देता है।

हठकारी की तरह परिणामों के बारे में सोचे बिना मूर्खतापूर्ण तरीके से किए गए कार्यों को तामस कर्म कहा जाता है। इन सभी कार्यों में हिंसा, क्रोध आदि शामिल हैं। ऐसे कर्मों का फल मनुष्य को पाप के मार्ग पर ले जाता है जिससे मनुष्य का हृदय तीव्र मोहग्रस्त हो जाता है। इन कर्मों को करने के फलस्वरूप मनुष्य मृत्यु के बाद घोर नरक में गिर जाता है और उसे पशु, कीट-पतंग जैसी हीन योनियों के गर्भ में बार-बार जन्म लेना पड़ता है। चूंकि इस प्रकार के जन्म में उसके पास भगवान् से संबंध स्थापित करने का कोई साधन नहीं होता है इसलिए उसके लिए मुक्ति के सभी रास्ते बंद हो जाते हैं।।१६।।

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं # रजसो लोभ एव च।
प्रमाद-मोहौ तमसो # भवतः अज्ञानम् एव च।।१७।।

अनुवादः- सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान की उत्पत्ति होते हैं ।।१७।।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था # मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्य-गुण-वृत्तिस्था # अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

अनुवादः- जिनमें सत्त्वगुण होता है उन्हें ऊपर लोक अर्थात् स्वर्ग में स्थान प्राप्त होता है, जिनमें रजोगुण होता है उन्हें मध्य अर्थात् मनुष्य लोक में स्थान प्राप्त होता है। और जो निकृष्ट वृत्तिका आदी है वह तमोगुणी का गति अधोमुखी होता है अर्थात् वह नरक में जाते है।।१८।।

न अन्यं गुणेभ्यः कर्तारं # यदा द्रष्टा अनुपश्यति।
गुणेभ्यः च परं वेत्ति # मद्भावं सः अधिगच्छति।।१९।।

अनुवादः- जब द्रष्टा ज्ञानी मनुष्य कार्य, कारण और विषय के आकार में परिणत हुए गुणों को कर्ता मानता है और सोचता है कि गुणों के अलावा और कोई कर्ता नहीं है और उपरोक्त तीनों गुणों से परे अंतर्यामी अकर्ता आत्मा को जान सकता है तभी वह मेरा भाव अर्थात् मुझमें भक्ति प्राप्त करता है।।१९।।

व्याख्याः- भगवान् तीसरे अध्याय के २८ वें श्लोक में कहते हैं कि प्रकृति के सत्त्व, रजः और तमः तीनों गुण ही सब कार्य कर रहे हैं। इसमें किसी व्यक्ति की कोई भूमिका नहीं है। क्योंकि जो अज्ञानी हैं वे इस सत्य को ठीक से नहीं जानते, उन्हें 'मैं', 'मेरा' आदि अहंकार का मिथ्या बोध होता है। लेकिन जो ज्ञानी हैं उनके दिलों में पारमार्थिक ज्ञान का प्रकाश है, वे सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के प्रभाव को दूर करने में सक्षम हैं। इसलिए वे सही ढंग से समझते हैं

कि वे वास्तव में किसी भी कर्म के कर्ता नहीं हैं, वे जो कुछ भी करते हैं वह सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों द्वारा किया जाता है, आत्मा पूरी तरह से निष्क्रिय, त्रिगुणातीत है। तब वे ऐहिक और पारलौकिक सभी प्रकार की कामनाओं और वासनाओं से मुक्त होकर आत्मा को महसूस कर सकते हैं, और तब ही वे परमेश्वर की परा भक्ति प्राप्त कर सकते हैं। ।१९।।

गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन् # देही देह-समुद्भवान्।
जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैः # विमुक्तः अमृतम् अश्नुते।।२०।।

अनुवादः- यह देही अर्थात् जीवात्मा प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों को जीतकर और जन्म, मरण, क्षय और दुःखों से मुक्त होकर अमृतरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।।२०।।

अर्जुन उवाच

कैः लिङ्गैः त्रीन् गुणान् # एतान् अतीतो भवति प्रभो।
किम् आचारः कथं च एतान् # त्रीन् गुणान् अतिवर्तते।।२१।।

अनुवादः- अर्जुन ने कहा- हे प्रभो! कौन से लक्षण बताते हैं कि एक व्यक्ति ने इन तीन गुणों को पार कर लिया है? वह किस आचरणवाला होता है? और उन्होंने इन तीन गुणों पर कैसे काबू पाया? ।।२१।।

श्रीभगवान् उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च # मोहम् एव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि # न निवृत्तानि काङ्क्षति।।२२।।

अनुवादः- भगवान ने कहा—जब मनुष्य सत्त्व गुण का परिणाम ज्ञान, रजो गुण का परिणाम कर्म में प्रवृत्ति और तमो गुण का परिणाम अज्ञान और मोह - इन सब पाने के बाद यदि वह उनसे नाराज नहीं होता है, और यदि इन विषयों हृदय से निकल जाता है, और वह उन्हें पाने की इच्छा नहीं रखता, तब वह सब गुणों से परे माना जाता है।।२२।।

उदासीनवत् आसीनो # गुणैः यः न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इति एव # यः अवतिष्ठति न इङ्गते।।२३।।

अनुवादः– जो उदासीन होकर साक्षी भाव से रहता है और गुणों की कर्मों से विचलित नहीं होता है और सोचता है कि गुणों अपना ही कार्य कर रहे हैं और गुणों के कर्मों से उसका कोई लेना-देना नहीं है और मन की चंचलता के बिना परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहता है एवं उस स्थिति से कभी विचलित नहीं होता (कहा जाता है कि वह गुणों के प्रभाव से परे है)।।२३।।

समदुःखसुखः स्वस्थः # सम-लोष्ट-अश्म-काञ्चनः।
तुल्य प्रिय अप्रियो धीरः # तुल्य-निन्दा-संस्तुतिः।।२४।।

अनुवादः– जिसके लिए सुख-दुःख दोनों समान हैं, जो आत्मस्वरूप में स्थित है अर्थात् जो अपने में वास करता है, जो मिट्टी या पत्थर के ढेले को या सोने के पिंड को समान दृष्टि से देखता है अर्थात् जिसके लिए न तो कोई मूल्यवान है और न ही कोई मूल्यहीन है, वह जो कुछ भी प्राप्त करता है जो प्रिय या अप्रिय है दोनों ही स्थिति में शांत रहता है, जिसके लिए निंदा और स्तुति समान है अर्थात् यदि कोई उसकी निंदा करता है तो वह क्रोधित नहीं होता अथवा उसकी स्तुति करने पर वह आनंद से उद्वेलित नहीं होता (कहा जाता है कि वह गुणों के प्रभाव से परे है)।।२४।।

मान-अपमानयोः तुल्यः # तुल्यो मित्र अरि-पक्षयोः।
सर्वारम्भ-परित्यागी # गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

अनुवादः– जिसके लिए मान, अपमान, मित्र, शत्रु सब समान हैं, जिसने शरीर होते हुए भी सब 'आरंभ' यानी प्रयत्नों को त्याग दिया है, वह गुणों के प्रभाव से परे कहा जाता है।।२५।।

व्याख्याः– 'सर्वारम्भ-परित्यागी' पद का क्या अर्थ है? 'आरम्भ' शब्द का अर्थ है पहल। सत्त्व, रज और तमगुणो को अतिक्रम करनेवाला पुरुषौं के शरीर, इंद्रियों, मन और बुद्धि द्वारा किया गया कोई भी शास्त्रोक्त कर्म

जिसका उद्देश्य लोगों को बुरे रास्ते से निकालकर अच्छे रास्ते पर लाना है वे 'आरम्भ' कहलाता है। शंकराचार्य गीता पर अपनी टीका में कहते हैं कि दृष्ट और अदृष्ट परिणामों के लिए किए गए सभी कार्यों को 'आरम्भ' कहा जाता है - दृष्टादृष्टार्थानि कर्माणि आरभ्यन्ते इति आरम्भाः।

उन्होंने फिर कहा - "इहामुत्रफलभोगार्थानि कामहेतूनि कर्माणि सर्वारम्भाः।" अर्थात् 'इह' अर्थात् इस लोक और 'अमूत्र' अर्थात् परलोक के लिए जितने भी कामनामूलक कर्म किए जाते हैं, वे 'सर्वारम्भ' कहलाते हैं। तब उन्होंने कहा - ''तान् परित्यक्तं शीलम् अस्य इति सर्वारम्भपरित्यागी।'' अर्थात् जिनमें उन समस्त कर्मों को त्यागने का 'शील' अर्थात् स्वभाव है, वह 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहलाता है। अर्थात् भगवान् ने इन शब्दों द्वारा कहा है कि जो कर्म हृदय में किसी पार्थिव या पारमार्थिक फल की इच्छा से किए जाते हैं, वे ही कर्मबंधन के कारण होते हैं और जब तक मन से उन्हें पूरी तरह से त्यागने का स्वभाव विकास नहीं हो जाता, तब तक किसी के लिए परमेश्वर का प्रिय भक्त बनना संभव नहीं है।।२५।।

मां च यः अव्यभिचारेण # भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्य एतान् # ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।२६।

अनुवादः- जो भक्तियोग द्वारा भक्तिपूर्वक एकमन से मेरा भजन करता है, वह इन सब गुणों से परे होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त करने का अधिकारी समझा जाता है ।।२६।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठा अहम् # अमृतस्य अव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य # सुखस्य ऐकान्तिकस्य च।।२७।।

अनुवादः- मैं ही वह निर्विशेष ब्रह्म हूँ जो अविनाशी, अचल, शाश्वत धर्मस्वरूप है, जिसे ज्ञानयोगरूप धर्म से प्राप्त किया जा सकता है और जो ऐकांतिक सुखस्वरूप अर्थात् व्यभिचारहीन आनंदमय है उस ब्रह्म के मैं परम आश्रय हुँ।।२७।।

।। चौदहवाँ अध्याय समाप्त ।।

पंद्रहवाँ अध्याय

पुरुषोत्तम-योग

श्रीभगवान् उवाच

ऊर्ध्वमूलम् अध:शाखम् # अश्वत्थं प्राहु: अव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि # यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

अनुवाद:- भगवान् ने कहा - संसार अश्वत्थ वृक्ष के समान है जिसकी मूल ऊपर की ओर और शाखाएँ नीचे की ओर होती हैं। यह वृक्ष अमर है। वेद इस वृक्ष के पत्ते हैं। जो इस वृक्ष को ठीक से जानता है वह वेदज्ञ है।।१।।

व्याख्या:- शास्त्रों में अश्वत्थ वृक्ष को सभी वृक्षों में श्रेष्ठ और पवित्र माना गया है। इसीलिए भगवान् ने संसार की तुलना अश्वत्थ वृक्ष से की है। भगवान् कहते हैं कि इस संसाररूपी वृक्ष की मूल सबसे ऊपर है और शाखाएँ नीचे हैं। कठोपनिषद के मंत्र २।३।१ में भी संसार की तुलना अश्वत्थ वृक्ष से की गई है और कहा गया है कि इस वृक्ष की मूल ऊपर की ओर है और शाखाएं नीचे की ओर हैं - ''ऊर्ध्वमूल: अवाक शाख एष: अश्वत्थ: सनातन:।'' वास्तव में हम जितने भी अश्वथ के पेड़ देखते हैं, उनकी मूल नीचे लटकती शाखाओं के ऊपर ओर बढ़ती हैं। परंतु यहाँ 'मूल' शब्द का प्रयोग 'जड़' के अर्थ में नहीं अपितु तात्त्विक रूप से 'कारण' के अर्थ में किया गया है। भगवान् नारायण ने स्वयं इस संसारवृक्ष की रचना और विस्तार किया। इसलिए वे इस संसारवृक्ष की जड़ यानी कारण हैं। शास्त्रों में स्थिति के अनुसार नीचे से ऊपर तक वायुलोक, चन्द्रलोक, विद्युतलोक, सूर्यलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक आदि विभिन्न लोकों का वर्णन मिलता है। इन सभी लोकों के ऊपर ब्रह्मलोक है जहाँ ब्रह्मा निवास

करते हैं और सभी लोकों के स्वामी हैं नारायण। चूँकि नारायण संसार वृक्ष के मूल निर्माता हैं और चूँकि वे सबसे ऊपर हैं, इसलिए कहा जाता है कि इस संसार वृक्ष का मूल या कारण सबसे ऊपर है।

जब नारायण ने संसार की रचना की, तो सबसे पहले उन्होंने ब्रह्मा की रचना की। इसलिए, चूंकि उन्होंने ब्रह्मा को बनाया, ब्रह्मा इस संसार वृक्ष की शाखा है क्योंकि पहले वृक्ष का जन्म होता है और फिर इसकी अन्य शाखाओं का निर्माण होता है। ब्रह्मा नारायण के अधीन हैं। इसलिए शाखा के रूप में ब्रह्मा को नारायण के नीचे रखा गया है और अन्य शाखाएं जैसे देवता, मनुष्य, पशु, कीट आदि गुण के अनुसार क्रमिक रूप से नीचे हैं। इसलिए कहा जाता है कि संसारवृक्ष की शाखाएँ नीचे की ओर होती हैं।

यहाँ अश्वत्थ वृक्ष को संसार के रूप में अविनाशी कहा गया है। लेकिन वास्तव में अश्वत्थ का पेड़ अमर नहीं है। कुछ लोग कभी-कभी किसी अश्वत्थ के पेड़ को मरते हुए देखते हैं। लेकिन संसारवृक्ष अनादि काल से अस्तित्व में है और किसी के लिए भी इसका अंतिम समय देखना संभव नहीं है। यह प्रलय के दौरान ही होता है कि संसारवृक्ष अस्थायी रूप से समाप्त हो जाता है और भगवान् की इच्छा से यह फिर से प्रकट हो जाता है। लेकिन आम लोगों के लिए ये प्रलयकाल देखना संभव नहीं है। इसलिए इस संसारवृक्ष को अमर कहा जाता है। इसके अलावा, नारायण इस वृक्ष की मूल हैं और अविनाशी हैं। जब तक मूल जीवित हैं तब तक वृक्ष नहीं मरेगा। इसीलिए संसार के रूप में अश्वत्थ वृक्ष को अविनाशी कहा जाता है।

भगवान् ने वेदों को संसार-रूप वृक्ष के पत्तों के रूप में वर्णित किया है। वृक्ष में पहले शाखाएँ उत्पन्न होती हैं, फिर उसके सिरे पर पत्तियाँ बनती हैं। ईश्वर ने पहले ब्रह्मा की रचना की और फिर ब्रह्मा से वेदों की रचना हुई। नतीजतन, चूंकि ब्रह्मा को संसार वृक्ष की एक शाखा के रूप में वर्णित किया गया है इसलिए उसके द्वारा रचित वेदों को उस शाखा के पत्ते के रूप में

वर्णित किया गया है। जिस प्रकार एक वृक्ष के पत्ते वृक्ष की रक्षा और वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार वेद भी धर्म-अधर्म, उसके कारण और प्रभाव को प्रकट करके इस संसाररूप वृक्ष की रक्षा और वृद्धि करते हैं। इसलिए वेदों को संसारवृक्ष की पत्तियों के रूप में वर्णित किया गया है।

भगवान् कहते हैं कि जो इस संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष के तत्त्व को जानता है वह वेदज्ञ है। वस्तुत: मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य मोक्ष है। यदि मनुष्य संसार के मोह से मुक्त नहीं हो सकता तो उसके लिए मोक्ष प्राप्ति का कोई उपाय नहीं है। इसलिए लोगों को मोक्ष के लिए इस संसारवृक्ष के बंधनों को तोड़ना होगा। लेकिन एक सख्त पेड़ को काटने के लिए धारदार हथियार की जरूरत होती है। लेकिन उन्हें वह हथियार कहां से मिलेगा? वेदों वे हथियार हैं जिनके ज्ञान और तद्विषयक अनुष्ठान लोगों को संसार के बंधनों को तोड़ने में मदद करते हैं। वेदों का सम्यक ज्ञान लोगों को सूचित करता है कि इस संसारवृक्ष की मूल सच्चिदानंदघन नारायण है और ब्रह्मादि देवता उनका हिस्सा हैं और यह संसार नश्वर है लेकिन प्रवाह में शाश्वत है। मूल वाले इस संसारवृक्ष के अतिरिक्त और कुछ भी जानने योग्य नहीं है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि जो मूल से पत्र तक अर्थात् नारायण से वेद तक को ठीक-ठीक जानता है, वह सर्वज्ञ है और उसके लिए मोक्ष के मार्ग पर आगे बढ़ने में कोई बाधा नहीं रह जाती।

इस संदर्भ में आम पाठक के ज्ञान के लिए वेद शब्द का क्या अर्थ है यह चर्चा करना आवश्यक है । वेद शब्द का अर्थ इस प्रकार है -

(१) 'विद् ज्ञाने' - इस धातु से वेद शब्द आया है जिसका अर्थ है कि वेद सभी ज्ञान के भंडार हैं;

(२) 'विद् विचारणे' - इसी धातु से वेद शब्द की भी उत्पत्ति होती है जिसका अर्थ है कि ऐहिक अर्थात् जड़जगत् का विचार करते समय पारमार्थिक पदार्थ पर विचार किया जा सकता है जिसकी सहायता से यह वेद कहलाता है;

(३) 'विद् सत्तायाम्'- इसी धातु से वेद शब्द की भी उत्पत्ति होती है जिसका अर्थ है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सार को जाना जाता है जिसकी सहायता से उसे वेद कहा जाता है;

(४) 'विद् लृ लाभे' - यदि इस धातु से 'वेद' शब्द बना है तो 'वेद' शब्द का अर्थ यह है कि जिसका अनुशीलन की सहायता से इस ऐहिक जगत् में रहने के बावजूद ब्रह्मानंद सुख अर्थात् ब्रह्म के अनुभव या ज्ञान से चिदानंद को प्राप्त किया जा सकता है उसे वेद कहा जाता है।।१।।

अधश्च ऊर्ध्वं प्रसृताः तस्य शाखा # गुण-प्रवृद्धा विषय-प्रवालाः।
अधश्च मूलानि अनुसंततानि # कर्म-अनुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

अनुवादः- इस वृक्ष की शाखाएँ सत्त्व, रज और तम गुणों से नीचे और ऊपर की ओर फैली हुई हैं। तमोगुण से बढ़ी हुई शाखाएँ नीचे की ओर होती हैं, रजोगुण से बढ़ी हुई शाखाएँ मध्य भाग में समांतर रूप से रहता है और जो सत्त्वगुण से बढ़े हैं वे ऊपर की ओर हैं। विषय इस वृक्ष के पल्लव या शाखाएं हैं। मनुष्यलोक में कर्म के परिणाम की खोज करने वाले जड़ें यानी वासना सदैव नीचे की ओर बहते रहते हैं।।२।।

व्याख्याः- अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा से लेकर अन्य देवता, मनुष्य-कीट-पतंगा आदि इसी वृक्ष की शाखाएँ हैं। यदि कोई व्यक्ति सत्त्वगुण के आधार पर कार्य करता है, तो वह उच्च वर्ग में पैदा होता है, लेकिन यदि वह तमोगुण से प्रेरित होकर अधर्म करता है, तो वह जानवरों और कीड़ों की निचली प्रजाति में पैदा होता है। मनुष्य की इच्छाएँ लगातार कार्यों के परिणामों की खोज करती हैं, अर्थात् मन की वासनाएँ मन को कार्यों के परिणामों के प्रति आसक्त बना देती हैं। नतीजतन, यह एक बंधन बनाता है। संसार वृक्ष की उपरि-भाग पर स्थित जड़ें मन की इच्छाएं हैं जो मनुष्य को नीचे की ओर ले जाती हैं।।२।।

न रूपम् अस्य इह तथा उपलभ्यते # न अन्तो न च आदिः न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थम् एनं सुविरूढमूलम् # असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं # यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव च आद्यं पुरुषं प्रपद्ये # यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

अनुवादः– ऐसा वृक्ष इस संसार में देखने को नहीं मिलता। इसका न आदि है, न अंत है, इसकी स्थिति को समझा नहीं जा सकता। इस दृढ़ जड़ वाले वृक्ष को तेज वैराग्यरूप अस्त्र से काटना चाहिए और 'मैं उस आदिपुरुष की शरण में हूँ' इस प्रकार दृढ निश्चय करके फिर परमपुरुष भगवान् के चरणों की तलाश करनी चाहिए। यदि कोइ उस परमपद को एक बार प्राप्त कर सकते हैं, तो उसको पुनर्जन्म के चक्र में वापस नहीं आना पड़ता।।३-४।।

व्याख्याः– यद्यपि इस अध्याय के प्रथम श्लोक में भगवान् इस संसारवृक्ष की बात करते हैं, फिर भी ऊपर के दो श्लोकों में वे स्वयं कहते हैं कि शास्त्रों में इस वृक्ष के रूप जैसा वर्णन किया गया है वैसा कोई नहीं देख सकता, क्योंकि इसका कोई आदि, अंत या स्थिति नहीं है - "स्वप्नमरीच्युदकमायागन्धर्वनगरसमत्वाद् दृष्टनदृष्टस्वरूपो हि स इति अत एव न अन्तो न पर्यन्तो निष्ठा समाप्तिः वा विद्यते" (शङ्कराचार्य)। इसलिए इस वृक्ष के प्रभाव को मन से पूरी तरह हटाना बहुत कठिन है। इस वृक्ष से बाह्य रूप से संबंध त्याग देने पर भी हृदय में अहंकार, वासना, आसक्ति आदि बने रहते हैं। नतीजतन, इस संसारवृक्ष को दिमाग से हटाया नहीं जा सकता। इसलिए भगवान् कहते हैं कि यदि हृदय में विषय के प्रति तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो तो उस शस्त्र से ही संसारवृक्ष की प्रबल जड़ को काटा जा सकता है और तभी उस परम पद की खोज करनी चाहिए और एक बार जब आप उस परम पद को प्राप्त कर लेते हैं तो आपको फिर से जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता अर्थात् तब मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ।।३-४।।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा # अध्यात्मनित्या विनिवृत्यकामाः।
द्वन्द्वैः विमुक्ताः सुखदुःखसज्ञैः # गच्छन्ति अमूढाः पदम् अव्ययं तत्।।५।।

अनुवादः- जिसके हृदय में अभिमान और मोह का भाव नहीं है, जिसने वस्तुओं में आसक्ति का दोष त्याग दिया है, जो सदा आध्यात्मिक चिंतन में लीन रहता है, जिसके हृदय में कोई कामना-वासना नहीं है, जिसके हृदय में सुख-दुःख का द्वन्द्व नहीं है और जिसके हृदय से अविद्या यानी अज्ञान का अंधकार दूर हो गया है, वह ज्ञानी शाश्वत परमपद को प्राप्त करता है ।।५।।

न तद् भासयते सूर्यो # न शशाङ्को न पावकः।
यत् गत्वा न निवर्तन्ते # तद्धाम परमं मम ।।६।।

अनुवादः- जिस धाम को सूर्य, चंद्रमा या अग्नि प्रकाश नहीं कर सकता, जिसे प्राप्त करके साधक संसार में नहीं लौटते, वह मेरा अव्यय परम धाम अर्थात् मेरा स्वरूप है ।।६।।

व्याख्याः- भगवान् के परम धाम की प्रकृति का वर्णन करते हुए बृहज्जाबाल उपनिषद के आठवें ब्राह्मण में कहा गया है कि जहां सूर्य नहीं चमकता, जहां हवा नहीं चलती, जहां चंद्रमा नहीं चमकता, जहां तारे नहीं चमकते जहाँ अग्नि न जलती हो, जहाँ मृत्यु प्रवेश नहीं कर सकता, दुख प्रवेश नहीं कर सकता, योगी जहां प्रवेश करता है तो उन्हें जन्म और मृत्यु के चक्र में वापस नहीं जाना पड़ता है वह है सदानंद, परमानंद, शांत सनातन, सदा कल्याणस्वरूप, ब्रह्मादि देवताओं द्वारा वंदित योगियों की निरंतर ध्येय भगवान् का परम पद अर्थात् भगवान् का परम धाम – ''यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र न अग्निः दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः।''

इसी प्रकार कठोपनिषद के मंत्र २।२।१५ में कहा गया है –

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं न इमा विद्युतो भान्ति कुत: अयम अग्नि:।
तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति।।"

अर्थात् सूर्य उस पूर्णब्रह्मको प्रकट नहीं करता है, न ही चंद्रमा या तारे, और न ही अग्नि में उन्हें प्रकट करने की शक्ति है। वह स्वयं प्रकाश है। उन्हीं के द्वारा सारा जगत् आलोकित है। इसलिए सारा संसार भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देता है।

इस श्लोक में भगवान् कहते हैं कि न तो सूर्य और न ही चंद्रमा और न ही अग्नि उनके परम पद यानी परम धाम को प्रकट कर सकते हैं। परमेश्वर के इस वचन का अर्थ समझाने की आवश्यकता है। रात के समय जब आकाश में सूर्य या चंद्रमा नहीं होता है या आग नहीं जलती है, तो आसपास की वस्तुएं दिखाई नहीं देती हैं। परंतु जब भी आकाश में सूर्य या चंद्रमा का उदय होता है या अग्नि प्रज्वलित की जा सकती है, तब उसके प्रकाश से चारों ओर की वस्तुएँ आँखों के सामने प्रकट हो जाती हैं अर्थात् सूर्य, या चंद्रमा या अग्नि उन सभी वस्तुओं को प्रकट कर देती है। परंतु यदि दिन में सूर्य की ओर मुख करके कोई मशाल जलाई जाए तो उससे सूर्य बिल्कुल भी आलोकित नहीं होता है क्योंकि सूर्य उस मशाल को प्रकट करता है अर्थात् सूर्य ही उस मशाल का प्रकाशक है। कोई अपने प्रकाशक को कभी प्रकट नहीं कर सकता। इसी प्रकार भगवान् परब्रह्म परमात्मा सूर्य, चंद्र, अग्नि सभी वस्तुओं को अपने प्रकाश से प्रकट करते हैं अर्थात् प्रकाशित करते हैं। तो परमात्मा सूर्य, चंद्रमा, अग्नि सहित इस पूरे ब्रह्मांड के प्रकटकर्ता हैं। तो उन सभी की क्या क्षमता है कि वे अपने महान प्रकटकर्ता को प्रकट कर सकें?

यहाँ भगवान् के परम धाम से जो अभिप्राय है वह वास्तव में स्वयं भगवान् ही हैं। भगवान् का यह शाश्वत निवास उनके सच्चिदानंदघन चिर अविनाशी नित्य शाश्वत सनातन ब्रह्म का स्वरूप है।।६।।

मम एव अंशो जीवलोके # जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानि इन्द्रियाणि # प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

अनुवादः- इस संसार के समस्त प्राणी मेरे अंश हैं। वे जीवलोक प्रकृति में स्थित मन सहित छह इंद्रियों को संसार की ओर आकर्षित करते हैं।।७।।

व्याख्याः- भगवान् यहाँ स्पष्ट कह रहे हैं कि समस्त जीव उन्हीं का अंश है। उनमें से कोई भी भगवान् नहीं है। लेकिन अज्ञानी लोग उन्हें भगवान् समझने की भूल करते हैं। ये जीवात्माएँ शरीर रूप जीवलोक में निवास करती हैं और उस शरीर को छोड़कर जब वे दूसरे शरीर में जाते हैं, तब उन पांच इंद्रियों को आकर्षित करते हैं और उन्हें दूसरे शरीर में ले जाते हैं।

ऋग्वेद में भी कहा गया है कि जीव ब्रह्म का अंश है - ''पादोऽस्य विश्वा भूतानि'' (ऋग्वेद, १०।९०।३)। अर्थात् जीव उसी का एक 'पाद' अर्थात् अंश (चतुर्थांश नहीं) है। जीव कभी परमात्मा नहीं हो सकता। ब्रह्मसूत्र कहता है - 'अंशोनानाव्यपदेशात्' (२।३।४३)। एक पत्ता एक पेड़ का हिस्सा है लेकिन पूरा पेड़ नहीं है। इसी तरह, जीव पूर्ण ब्रह्म का एक अंश है, लेकिन यह पूर्ण ब्रह्म कभी नहीं हो सकता। ब्रह्मसूत्र में कहा गया है - 'प्रकाशादिवत्तु नैवं परः' (२।३।४६)। अर्थात् सूर्य का प्रकाश निःसंदेह सूर्य का अंश है, लेकिन सूर्य का स्वरूप और स्वभाव उसके प्रकाश से भिन्न है। इसी प्रकार, यद्यपि जीव ब्रह्म का एक अंश है, ब्रह्म का स्वभाव और स्वरूप जीव के स्वभाव और स्वरूप से भिन्न है।

पाठक की समझ को सुगम बनाने के लिए, इसे 'जीवात्मा' क्यों कहा जाता है, इसके बारे में थोड़ा और स्पष्ट करना आवश्यक है। वास्तव में आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। आत्मा परमात्मा का अंश है। तो जीवात्मा क्या है? जीव का शरीर प्रकृति के सत्त्व, रज और तमोगुण द्वारा नियंत्रित और

परिचालित होता है। परंतु आत्मा इन तीनों गुणों से मुक्त है। जब वह आत्मा इन तीन गुणों से परिचालित एक जीवित शरीर में निवास करती है, तो उसे जीवात्मा कहा जाता है।।७।।

शरीरं यत् अवाप्नोति # यत् च अपि उत्क्रामति ईश्वरः।
गृहीत्वा एतानि संयाति # वायुः गन्धान् इव आशयात्।।८।।

अनुवादः- जब इस शरीर का अधीश्वर जीवात्मा एक शरीर को त्यागकर दूसरा शरीर धारण करता है, तब जैसे वायु फूल की गन्ध को अपनी ओर आकर्षित करती है, वैसे ही जीव मन सहित अन्य पाँचों इंद्रियों को भी वहाँ पकड़ कर ले जाता है।।८।।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च # रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनः च अयं # विषयान् उपसेवते।।९।।

अनुवादः- आँख, कान, जिह्वा, नाक, त्वचा तथा मन इन पाँचों इंद्रियों को आश्रय लेकर ये जीव सब शब्दादि विषयों का सेवन करता है।।९।।

व्याख्याः- रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द - इन पाँच इंद्रियों के विषयों को शब्दादि विषय कहा जाता है।।९।।

उत्क्रामन्तं स्थितं वा अपि # भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा न अनुपश्यन्ति # पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

अनुवादः- अज्ञानी और मूढ़ लोग यह नहीं जान सकते कि आत्मा सत्त्व, रज और तमोगुण से बनी शरीर में कैसे रहती है, वस्तुओं का कैसे भोग करती है या एक शरीर से दूसरे शरीर में कैसे जाती है, लेकिन विवेकी और ज्ञानवान लोग इसे अपने ज्ञान की आँखों से सटीक रूप से देख सकते हैं ।।१०।।

यतन्तो योगिनः च एनं # पश्यन्ति आत्मनि अवस्थितम्।
यतन्तो अपि अकृत-आत्मानो # न एनं पश्यन्ति अचेतसः।।११।।

अनुवादः- साधन-भजन में लगे योगी अपने शरीर में इस आत्मा को वास करते हुए देख पाते हैं। परंतु अशुद्ध बुद्धि और विवेकहीन मनुष्य प्रयत्न करने पर भी इस आत्मा को नहीं देख पाते।।११।।

यद् आदित्यगतं तेजो # जगत् भासयते अखिलम्।
यत् चन्द्रमसि यत् च अग्नौ # तत् तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

अनुवादः- सूर्य में रहनेवाला जो तेज सारे जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चंद्रमा और अग्नि में है, यह जान लो कि वे सब मेरा ही तेज है।।१२।।

गाम् आविश्य च भूतानि # धारयामि अहम् ओजसा।
पुष्णामि च औषधीः सर्वाः # सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

अनुवादः- मैं संसार में प्रवेश करके अपनी शक्ति से समस्त प्राणियों को धारण करता हूँ। और मैं रसमय चंद्रमा के रूप में बृही, जौ आदि ओषधियों को पुष्ट करता हूँ।।१३।।

अहं वैश्वानरो भूत्वा # प्राणिनां देहम् आश्रितः।
प्राण-अपान-समायुक्तः # पचामि अन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

अनुवादः- मैं वैश्वानर यानी जठराग्नि होकर प्राणियों के शरीर में रहकर प्राण और अपान वायु के साथ युक्त होकर चर्व्य, चूष्य, लेह्य, पेय इन चार प्रकार के भोजन को पचाता हूँ।।१३।।

सर्वस्य च अहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनम् च।
वेदैश्च सवैः अहम् एव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदवित् एव च अहम्।।१५।।

अनुवादः- मैं सम्पूर्ण जगत् के समस्त प्राणियों के हृदय में परमेश्वर के रूप में विद्यमान हूँ। मेरे द्वारा ही प्राणियों की ज्ञान और स्मृति की उद्भव और विलोप होती हैं। मैं समस्त वेदों से ही जानने योग्य हूँ, मैं वेदांत का कर्ता और वेदज्ञ हूँ।।१५।।

द्वौ इमौ पुरुषौ लोके # क्षरः च अक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि # कूटस्थः अक्षर उच्यते।।१६।।

अनुवादः- संसार में दो प्रकार के पुरुष होते हैं - क्षर अर्थात् नश्वर या नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी या नित्य। संपूर्ण ब्रह्मांड के सभी जीव क्षर पुरुष हैं और जो पुरुष कूटस्थ अर्थात् सदा अरिवर्तनशील है वह अक्षर पुरुष है।।१६।।

व्याख्याः- इस श्लोक में प्रयुक्त क्षर, अक्षर और कूटस्थ इन तीन शब्दों की व्याख्या आवश्यक है। इस सृष्टि के सभी प्राणियों को क्षर पुरुष कहा जाता है। ब्रह्मा से लेकर स्तंभ तक सभी जीव सामूहिक रूप से नश्वर हैं और सभी क्षर पुरुष हैं। यद्यपि वे संख्या में अनेक हैं, तथापि भौतिक जगत् से जुड़े होने के कारण उन्हें सामूहिक रूप से एक ही उपाधि 'पुरुष' द्वारा संदर्भित किया जाता है। इसलिए 'पुरूषः' पद का प्रयोग एकवचन में हुआ है। क्षर पुरुष का संबंध नाशवान भौतिक संसार से है। वे सभी एक समय जन्म लेते हैं और दूसरे समय नष्ट हो जाते हैं। कूटस्थ पुरुष को अक्षर पुरुष कहा जाता है। वे मुक्त आत्माएँ जिनका भौतिक संसार से कोई संबंध नहीं है और अपने ही स्वरूप में स्थित हैं, 'कूटस्थ' कहलाती हैं। क्योंकि वे भौतिक संसार से नहीं जुड़े हुए हैं, उन्हें भौतिक प्रकृति के परिणामस्वरूप ब्रह्मादि शरीर धारण

करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए ये 'कूटस्थ' कहलाते हैं। इस मामले में भी, भौतिक जगत् से जुड़ाव न होने के कारण, कूटस्थ पुरुष को भी एकवचन में अभिव्यक्त किया गया है। कूटस्थ पुरुष का कभी नाश नहीं होता। इसलिए उन्हें अक्षर कहा जाता है।।१६।।

उत्तमः पुरुष तु अन्यः # परमात्मा इति उदाहृतः।
यो लोक-त्रयम् आविश्य # बिभर्ति अव्यय ईश्वरः।।१७।।

अनुवादः- पूर्वोक्त क्षर और अक्षर पुरुष के अतिरिक्त एक और परम उत्तम पुरुष है जो त्रिलोक में प्रवेश करके सबका पालन करता है। वे हैं परमात्मा अविनाशी परमेश्वर पुरुषोत्तम नारायण।।१७।।

यस्मात् क्षरम् अतीतः अहम् # अक्षरात् अपि च उत्तमः।
अतः अस्मि लोके वेदे च # प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

अनुवादः- क्योंकि मैं क्षर से श्रेष्ठ और अक्षर से उत्तम हूँ, इसलिए मैं संसार तथा वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।।१८।।

व्याख्याः- छान्दोग्यपनिषद के मंत्र ८।१२।३४ में श्रीकृष्ण को उत्तम पुरुष कहा गया है – ''एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः'' इति। विष्णुपुराण में ऋषि पराशर कहते हैं –

तस्मादहं भक्तिविनम्रचेता व्रजामि सर्वेश्वरमीश्वराणाम्।
अंशावतारं पुरुषोत्तमस्य अनादिमध्यान्तमयस्य विष्णोः।।

—विष्णुपुराण ५।१७।३४

अर्थात् वे ईश्वर के ईश्वर परमेश्वर भगवान् विष्णु के ही अंशावतार हैं।।१८।।

यो माम् एवम् असंमूढो # जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां # सर्वभावेन भारत।।१९।।

अनुवाद:- हे भरत! जो मोहमुक्त पुरुष इस प्रकार मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सबकुछ जानता है और मुझको सर्वभाव से भजता है।।१९।।

इति गुह्यतमं शास्त्रम् # इदम् उक्तं मया अनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् # कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

अनुवाद:- हे निष्पाप अर्जुन! अब तक मैंने जिन परम शास्त्र का वर्णन किया है वह बड़े गूढ़ और गुप्त हैं। जो इस शास्त्र का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह सम्यक रूप से बुद्धिमान और कृतकृत्य यानी संतुष्ट हो जाता है।।२०।।

व्याख्या:- इस अध्याय के अंतिम श्लोक में भगवान् कहे जाने वाले दो शब्दों - शास्त्र और अनघ पर विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए।

वास्तव में संपूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता एक महान शास्त्र है जिसके प्रत्येक अध्याय में परम ज्ञान का प्रसार किया गया है जो मानव जीवन के कल्याण के लिए बहुत प्रभावी, मूल्यवान और आवश्यक है। भगवान् ने इस श्लोक में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग करके इस अध्याय को शास्त्र का विशेष दर्जा दिया है, क्योंकि उन्होंने इस अध्याय में न केवल सम्पूर्ण गीता का सार संक्षेप में वर्णन किया है, अपितु सम्पूर्ण वेदों का भी सार यहाँ संक्षेप में वर्णन किया है।

इस श्लोक में भगवान् अर्जुन को 'अनघ' कहते हैं जिसका अर्थ है निष्पाप। वह इस शब्द से यह समझाना चाहता था कि पापी, अधर्मी व्यक्तियों यह महान तत्त्व को सुनने के योग्य नहीं है न ही यह महान सिद्धांत उन्हें समझाने योग्य है। यदि हृदय में पाप है तो इस सबसे गहन, रहस्यमय और गुप्त तत्त्व का उचित रूप से मूल्यांकन करना या उसकी गरिमा को ठीक से

बनाए रखना संभव नहीं है। इसलिए भगवान् ने प्रकारांतर से इस शास्त्र को असत्, पापी, संदिग्ध लोगों को सुनाने से मना किया है।

अंत में, इस अध्याय की विशेषताओं के बारे में एक और महत्त्वपूर्ण बात की जानी चाहिए। इस श्लोक में भगवान् ने मात्र बीस श्लोकों में सभी शास्त्रों का सार बताया है। इस संख्या बीस का विशेष महत्त्व है। शास्त्रों में आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दो मार्ग बताए गए हैं – एक लौकिक जीवन के लिए निर्दिष्ट प्रवृत्ति मार्ग है जहाँ क्रियाओं को दृष्ट और अदृष्ट इच्छाओं को पूरा करने के लिए कहा जाता है और दूसरा है निवृत्ति मार्ग जहाँ मानव की आशाओं और इच्छाओं से उत्पन्न सभी कर्मों की समाप्ति के बारे में कहा गया है। जब प्रवृत्तिमार्गीवलम्बी दीक्षा देते हैं, तो वह शिष्य को तीन मंत्र देते हैं। उन तीन मंत्रों में पहले मंत्र में तीन पद हैं, दूसरे मंत्र में छह पद हैं और तीसरे मंत्र में ग्यारह पद हैं, जो कुल मिलाकर बीस पद हैं। तो प्रवृत्तिमार्ग की प्रथा के अनुसार भगवान् कृष्ण ने अपने निष्पाप प्रिय शिष्य अर्जुन को इस अध्याय में बीस श्लोकों में सभी शास्त्रों का सार उपदेश दी है।।२०।।

।। पंद्रहवाँ अध्याय समाप्त ।।

सोलहवाँ अध्याय

दैवासुर-सम्पद्-विभागयोग

श्रीभगवान् उवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः # ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च # स्वाध्यायः तप आर्जवम्।।१।।
अहिंसा सत्यम् अक्रोधः # त्यागः शान्तिः अपैशुनम्।
दया भूतेषु अलोलुप्त्वं # मार्दवं ह्रीः अचापलम्।।२।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचम् # अद्रोहो न अतिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीम् # अभिजातस्य भारत।।३।।

अनुवादः- श्रीभगवान् ने कहा- निर्भयता, चित्तशुद्धि, तत्त्वज्ञान के लिये ध्यानयोग में निरंतर दृढ़ स्थिति, दान, बाह्य शुचिता, यज्ञ, शास्त्रों का पाठ, तप, सरलता, अहिंसा, सत्यवादिता, अक्रोध, त्याग, शांति, दूसरों की निंदा नहीं करना, जीवों पर दया, लोभी नहीं होना, कोमलता, लज्जा, अचलपता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, दूसरों के प्रति कोई द्वेष न रखना, निरभिमानिता - ये सभी दैवी संपदा हैं। ये सभी गुण सत्तगुण वाले पुरुषों के लक्षण हैं।।१-३।।

व्याख्याः- भगवान् यहाँ उपरोक्त तीन श्लोकों में चारों आश्रमों और चार वर्णों के धर्म का संक्षेप में वर्णन करते हैं। पहले वे कहते हैं कि संन्यासियों का धर्म है - अभय अर्थात् निर्भयता, सत्त्वसंशुद्धि अर्थात् मन की पवित्रता और ज्ञानयोगव्यवस्थिति अर्थात् ज्ञानयोग में निरंतर दृढ़ स्थिति। फिर वे कहते

हैं कि गृहस्थों का धर्म है - दान, दम अर्थात् बाह्य शुद्धि, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् शास्त्रों का पाठ। फिर वे कहते हैं कि वानप्रस्थ का धर्म तपस्या है। ये तपस्याएं शारीरिक, मानसिक और वाचिक तीन प्रकार की होती हैं। गीता के अठारहवें अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन है। फिर वे कहते हैं कि ब्राह्मणों का धर्म है आर्जव अर्थात् सरलता, अहिंसा, सत्यवादिता, अक्रोध अर्थात् क्रोधहीनता, त्याग, शांति, अपैषुण अर्थात् परनिंदावर्जन, जीवों पर दया, अलोलुपत्व अर्थात् लोभी नहीं होना, मार्दव अर्थात् कृपालुता, 'ह्री' अर्थात् अशास्त्रीय कार्यों में लज्जा, अचापल्य अर्थात् चपलता का अभाव। तब उन्होंने कहा कि क्षत्रिय का धर्म है - तेज अर्थात् तेजस्विता अर्थात् तुच्छ व्यक्ति से हार न मानना, क्षमा अर्थात् किसी असमान व्यक्ति को तुच्छ जानकर भी उस पर क्रोध न करना, धृति अर्थात् धैर्य अर्थात् अगर शरीर थक जाता है तो थकान को भी दूर करने का प्रयत्न करना। फिर वे वैश्यों के धर्म का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि उनका धर्म है - शौच अर्थात् व्यापार में छल और असत्य का सहारा न लेना, अद्रोह अर्थात् किसी दूसरे की हत्या करने के आशय से शस्त्र धारण न करना। अंत में वह कहते हैं कि शूद्रों का धर्म है निरभिमानिता, अर्थात् स्वयं को श्रेष्ठ न समझकर ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के प्रति विनम्रता दिखाना।

संसारवृक्ष के दो फल - एक फल लोगों को विषय से जोड़ता है और अंत में उन्हें कर्मबंधन में शामिल कर लेता है। दूसरा फल लोगों को ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है। यह गुण सात्त्विक-चित्त लोगों द्वारा प्राप्त किया जाता है। इस गुण को ईश्वर ने दैवी संपदा कहा है। ।१-३।।

दम्भो दर्पः अभिमानश्च # क्रोधः पारुष्यम् एव।
अज्ञानं च अभिजातस्य # पार्थ संपदम् आसुरीम्।।४।।

अनुवादः- हे पार्थ! जो लोग आसुरी संपदा की ओर जाते हैं, वे दम्भ,

दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता, अज्ञान आदि दुर्गुणों को प्राप्त करते हैं। ये सभी दुर्गुण राजसिक और तामसिक चरित्र वाले पुरुषों में होते हैं।।४।।

दैवी संपद् विमोक्षाय # निबन्धाय आसुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीम् # अभिजातः असि पाण्डव।।५।।

अनुवादः- दैवी संपदा मोक्ष प्रदायिनी। आसुरी संपदा बंधन का कारण है। शोक मत करो क्योंकि तुम दैवी संपदा में उत्पन्न हुए हो।।५।।

द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् # दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त # आसुरं पार्थ मे शृणु।।६।।

अनुवादः- हे पार्थ! इस संसार में दो प्रकार के जीव उत्पन्न हुए हैं - एक दैवी और दूसरा आसुरी। मैंने दैवी प्रकृति के प्राणियों के बारे में विस्तार से बात की है। अब तुम मुझसे आसुरी प्रकृति के प्राणियों के बारे में सुनो।।६।।

व्याख्याः- जब मनुष्य शास्त्र नियमों को त्यागकर क्रोध और द्वेष से प्रेरित होकर अशास्त्रीय कर्म करता है, तब वह आसुरी और राक्षसी प्रवृत्तिग्रस्त कहलाते हैं।।६।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च # जना न विदुः आसुराः।
न शौचं न अपि च आचारो # न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

अनुवादः- जो आसुरी प्रकृति के हैं वे धर्म में लगना या अधर्म से विरत रहना नहीं जानते। उनमें शौच, आचार, सत्य आदि कुछ भी नहीं है।।७।।

असत्यम् अप्रतिष्ठं ते # जगत् आहुः अनीश्वरम्।
अपरस्पर-संभूतं # किम् अन्यत् कामहैतुकम्।।८।।

अनुवादः- आसुरी प्रकृति के लोग कहते हैं कि संसार मिथ्या, आश्रयहीन,

ईश्वरविहीन, नर-नारीके संयोग से उत्पन्न, केवल कामवासनामय है। इसके अतिरिक्त वे संसार को और कुछ नहीं समझते।।८।।

एतां दृष्टिम् अवष्टभ्य # नष्टात्मानः अल्पबुद्धयः।
प्रभवन्ति उग्रकर्माणः # क्षयाय जगतः अहिताः।।९।।

अनुवादः- इस प्रकार की दृष्टि से संसार का नाश करने के लिये ही वे हिंसक, आत्मज्ञानहीन, पाप करने वाले असुर उत्पन्न होते हैं।।९।।

कामम् आश्रित्य दुष्पुरं # दम्भ-मान-मदान्विताः।
मोहात् गृहीत्वा असद् ग्राहान् # प्रवर्तन्ते अशुचिव्रताः।।१०।।

अनुवादः- जिनकी वृत्तियाँ आसुरी हैं वे दम्भ, मान और अभिमान के नशे में चूर हैं, दुष्ट वासनाओं का आश्रय लेते हैं, मोह से बुरी वस्तुओं में रुचि लेते हैं, और अपवित्र कार्यों में लिप्त होते हैं।।१०।।

चिन्ताम् अपरिमेयां च # प्रलयान्ताम् उपाश्रिताः।
काम-उपभोग-परमा # एतावत् इति निश्चिताः।।११।।
आशा-पाश-शतैः बद्धाः # काम-क्रोध-परायणाः।
ईहन्ते काम-भोगार्थम् # अन्यायेन अर्थ-संचयान्।।१२।।

अनुवादः- ऐसे लोग मृत्यु के दिन तक भोग के बारे में सोचते हैं। वे सोचते हैं कि कामोपभोग ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। इसके अलावा जीवन का कोई अन्य लक्ष्य नहीं है। यह विचार सदा सत्य है ऐसा समझकर वे सैकड़ों आशारूप जाल में फँस जाते हैं और काम-क्रोध-लोभ से प्रेरित होकर वे भोग के उद्देश्य से गलत तरीकों से अर्थ कमाते और बचाते हैं।।११-१२।।

इदम् अद्य मया लब्धम् # इमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदम् अस्ति इदम् अपि मे # भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

अनुवादः- (असुरीप्रवृति वाले सोचते हैं) आज मुझे यह मिला, बाद में और मिलेगा, मेरे दिल की इच्छा पूरी होगी, मेरे पास यह खजाना है, वह खजाना मुझे बाद में मिलेगा।।१३।।

असौ मया हतः शत्रुः # हनिष्ये च अपरान् अपि।
ईश्वरः अहम् अहं भोगी # सिद्धः अहं बलवान सुखी।।१४।।

अनुवादः- (असुरीप्रवृति वाले सोचते हैं) अमुक शत्रु को मैंने मार डाला, मैं अन्य शत्रुओं को भी मार डालूँगा, मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सफल हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं सुखी हूँ।।१४।।

आढ्यः अभिजनवान् अस्मि # कः अन्यः अस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य # इति अज्ञान् विमोहिताः।।१५।।

अनुवादः- (आसुरीप्रवृति वाले समझते हैं) मैं धनी हूँ, मैं कुलीन हूँ, मेरे समान कोई नहीं, मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान करूँगा, मैं मौज करूँगा और वे इन सब अज्ञानमय विचारों में सदा विभोर रहते हैं।।१५।।

अनेक चित्तविभ्रान्ता # मोह-जाल-समावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु # पतन्ति नरके अशुचौ।।१६।।

अनुवादः- उनके मन अनेक संकल्प से विचलित रहते हैं, मोहजाल से ढके रहते हैं, भोगों को उपभोग में अत्यधिक आसक्त रहते हैं। इसलिए वे अशुद्ध और भयंकर दयनीय नरक में गिरते हैं।।१६।।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा # धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैः ते # दम्भेन अविधिपूर्वकम्।।१७।।

अनुवादः– वे आत्म-दंभ से अंधे, धन और मान के अभिमान से भरे हुए हैं। वे शास्त्रविहित नियमों और प्रक्रियाओं का पालन किए बिना अहंकार के साथ नाममात्र का यज्ञ करते हैं।।१७।।

अहंकारं बलं दर्पं # कामं क्रोधं च संश्रिताः।
माम् आत्म-पर-देहेषु # प्रद्विषन्तः अभ्यसूयकाः।।१८।।

अनुवादः– वे सब मनुष्य अहंकार, बल, काम, क्रोध के आश्रय लेकर अपने तथा दूसरों के शरीरों में अवस्थित मेरी द्वेष करते हैं और संतों के गुणों की निंदा करते हैं।।१८।।

तान् अहं द्विषतः क्रूरान् # संसारेषु नराधमान्।
क्षिपामि अजस्रम् अशुभान् # आसुरीषु एव योनिषु।।१९।।

अनुवादः– उन द्वेष करने वाले, हिंसक दुराचारी, नराधम पुरुषों को मैं आसुरी प्रजातियों में बार-बार डालता हूँ ।।१९।।

आसुरीं योनिम् आपन्ना # मूढा जन्मनि जन्मनि।
माम् अप्राप्य एव कौन्तेय # ततो यान्ति अधमां गतिम्।।२०।।

अनुवादः– वे मूर्ख हिंसक आसुरीकुल में जन्म लेकर जन्म-जन्मांतर में मुझे न पाकर नीच गति को प्राप्त होते हैं।।२०।।

व्याख्याः– यहाँ भगवान् कह रहे हैं कि आसुरीप्रवृति वाले मूढलोग देव, मनुष्य आदि कुल में जन्म नहीं ले सकते। नतीजतन, वे बाघ, शेर, कीड़े,

पतंगे आदि जैसे कुलों में पैदा होते हैं। मुक्ति का एकमात्र उपाय है ईश्वर से मिलन। लेकिन इन सभी जन्मों में उन्हें भगवान् नहीं मिलते। नतीजतन, उनके पापों को कम करने का कोई उपाय नहीं रहता। यही कारण है कि वे धीरे-धीरे और पतित हो जाते हैं और कुम्भीपाक, महारौरव, तामिश्र, अंधतामिश्र आदि घोर दर्दनाक नरक में गिर जाते हैं।।२०।।

त्रिविधं नरकस्य इदं # द्वारं नाशनम् आत्मनः।
कामः क्रोधः तथा लोभः # तस्मात् एतत् त्रयं त्यजेत्।।२१।

अनुवादः– नरक के तीन द्वार हैं। वे हैं काम, क्रोध और लोभ। वे आत्मा को नष्ट कर देते हैं। इसलिए इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए।।२१।

व्याख्याः– भगवान् यहाँ कहते हैं कि काम, क्रोध और लोभ ये तीन रिपु हैं जो आत्मा का नाश करते हैं। लेकिन हमने पिछली चर्चा में सीखा है कि आत्मा को कोई भी चीज छू नहीं सकती। आत्मा कमल के पत्ते पर जल के समान है। तो जीवों के कर्मों के लिए आत्मा का नाश कैसे होगा? वास्तव में आत्मा का 'विनाश' यहाँ जीव के पतन को संदर्भित करता है। जब से मनुष्य काम, क्रोध और लोभ की चपेट में आता है, तब से उसकी बुद्धि, विवेक, विचार, सोच आदि निम्न कोटि का हो जाता है। वह अच्छाई और बुराई की भावना खो देता है। काम, क्रोध और लोभ की चपेट में आकर वह ऐसा कार्य करता है कि उसका शरीर नष्ट हो जाता है, मन का सारा शुभबोध नष्ट हो जाता है, विचार की पवित्रता नष्ट हो जाती है, उसके सारे कर्म अशुद्ध हो जाते हैं। परिणामस्वरूप वह अपने जीवन की सारी सुख-शांति खो देता है और उसका जीवन विषाक्त हो जाता है। मृत्यु के बाद वह आसुरी यानी कीड़ों आदि की निचली प्रजाति में पैदा होता है। इसलिए भगवान् काम, क्रोध और लोभ को आत्मा का नाश करने वाले कहते हैं।।२१।।

एतैः विमुक्तः कौन्तेय # तमोद्वारैः त्रिभिः नरः।
आचरति आत्मनः श्रेयः # ततो याति परां गतिम्।।२२।।

अनुवादः– कुन्तीपुत्र अर्जुन! यदि पुरुष नरक के इन तीनों द्वारों के चंगुल से निकल सके तो उसका परम कल्याण हो जायगा और उसे परमगति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होगी।।२२।।

यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य # वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिम् अवाप्नोति # न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

अनुवादः– जो शास्त्रविधि का परित्याग कर अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करता है, वह न सुख को प्राप्त कर सकता है, न सिद्धि को प्राप्त कर सकता है न ही परम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।।२३।।

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते # कार्य-अकार्य-व्यवस्थितो।
ज्ञात्वा शास्त्र-विधान-उक्तं # कर्म कर्तुम् इह अर्हसि।।२४।।

अनुवादः–इसीलिए शास्त्र ही कार्य-अकार्य, कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्था में तुम्हारे लिये प्रमाण अर्थात् अपने कर्तव्य के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। अतः शास्त्रों द्वारा बताए गए नियमों के अनुसार ही कर्म करना चाहिए।।२४।।

।। सोलहवाँ अध्याय समाप्त ।।

सतरहवाँ अध्याय

श्रद्धात्रय-विभागयोग

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिम् उत्सृज्य # यजन्ते श्रद्धया अन्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण # सत्त्वम् आहो रजः तमः।।१।।

अनुवादः- अर्जुन ने कहा-किंतु हे कृष्ण! जो शास्त्रों को छोड़कर श्रद्धापूर्वक यज्ञ, उपासना करते हैं, उनकी निष्ठा क्या है - सात्त्विकी, राजसी या तामसी?।।१।।

व्याख्याः- भगवान् वासुदेव के हजारों नाम हैं। लेकिन इस श्लोक में अर्जुन उन्हें हजारों नामों में से 'कृष्ण' कहकर संबोधित करते हैं। इसका कारण क्या है? हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि श्रीमद्भागवद्गीता का लगभग प्रत्येक श्लोक या पद एक गहरा अर्थ रखता है। इसलिए प्रत्येक पद या वाक्यांश के अर्थ को बहुत ध्यान से समझना आवश्यक है। पांडव गीता के ५५वें श्लोक में वसिष्ठ कहते हैं-

कृष्ण इति मङ्गलं नाम यस्य वाचा प्रवर्तते।
भस्मी-भवन्ति तस्य अशुभ महापातक कोटयः।।

अर्थात् 'कृष्ण' नाम अत्यंत शुभ है। जिसकी जिह्वा पर यह शुभ नाम रहता है अर्थात् जो इस परम मंगलमय नाम का उच्चारण करता है, उसके सारे पाप जलकर भस्म हो जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं।

अर्जुन सोचते हैं कि वे राजा पुरु का वंशज हैं, भीष्म का पोता हैं, महीयसी माता कुंती का पुत्र है और वे ही महात्मा भीष्म से युद्ध करने के लिए युद्ध के मैदान में आया है! यह निश्चय ही उनका महापाप होगा। उस पाप से केवल कृष्ण ही बचा सकते हैं। इसीलिए उन्होंने पांडव गीता के कथन के अनुसार संभावित पापों से छुटकारा पाने के लिए भगवान् कृष्ण के हजारों नामों में से 'कृष्ण' नाम का उच्चारण करके भगवान् को संबोधित किया।।१।।

श्रीभगवान् उवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा # देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी च एव # तामसी च इति तां शृणु।।२।।

अनुवादः- भगवान् ने कहा- प्राणियों की यह श्रद्धा तीन प्रकार का होता है - सात्त्विकी, राजसी और तामसी। ये उनके स्वभाव से आते हैं। उनको तुम सुनो।।२।।

व्याख्याः- भगवान् ने इस श्लोक में जीवों के स्वभाव के बारे में बताया है। जीव जन्म-जन्मांतर के दौरान जो भी कर्म करता है, जैसे धर्म-अधर्म, अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, सही-गलत आदि वे सभी संस्कार उसके मन में निहित होते हैं और मृत्यु के समय वह उन्हें अपने साथ अपने अगले जीवन में ले आता है। इन्हें जीव का स्वभाव कहा जाता है। इस स्वभाव से मनुष्य के आधार पर तीन प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न होती है। इन्हें सात्त्विकी, राजसी और तामसी कहा जाता है। जो लोग सत्त्वगुण से आसक्त होकर मरते हैं, उन्हें दैवी सम्पदा और देवताओं की पूजा का श्रद्धा मिलता है। जो रजोगुण से जुड़ा हुया अवस्थामें मृत्युकी ओर यात्रा करते हैं, उन्हें यक्ष-रक्ष आदि पूजा का श्रद्धा प्राप्त होता है और जो लोग तमोगुण से ग्रसित होकर मरते हैं वे प्रेत-पिशच आदि पूजा का श्रद्धा प्राप्त करते हैं। तो भगवान् का कथन है कि जब

जीव सैकड़ों जन्म भटकने के बाद मानव जीवन प्राप्त करता है, तो उसे मन के सभी प्रकार के संयम का पालन के साथ पवित्र गतिविधियों में अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। तभी उन्हें ईश्वर की कृपा प्राप्त होगी।।२।।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य # श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयः अयं पुरुषो # यो यत् श्रद्धः स एव सः।।३।।

अनुवादः- हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। मनुष्य श्रद्धामय है। जो जिस श्रद्धावाला है, उह स्वयं वही होता है अर्थात् जो व्यक्ति सात्त्विक गुणों का श्रद्धा करता है, वह दैवी संपदा से युक्त होता है और धार्मिक और पवित्र कार्यों में संलग्न होता है, और जो व्यक्ति राजसी या तामसी गुणों का श्रद्धा करता है, वह आसुरी या राक्षसी चरित्र प्राप्त करता है और अधर्म और अशुद्ध जीवन व्यतीत करता है।।३।।

यजन्ते सात्त्विका देवान् # यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणान् च अन्ये # यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

अनुवादः- सात्त्विक लोग देवताओं की पूजा करते हैं, राजसिक लोग यक्षों और राक्षसों की पूजा करते हैं और तामसिक लोग प्रेतों और भूतों की पूजा करते हैं।।४।।

अशास्त्रविहितं घोरं # तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भ-अहंकारसंयुक्ताः # काम-राग-बलान्विताः।।५।।
कर्शयन्तः शरीरस्थं # भूतग्रामम् अचेतसः।
मां च एव अन्तः शरीरस्थं # तान् विद्धि आसुरः निश्चयान्।।६।।

अनुवादः- जो लोग शास्त्र विरुद्ध घोर तपस्या करते हैं वे अभिमानी,

अहंकारी और कामी तथा हिंसक होते हैं। वे मनुष्य अपने शरीर के भीतर स्थित भूतसमूह को और साथ ही शरीर के भीतर स्थित मेरे अंश रूप में जीवात्मा को कष्ट देते हैं। इसीलिए वे आसुरी स्वभाव के माने जाते हैं ।।५-६।।

व्याख्याः- यहाँ भूतों का तात्पर्य पृथ्वी, जल, तेज और आकाश नामक पाँच महाभूतों तथा मन, बुद्धि, अहंकार, दस इंद्रियां, और पांच इंद्रिय-विषय अर्थात् रूप, रस, शब्द, गंध और स्पर्श को तेईस तत्त्वों की समग्रता के रूप में समझा जाता है ।।५-६।।

आहारः तु अपि सर्वस्य # त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञः तपः तथा दानं # तेषां भेदम् इमं शृणु।।७।।

अनुवादः- तीन प्रकार का भोजन लोगों का पसंदीदा होता है। ऐसे यज्ञ, दान और तप भी तीन प्रकार के होते हैं। उनके भेद सुनो।।७।।

आयुः -सत्त्व-बल-आरोग्य # सुख-प्रीति-विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या # आहाराः सात्त्विक-प्रियाः।।८।।

अनुवादः- आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख और मन की प्रसन्नता को बढ़ाने वाला रसीला, मधुर, रुचिकर भोजन सात्त्विक पुरुषों को प्रिय होता है।।८।।

कटु-अम्ल-लवण-अत्युष्ण # तीक्ष्ण-रुक्ष-विदाहिनः।
आहारा राजसस्य इष्टा # दुःख-शोक-आमयप्रदाः।।९।।

अनुवादः- जो भोजन कड़वा, खट्टा, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, शोक, रोग उत्पन्न करने वाला हो, वे भोजन राजस पुरुषों को प्रिय होता है।।९।।

यातयामं गतरसं # पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टम् अपि च अमेध्यं # भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

अनुवादः- जो भोजन बहुत पहले पकाया गया हो, जिसका रस सूख

गया हो, जो दुर्गन्धयुक्त, बासी, जुँठा, अशुद्ध हो, वे भोजन तामस लोगों को प्रिय होते हैं।।१०।।

अफलाकाङ्क्षिभिः यज्ञो # विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यम् एव इति मनः # समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

अनुवाद :- फल की इच्छा किये बिना ही यज्ञ करना चाहिए - इस भाव से जो मन को स्थिर करके शास्त्र के नियमानुसार यज्ञ करते हैं, वे सात्त्विक पुरुष हैं।।११।।

अभिसंधाय तु फलं # दम्भार्थम् अपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ # तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

अनुवाद :- किंतु हे भरतश्रेष्ठ! फल की इच्छा करके अभिमान प्रकट करने के लिए जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस कहलाता है।।१२।।

विधिहीनम् असृष्टान्नं # मन्त्रहीनम् अदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं # तामसं परिचक्षते।।१३।।

अनुवादः- जिस यज्ञ में शास्त्र के नियमों का पालन नहीं किया जाता, भोजन नहीं दिया जाता, जिस यज्ञ मंत्रहीन, दक्षिणाहीन, जो यज्ञ श्रद्धापूर्वक नहीं किया जाता वह यज्ञ तामस कहलाता है।।१३।।

देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञः # पूजनं शौचम् आर्जवम्।
ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च # शारीरं तप उच्यते।।१४।।

अनुवादः- देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुओं और विद्वानों की पूजा, बाह्य और आंतरिक पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा-यह शारीरिक तप कहलाते हैं।।१४।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं # सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्याय अभ्यसनं चैव # वाङ्मयं तप उच्यते।।१५।।

अनुवाद:- जिस कथन से मनुष्य के मन में उद्वेग उत्पन्न न हो, जो सत्य, प्रिय, हितकारी हों और वेद, वेदांग, स्मृति, पुराण, स्तोत्र का पाठ तथा अभ्यास - उसे बाचिक तपस्या कहते हैं।।१५।।

व्याख्या:- इस श्लोक में भगवान् अपने मित्र तथा शिष्य अर्जुन को स्वाध्याय अर्थात् विभिन्न शास्त्रों के पाठ का उपदेश देते हैं। अमरकोश में शास्त्र की परिभाषा कहती है - निर्देशग्रन्थयो: शास्त्रं (नानार्थवर्ग काण्ड-३/५४७)। अर्थात् जो पुस्तक हमें मार्ग दिखाए उसे शास्त्र कहते हैं। वास्तव में, लोगों के लिए कभी-कभी सही जीवन-पद्धति का ठीक से अनुसरण करना संभव नहीं होता है। इसलिए उसे पिता, गुरु आदि प्राज्ञ व्यक्तिओं के उचित मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। लेकिन इसका संबंध सामान्य जीवन से है । मनुष्य के जीवन को सर्वांगसुंदर करने के लिए उसे ऐसी ग्रन्थों की आवश्यकता होती है जो उसे पारमार्थिक शिक्षा का मार्ग दिखाएं और मोक्ष के योग्य बनायें। वेद-पुराणदि ग्रन्थों को शास्त्र कहा जाता है क्योंकि वे लोगों को इसी प्रकार शिक्षा देते हैं। ऐसे में श्रीमद्भगवद्गीता भी एक अमूल्य शास्त्र है। इस पुस्तक में, भगवान् ने न केवल अर्जुन को ज्ञान या सलाह दी, बल्कि वे एक उपयुक्त गुरु की तरह उचित स्थान पर आवश्यक निर्देश भी दिए, जैसे कि उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता के (१८ ÷ ६) तीन षट्क में से प्रत्येक में दो, कुल छह बहुत महत्त्वपूर्ण निर्देश दी हैं। पहले षट्क के तीसरे अध्याय के आठवें श्लोक में उन्होंने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा- 'कुरु कर्म' अर्थात् कर्म करो, छठे अध्याय के ४६वें श्लोक में उन्होंने कहा- 'योगी भव' अर्थात् योगी बनो। दूसरे षट्क के नौवें अध्याय के ३३वें श्लोक में कहा है - 'भजस्व माम' अर्थात् मेरी पूजा करो, नौवें अध्याय के ३४वें श्लोक

में कहा गया है - 'नमस्कुरु' अर्थात् मुझे प्रणाम करो, तृतीय षट्क के १८वें अध्याय के ६२ वें श्लोक में कहा है- 'तमेव शरणं गच्छ' अर्थात् उनकी यानी भगवान् की शरण लो। इस अठारहवें अध्याय के ६६वें श्लोक में कहा गया है- 'मामेकं शरणं ब्रज' अर्थात् मेरी ही शरण में आ जाओ। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता अन्य शास्त्रग्रन्थों की भाँति मानव कल्याण हेतु विभिन्न अमूल्य ज्ञान के भण्डार के रूप में अवतरित हुई है तथा दूसरी ओर, जीवन के वास्तविक निर्देशक की भाँति अर्जुन के माध्यम से संपूर्ण मानव जाति को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता महान शास्त्र है।।१५।।

मन:प्रसाद: सौम्यत्वं # मौनम् आत्मविनिग्रह:।
भावसंशुद्धि: इति एतत् # तपो मानसम् उच्यते।।१६।।

अनुवाद:- मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, मन का संयम, दूसरों के साथ व्यवहार में कपटचारी न होना - ये मानसिक तप कहलाते हैं।।१६।।

श्रद्धया परया तप्तं # तपस्तत् त्रिविधं नरै:।
अफलाकाङ्क्षिभि: युक्तै: # सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

अनुवाद:- फल की आकांक्षा त्यागकर मनुष्य द्वारा अत्यंत श्रद्धापूर्वक किये गये उपरोक्त तीन प्रकार के तप सात्त्विक तप कहलाते हैं।।१७।।

सत्कार-मान-पूजार्थं # तपो दम्भेन च एव यत्।
क्रियते तत् इह प्रोक्तं # राजसं चलम् अध्रुवम्।।१८।।

अनुवाद:- सत्कार,मान और पूजा के लिए अहंकार से की गई तपस्या अनित्य और अनिश्चित होती है। इस तपस्या को राजस तपस्या कहा जाता है।।१८।।

मूढ-आग्रहेण आत्मनो यत् # पीड़या क्रियते तपः।
परस्य उत्सादनार्थं वा # तत् तामसम् उदाहृतम्।।१९।।

अनुवादः-मूर्ख बुद्धि से स्वयं को कष्ट पहुँचाने के लिए या दूसरों के विनाश के लिए जो तपस्या की जाती है, वह तामस कहलाती है।।१९।।

दातव्यम् इति यत् दानं # दीयते अनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च # तत् दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

अनुवादः- 'दान देना कर्तव्य है' ऐसा समझकर देश, काल और स्थान में अनुपकारी अर्थात् जो दान देने वाले से लाभ प्राप्त करता है लेकिन उस दान देने वाले को कुछ भी प्रत्युपकार नहीं देता, ऐसे व्यक्ति को जो दान दिया जाता है वह सात्त्विक दान कहलाता है।।२०।।

यत् तु प्रति-उपकारार्थं # फलम् उद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं # तत् दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

अनुवाद :- किंतु जो दान बदले में लाभ पाने की आशा से अथवा फल प्राप्त करने की इच्छा से किया जाता है अथवा जो दान मन में कष्ट लेकर किया जाता है वह राजस कहलाता है।।२१।।

अदेश-काले यत् दानम् # अपात्रेभ्यः च दीयते।
असत्कृतम् अवज्ञातम् # तत् तामसम् उदाहृतम्।।२२।।

अनुवादः- अयोग्य स्थान में तथा अशुभ समय में, चोर, शराबी, जुआरी आदि अनुपयुक्त पात्र को अथवा अनादरपूर्वक, तिरस्कारपूर्वक दिया गया दान तामस कहलाता है।।२२।।

ॐ तत् सत् इति निर्देशो # ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणाः तेन वेदाश्च # यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

अनुवादः– 'ॐ तत् सत्' ब्रह्म के ये तीन नाम शास्त्र में वर्णित हैं। प्राचीन काल में इन्हीं तीन नामों से ब्राह्मण, वेद और यज्ञों की रचना हुई थी।।२३।।

तस्मात् ॐ इति उदाहृत्य # यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः # सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

अनुवादः– इसीलिए ब्रह्मवादिगण सदैव 'ॐ' शब्द का उच्चारण करके ही शास्त्र के नियमानुसार यज्ञ, दान, तप और कर्म करती हैं।।२४।।

तद् इति अनभिसंधाय # फलं यज्ञ-तपः-क्रियाः।
दानक्रियाः च विविधाः # क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।।२५।।

अनुवादः– मोक्ष की इच्छा रखने वाले लोग फल की आकांक्षा किए बिना 'तत्' शब्द का उच्चारण करके यज्ञ, तप, दान आदि विभिन्न शास्त्रसम्मत कर्म करते हैं।।२५।।

सद्भावे साधुभावे च # सत् इति एतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सत् # शब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

अनुवादः– हे पार्थ! सद्भाव और साधुभाव में 'सत्' इस नाम का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार शुभ कार्यों में भी यह 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है।।२६।।

व्याख्या:- 'सत्' शब्द का अर्थ है जो सदैव विद्यमान है, जो अविनाशी है जैसे कि ब्रह्म और 'असत्' शब्द का अर्थ है जिसका अस्तित्व नहीं है, जो नश्वर है जेसे जीव देह। इसलिए किसी भी शुभ कार्य की शुरुआत में उस शुभ कार्य का फल स्थाई हो, ऐसी कामना से शुभ शब्द 'सत्' का उच्चारण किया जाता है।।२६।।

यज्ञे तपसि दाने च # स्थितिः सत् इति च उच्यते।
कर्म च एव तद्‌र्थीयं # सद् इति एव अभिधीयते।।२७।।

अनुवाद:- यज्ञ, तप और दान में दृढ़ता अर्थात् निष्ठा को 'सत्' कहा जाता है। फिर, इस प्रयोजन के लिए किये जाने वाले सभी पवित्र कर्म भी 'सत्' कहा जाता है।।२७।।

व्याख्या:- शंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म के 'ॐ' 'तत्' 'सत्' इन तीन नामों का माहात्म्य ऐसा है कि यज्ञ, तप आदि कर्म असात्त्विक और निष्फल होने पर भी यदि भगवान् के इन तीन नामों का श्रद्धापूर्वक जप किया जाए तो ये सभी अनुष्ठान सगुण और सात्त्विक बन जाते हैं - ''एतद् यज्ञतप आदि कर्म असात्त्विकं विगुणम् अपि श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मणः अभिधानत्रयप्रयोगेन सगुणं सात्त्विकं भवति''।।२७।।

अश्रद्धया हुतं दत्तं # तपः तप्तं कृतं च यत्।
असद् इति उच्यते पार्थ # न च तत् प्रेत्य नो इह।।२८।।

अनुवाद:- होम, दान, तप और जो कुछ अश्रद्धा से किया जाता है, वे सब 'असद्' हैं। वे न तो परलोक में और न ही इस लोक में कोई फल देते हैं।।२८।।

।। सतरहवाँ अध्याय समाप्त ।।

अठारवाँ अध्याय

मोक्षसन्न्यासयोग

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो # तत्त्वम् इच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषिकेश # पृथक् केशि-निषूदन।।१।।

अनुवाद:-अर्जुन ने कहा - हे महाबाहो! हे हृषिकेश! हे केषिनिषूदन (केशी दानव का नाश करने वाले)! संन्यास और त्याग का तत्त्व क्या है, यह मैं पृथक् पृथक् जानना चाहता हूँ ।।१।।

श्रीभगवान् उवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं # संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं # प्राहुः त्यागं विचक्षणाः।।२।।

अनुवाद:- श्री भगवान् ने कहा- विद्वान लोग कहते हैं कि काम्य कर्मो का त्याग 'संन्यास' है और विचक्षण पुरुष कहते हैं कि सभी कर्मो के फल का त्याग करना 'त्याग' कहलाता है।।२।।

व्याख्या :- पत्नी, पुत्र, धन और स्वर्ग आदि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति, रोग, क्लेश आदि अप्रिय वस्तुओं से छुटकारा, शास्त्रविहित दान, यज्ञ, तप, पूजा आदि शुभ कर्म -जिन्हें कोई चाहे तो करे और न चाहे तो न करे यदि इन्हें न करने में कोई हानि न हो - ये सभी शुभ कर्म काम्यकर्म कहलाते हैं।

यहां 'सर्वकर्म' का अर्थ है भगवान् की भक्ति, देवताओं की पूजा, माता-पिता की भक्ति, बड़ों की सेवा, दान, ध्यान, तपस्या, वर्ण के लिए शास्त्रों द्वारा निर्धारित आजीविका और शरीर से संबंधित आहार आदि निर्धारित सभी कर्म जिन्हें न करने पर नीति, धर्म और व्यवहार में बाधा उत्पन्न होती है।।२।।

त्याज्यं दोषवत् इति एके # कर्म प्राहुः मनीषिणः।
यज्ञ-दान-तपः कर्म # न त्याज्यम् इति च अपरे।।३।।

अनुवादः- कुछ विद्वानों (सांख्य पंडितगण) के अनुसार प्रत्येक कार्य में कोई न कोई दोष अवश्य होता है इसलिये कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये। अन्य विद्वानों (मीमांसकगण) के अनुसार यज्ञ, दान तथा तपस्या इन कार्यों में कोई दोष नहीं है। अतः ये सब कार्य करना चाहिए।।३।।

निश्चयं शृणु मे तत्र # त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र # त्रिविधः संप्रकीर्तितः।।४।।

अनुवादः- हे भरतकुल श्रेष्ठ! हे पुरूषोत्तम! अब त्याग के विषय में मेरा दृढ़ निश्चय सुनो। त्याग तीन प्रकार के होते हैं।।४।।

यज्ञ-दान-तपः-कर्म # न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव # पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

अनुवादः-यज्ञ, दान और तप पवित्र कर्म हैं। इसलिए उन्हें नहीं छोड़ा

जाना चाहिए। ये कर्म विद्वानों को भी पवित्र करते हैं।।५।।

एतानि अपि तु कर्माणि # सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानि इति मे पार्थ # निश्चितं मतम् उत्तमम्।।६।।

अनुवाद :- हे पार्थ! मेरे विचार है कि ये सभी कर्म (यज्ञ, दान और तप) मन से आसक्ति और फल की इच्छा त्यागकर करना चाहिए।।६।।

नियतस्य तु संन्यासः # कर्मणो न उपपद्यते।
मोहात् तस्य परित्यागः # तामसः परिकीर्तितः।।७।।

अनुवादः- परंतु नियत कर्म (यज्ञ, दान और तपस्या) को छोड़ा नहीं जा सकता। मोह से इन सबका त्याग तामस त्याग कहलाता है।।७।।

व्याख्याः- 'नियत कर्म' से तात्पर्य उन सभी कार्यों से है जो लोगों के लिए उनकी वर्ण, आश्रम, स्वभाव और स्थिति के अनुसार किए जाते हैं जैसे यज्ञ, दान, तपस्या, अध्ययन, अध्यापन, उपदेश, युद्ध, प्रजा-पालन, पशु-पालन, कृषि, व्यापार, सेवा, आहारादि कर्म जो शास्त्र ने निर्धारित किया है। नियत कर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि नियत कर्म करना मनुष्य का कर्तव्य है। इन कार्यों का त्याग करना शास्त्रों के अनुसार पाप माना गया है। यदि ये सभी कार्य नहीं किए गए तो समाज के साथ-साथ देश को भी बहुत नुकसान होगा।।७।।

दुःखम् इति एव यत् कर्म # काय-क्लेश-भयात् त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं # नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

अनुवाद :- बहुत से लोग इस डर से काम त्याग देते हैं कि शरीर को

कष्ट होगा। ऐसा त्याग राजस त्याग कहलाता है। ऐसे त्याग से भी त्याग का सच्चा लाभ नहीं मिलता।।८।।

व्याख्या:- भगवान् ने सातवें श्लोक में जो नियत कर्म बताये हैं, वे सभी को करना चाहिये। लेकिन ये सभी कार्य आसानी से नहीं किये जा सकते, इन कार्यों को करने के लिए मानव शरीर, मन और इंद्रियों का बहुत सारे काम करना पड़ता है, अनेक प्रकार की वस्तुओं को एकत्रित करना पड़ता है, अनेक प्रतिबंधों को पार करना पड़ता है, शरीर का सुख छोड़ना पड़ता है, व्रत, उपवास आदि कष्ट सहने पड़ते हैं। इसलिए कुछ लोग इन कार्यों को शरीर के लिए कष्टदायक जानकर त्याग देते हैं। ये त्याग वास्तव में भगवान् द्वारा कहे गए आदर्श त्याग नहीं हैं, भगवान् के अनुसार ये राजस त्याग हैं। इस त्याग से मनुष्य को किसी भी प्रकार का शुभ फल नहीं मिलता है। यह हमेशा याद रखना चाहिए कि भगवान् ने कभी भी सभी प्रकार के कर्मों को त्याग के बारे में बात नहीं की। वे कहते हैं कि बुरे कर्मों को त्याग दो और यदि कोई कार्य शुभ भी हो तो भी उस कर्मों के फल की सभी आसक्तियों और इच्छाओं को त्यागकर उस शुभ कर्म करो। यदि कर्म में आसक्ति है तो उस अच्छे कर्म को करने से भी भगवान् की कृपा कभी प्राप्त नहीं हो सकती।।८।।

कार्यम् इति एव यत् कर्म # नियतं क्रियते अर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं च एव # स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

अनुवाद:- हे अर्जुन! यदि कोई शास्त्रविहित नियत कर्म को कर्तव्य समझकर कर्म के फल की आसक्ति और इच्छा का त्याग करके करता है, तो वह त्याग सात्त्विक त्याग कहलाता है।।९।।

न द्वेष्टि अकुशलं कर्म # कुशले न अनुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो # मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

अनुवाद:- (नियत कर्म करने के लिए) जो व्यक्ति अकुशल अर्थात् कठिन कार्य (जैसे शीतकाल में प्रात: स्नान) से विरत नहीं होता तथा कुशल अर्थात् आरामदायक कार्य (जैसे ग्रीष्म में दोपहर को स्नान) की ओर आकर्षित नहीं होता, जिसकी बुद्धि चंचल नहीं है, अर्थात् जो स्थिर है, जो सत्त्वगुण से युक्त है, जिसे कोई संशय नहीं है, अर्थात् जिसके मन में यह संशय नहीं है कि वह इस प्रकार अपना कर्तव्य करेगा तो उसे वांछित फल मिलेगा या नहीं, वही सच्चा सात्त्विक त्यागी है।।१०।।

न हि देहभृता शक्यं # त्यक्तुं कर्माणि अशेषत:।
य: तु कर्मफलत्यागी # स त्यागी इति अभिधीयते।।११।।

अनुवाद :- शरीरधारी मानव कभी भी कर्म को पूर्णत: नहीं छोड़ सकता। परंतु जो पुरुष कर्म करता है और उस कर्म के फल में आसक्त नहीं होता, वही सच्चा त्यागी कहलाता है।।११।।

अनिष्टम् इष्टं मिश्रं च # त्रिविधं कर्मण: फलम्।
भवति अत्यागिनां प्रेत्य # न तु संन्यासिनां क्वचित्।।१२।।

अनुवाद :- कर्म तीन प्रकार के होते हैं- अनिष्ट कर्म अर्थात् बुरा कर्म, इष्टकर्म अर्थात् अच्छा कर्म और मिश्र कर्म अर्थात् दोनों अनिष्ट कर्म और इष्टकर्म अर्थात् ऐसे कर्म जिनमें अच्छे और बुरे दोनों कर्म होते हैं। जो लोग कर्म के फल के प्रति आसक्ति नहीं छोड़ सकते वे कर्म से बंधे होते हैं और इन तीन प्रकार के कर्मों के अनुसार फल भोगते हैं। लेकिन जो संन्यासी फल की आसक्ति को त्याग सकते हैं वे किसी भी कर्म से बंधे नहीं होते, इसलिए उन्हें कोई कर्मफल नहीं भोगना पड़ता।।१२।।

व्याख्या:- श्रीमद्भगवद्गीता में अनेक स्थानों पर हम कर्मों का फल के

विषय में सुनते हैं। अब हमें यह जानने की आवश्यकता है कि कर्मफल का वास्तव में मतलब क्या है। कर्मों का फल का सही अर्थ क्या है शंकराचार्य ने इसे बहुत ही संक्षिप्त और सुंदर तरीके से समझाया है कि जो पदार्थ बाहरी कर्ता, क्रिया, कर्म आदि कई प्रकार के कारकों से उत्पन्न होता है और जो बाजीगरकी मायाके समान होता है, अविद्या-जन्मा, महामोहकारक और जिसे भूलवश जीवात्मा से जुड़ा हुआ समझा जाता है और जो मूलत: असार होने के कारण शीघ्र नष्ट हो जाता है, वह कर्मफल कहलाता है - ''बाह्यानेककारकव्यापारनिष्पन्नं सद् अविद्याकृतम् इन्द्रजालमायोपमं महामोहकरं प्रत्यगात्मोपसर्पि इव फल्गुतया लयम् अदर्शनं गच्छति इति फलम् इति फलनिर्वचनम्''।।।१२।।

पञ्च-इमानि महाबाहो # कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि # सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

अनुवाद :- हे महाबाहो! सांख्य अर्थात् वेदांत में कहा गया है कि सभी कर्मों की सिद्धि के पीछे पाँच कारण होते हैं। मैं उन्हें तुमसे कहता हुँ, तुम उन्हें सुनो।।१३।।

व्याख्या:- कई लोगों के मन में यह प्रश्न होता है कि 'सांख्य' से क्या तात्पर्य है। शंकराचार्य ने 'सांख्य' शब्द का अर्थ बहुत ही सुंदर और सारगर्भित ढंग से समझाते हुए कहा है कि जिस शास्त्र में जानने योग्य पदार्थों की संख्या अर्थात् गणना की जाती है उसे सांख्य अर्थात् वेदांत कहते हैं - "सांख्ये ज्ञातव्या: पदार्था: संख्यायन्ते यस्मिन् शास्त्रे तत् सांख्यं बेदान्त:।" फिर रामानुजाचार्य कहते हैं कि संख्या शब्द का अर्थ बुद्धि है - "संख्या बुद्धि: इति।" अत: जिस शास्त्र में तत्त्वज्ञान के माध्यम से ज्ञानयोग का प्रतिपादन किया जाता है, उसे सांख्य कहलाता है।

अब हमें यह जानना होगा कि वह तत्त्व क्या है जो सांख्य की विषयवस्तु

है जिसे हमें जानना आवश्यक है। यह तत्त्व है आत्मतत्त्व अर्थात् परमात्मा को जानना। इस परमात्मा के स्वरूप के बारे में शतपथ ब्राह्मण कहता है कि वह जो आत्मा के भीतर निवास करता है लेकिन आत्मा से भी अंतरतम है, जिसे आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसका शरीर, जो आत्मा के भीतर रहता है और आत्मा को नियंत्रित करता है, वह सभी का ज्ञेय सर्वज्ञ परमतत्त्व अमृतरूप परमात्मा है -''य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न बेद यस्यात्मा शरीरम् य आत्मानमन्तरो यमयति शरीरम् स त आत्मान्तर्याम्यमृतः'' (१४।५।३०)। यह परमतत्त्व वह ज्ञान है जो शास्त्रीय बुद्धि के माध्यम से योगी को सूचित करता है कि जिसकी उपकरण शरीर, इंद्रियां, प्राण और जीवात्मा हैं, वह परमतत्त्व परमात्मा ही सभी कार्यों का वास्तविक कर्ता है। यदि कोई इस पूर्ण सत्य को नहीं जानता है, तो जीव के हृदय में सच्चा ज्ञान नहीं आ पाएगा और परिणामस्वरूप वह ईश्वर की परम शरण प्राप्त करने के लिए उपयुक्त नहीं बन पाएगा।।१३।।

अधिष्ठानं तथा कर्ता # करणं च पृथग् विधम्।
विविधाः च पृथक् चेष्टा # दैवं च एव अत्र पञ्चमम्।।१४।।

अनुवादः- उपरोक्त पाँच प्रकारका कारण हैं - (१) अधिष्ठान, (२) कर्ता, (३) करण, (४) विभिन्न प्रकार के चेष्टा और (५)) पांचवां और मुख्य कारण है दैव अर्थात् इस संसार का संचालक परब्रह्म।।१४।।

व्याख्या :- (१) शरीर को अधिष्ठान कहा जाता है क्योंकि जीवात्मा यहीं निवास करता है। (२) जीवात्मा कर्ता है। (३) मन और वाणी तथा हाथ, पैर आदि पाँच इन्द्रियाँ करण हैं। जिसके द्वारा कोई कार्य किया जाता है उसे करण कहते हैं। तो मन, वाणी, हाथ, पैर ये इंद्रियाँ करण हैं, क्योंकि इनके माध्यम से सोचना, चलना, सांस लेना आदि होता है। (४) शरीर और

इंद्रियों से युक्त प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पांच वायुओं की क्रिया को चेष्टा कहते हैं। किसी भी काम में सफलता पाने के लिए चेष्टा करना होगा। शरीर को जीवित रखने के कार्य में सफल होने के लिए इन पांच प्रकार की वायु को लगातार पहल करनी पड़ती है। उनकी यह पहल ही चेष्टा है। (५) भगवान् दैव या परब्रह्म को मुख्य कारण कहते हैं। ऐसे में एक सवाल उठता है। यदि परब्रह्म ही कर्म-सिद्धि का मुख्य कारण है, तो आत्मा उनका एक अंश होने के कारण उसके पास करने को कुछ नहीं बचता क्योंकि जहाँ मुख्य ही सारा कार्य करता है, वहाँ उसके प्रतिनिधि के पास करने के लिए कोई कार्य नहीं होता। इसलिए जीवात्मा को कर्मसिद्धि का दूसरा कारण कहना उचित नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ब्रह्मसूत्र कहता है - ''कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित-प्रतिसिद्धाबैऽयर्थाहेदिभ्यः (२/३/४२)।'' अर्थात् परब्रह्म स्वयं कुछ नहीं करता बल्कि वह जीवात्मा को अनुमति देकर कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। वह जीवात्मा अपने सुख एवं दुःख की रचना स्वयं अपने हाथों से करता है। जीवात्मा परब्रह्म द्वारा नियोजित होकर कर्म में प्रवृत्त होता है। भगवान् के कार्य में कोई पक्षपात नहीं है। ईश्वर जीव के प्रयत्नों पर कृपा करता है और उन्हें सफलता प्रदान करता है। अतः जीवात्मा भी परमात्मा और अपनी बुद्धि द्वारा कर्म में नियोजित होने के हेतु कर्मसिद्धि का कारण है।।१४।।

शरीर-वाक्-मनोभिः यत् # कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा # पञ्च एते तस्य हेतवः।।१५।।

अनुवादः-मनुष्य शरीर, मन और वाणी से जो भी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, उन सभी के ये ही पांच कारण हैं।।१५।।

तत्र एवं सति कर्तारम् # आत्मानं केवलं तु यः।
पश्यति अकृतबुद्धित्वात् # न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

अनुवादः- वास्तव में ये पाँच ही समस्त कर्मों के कारण होने पर भी

जो यह समझता है कि केवल जीवात्मा ही समस्त कर्मों का कर्ता है, वह मूर्ख और दुर्मति है। इसलिये वह इसका सच्चा अर्थ नहीं समझ पाता।।१६।।

यस्य न अहंकृतो भावो # बुद्धिः यस्य न लिप्यते।
हत्वा अपि स इमान् लोकान् # न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

अनुवाद :-जिसके मन में 'मैं ही सब कुछ हूँ', ऐसा अहंकार नहीं है, जो किसी भी कर्म में आसक्त नहीं है, वह यदि इन सब लोगों को मार भी दे, तो भी वास्तव में वह किसी को नहीं मारता अथवा किसी कर्मबन्धन से आबद्ध नहीं होता।।१७।।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता # त्रिविधा कर्म-चोदना।
करणं कर्म कर्ता इति # त्रिविधः कर्म-संग्रहः।।१८।।

अनुवादः- कर्म की मानसिक प्रेरणा ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता से प्राप्त होती है और इस मानसिक प्रेरणा के परिणामस्वरूप इस करण, कर्म और कर्ता से युक्त क्रिया की बाह्य अभिव्यक्ति को कर्मसंग्रह कहा जाता है।।१८।।

व्याख्या :- यहाँ ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता इन तीन शब्दों का अर्थ समझना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, मोटर वाहन बनाना। इस कार्य के लिए किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जो इस कार्य को जानता हो। वह इस मामले के ज्ञाता यानी जानकार हैं। काम करने से पहले उसे यह जानना होगा कि मोटर वाहन वास्तव में कैसा दिखता है। यहां मोटर ज्ञेय यानी ज्ञान की वस्तु है। फिर, उसे मोटर बनाने की तकनीक पता होनी चाहिए। यह उनका ज्ञान है और इस ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की प्रेरणा से जो मोटर वाहन बनती है उसे कर्मसंग्रह कहते हैं।।१८।।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च # त्रिधा एव गुणभेदतः।

प्रोच्यते गुणसंख्याने # यथावत् शृणु तानि अपि।।१९।।

अनुवाद:- सांख्यशास्त्र में सत्त्व, रज और तम तीन गुणों के आधार पर तीन प्रकार के ज्ञान, कर्म और कर्ता का वर्णन किया गया है। मैं उनका वर्णन कर रहा हुँ, तुम सुनो।।१९।।

सर्वभूतेषु येन एकं # भावम् अव्ययम् ईक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु # तत् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

अनुवाद:- इस संसार के सभी प्राणी, जो प्रत्यक्षत: एक दूसरे से पृथक स्थित प्रतीत होते हैं, वे जिस ज्ञान से एक ही परम सत्ता अविनाशी परमात्मा में एक और अखण्ड रूप से स्थित दिखाई देते हैं, वह सात्त्विक ज्ञान है।।२०।।

व्याख्या:- भगवान् ने यहाँ श्रीमद्भगवद्गीता के एक सार तत्त्व को दोहराया है। उन्होंने पहले ही कहा है कि जीव अपने कर्मों के फल के अनुसार जन्म लेता है और देव, मनुष्य, जीव, पशु, वनस्पति आदि विभिन्न शरीर प्राप्त करता है। इसीलिए पुनर्जन्म के बाद वे अलग-अलग शरीरों के साथ नजर आते हैं। परंतु दिखने में भले ही वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हों, परंतु उन सभी में निवास करने वाली आत्मा अलग-अलग शरीरों में भिन्न-भिन्न नहीं है। उदाहरण के लिए, सूर्य की किरणें पृथ्वी की सतह पर सभी जड़ और चेतन वस्तुओं पर प्रतिबिंबित होती हैं। वे सभी निर्जीव और चेतन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न होते हुए भी सूर्य उन सभी पर समान रूप से चमकता है, परंतु सूर्य भिन्न नहीं हैं। वह एक ही है। इसी प्रकार परमात्मा के अंश सभी जीवित शरीरों में एक समान जीवात्मा के अभिन्न रूप में निवास करते हैं। चूँकि परमात्मा एक, अभिन्न और अखण्ड है, उसके अंश जीवात्मा

भी एक, अभिन्न और अखण्ड ही है। लेकिन यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा परमात्मा का अंश है तो फिर परमात्मा अखण्ड नहीं है, क्योंकि अंश कितना भी छोटा क्यों न हो, यदि उसे मूल पदार्थ से अलग कर दिया जाए तो मूल पदार्थ की उतनी ही मात्रा कम हो जाती है। इस विचार का कारण शास्त्रों का अज्ञान है। ईसोपनिषद में कहा गया है- ''पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णम् एव अवशिष्यते।'' अर्थात् यदि पूर्ण से पूर्ण निकाल दिया जाए तो जो शेष बचता है वह भी पूर्ण है। उदाहरण के लिए यदि एक जलते हुए दीपक से हजारों दीपक भी जलाए जाएं तो भी मुख्य दीपक की अग्नि कभी कम नहीं होती और उससे प्रज्वलित दीपक की अग्नि भी मूल दीपक की अग्नि से कभी कम नहीं होती।

लेकिन एक ही समय में सभी प्राणियों में एक ही आत्मा कैसे रहती है? श्रीमद्भागवत-महापुराण का एक उदाहरण इस बात को समझने में किसी के भी मन में कोई संदेह नहीं रहेगा। जब पूर्णावतार परमपुरुष भगवान् कृष्ण अत्याचारी भौमासुर का वध किया और महिलाओं की सुरक्षा के हित में भौमासुर की जेल में कैद सोलह हजार महिलाओं से विवाह किया, तो सोलह हजार महिलाओं के विवाह के लिए अलग-अलग महलों में विवाह की व्यवस्था की गई। श्रीकृष्ण के साथ उनके सभी विवाह एक ही पुण्य लग्न में सुसंपन्न हुए, और हर महल में श्रीकृष्ण अलग-अलग रूपों और सजावटों में एक अखण्ड, अव्यय परमात्मा के रूप में स्वयं मौजूद थे –

अथो मुहूर्ते एकस्मिन् नानागारेषू ताः स्त्रियः।
यथोपयेमे भगवांस्तापवद्रुपधरोऽव्ययः।।

—(१०।५९।४२)

इतना ही नहीं। भगवान् के इस विवाह के बाद एक दिन देवर्षि नारद को अपनी आंखों से यह देखने की कौतूहल हुई कि भगवान् इतनी सारी स्त्रियों से विवाह करने के बाद किस प्रकार वैवाहिक जीवन जी रहे हैं। इसलिए एक दिन वह भगवान् की सोलह हजार पत्नियों के सोलह हजार घरों में गए और देखा कि भगवान् स्वयं हर घर में मौजूद थे–

इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम्।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह।।

—श्रीमद्भागवत-महापुराण (१०।६९।४९)

देवर्षि नारद ने देखा कि कुछ घरों में भगवान् अपनी पत्नी और उद्धव के साथ पासे खेल रहे थे, कुछ घरों में वे बच्चों के पालन-पोषण में व्यस्त थे, कहीं वे देवताओं की पूजा कर रहे थे, कहीं वे रात्रिभोज कर रहे थे, कहीं वे कहीं मंत्रियों से मंत्रणा कर रहे थे, कहीं ब्राह्मणों को धन, आभूषण, गोधन आदि दान कर रहे थे, कहीं वे अपनी पत्नी से बातचीत कर रहे थे, कहीं वे युद्ध के बारे में चर्चा कर रहे थे, कहीं वे याग-यज्ञ कर रहे थे, कहीं वे घोड़े पर सवार होकर मृगया कर रहे थे, कहीं वे भेष बदलकर गुप्त रूप से घूम रहे थे ताकि सभी के इरादे ज्ञात हो जाएं। जहाँ भी नारद उन्हें देख रहे थे, भगवान् अखण्ड अव्यय के रूप में मौजूद थे। इसलिए, अविद्याजन्य बुद्धि के कारण खंड-अखंड का जो विचार प्राकृत मनुष्य के हृदय में प्रकट होता है यह बात भगवान् पर लागू नहीं होता। इसलिए वे जहां भी मौजूद हैं, वे अविभाजित, अभिन्न, अखण्ड रूप में रहते हैं। इसलिए, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि मनुष्य आदि विभिन्न जीव कितने ही अलग-अलग रूप में दिखाई देते हैं, जो वास्तव में तत्त्वज्ञानी हैं वे सभी प्राणियों में एक ही परमात्मा को देखते हैं, न कि अलग-अलग जीवात्मा को। उनका यह ज्ञान सात्त्विक ज्ञान कहलाता है।।२०।।

पृथक्त्वेन तु यत् ज्ञानं # नानाभावान् पृथग् विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु # तत् ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

अनुवाद:- प्रत्येक प्रकार के जीव का आकार अलग-अलग होता है। जो ज्ञान यह सोचता है कि भिन्न-भिन्न प्राणियों के भिन्न-भिन्न आकार होने के कारण प्रत्येक प्राणी के शरीर में भिन्न-भिन्न आत्माएँ रहती हैं, वह राजस ज्ञान कहलाता है।।२१।।

यत् तु कृत्स्नवत् एकस्मिन् # कार्ये सक्तम् अहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवत् अल्पं च # तत् तामसम्
उदाहृतम्।।२२।।

अनुवाद:- जो ज्ञान केवल एक ही वस्तु को पूर्ण मानकर उसमें आसक्त हो और जो युक्तिहीन, अयथार्थ, अल्प और तुच्छ हो, वह ज्ञान तामस कहलाता है।।२२।।

व्याख्या:- भगवान् कहते हैं कि तामस ज्ञान बेतुका, सैद्धांतिक रूप से निरर्थक और महत्त्वहीन है। तामस वास्तव में ज्ञान नहीं है, यह वास्तव में ज्ञान का विपरीत है, वास्तव में यह अज्ञान है। यह ज्ञान पदार्थ की प्रकृति के विषय में यथार्थ ज्ञान नहीं देता। यह ज्ञान मानव मन में यह धारणा उत्पन्न करता है कि वास्तव में भौतिक शरीर ही एकमात्र सत्य है। वह सोचता है कि शरीर और आत्मा एक ही पदार्थ हैं, और कुछ नहीं। इसीलिए वह स्नान-भोजन-विहार आदि कर्मों को ही सत्य मानकर उनमें आसक्त हो जाता है। शंकराचार्य एक सुंदर उपमा के माध्यम से इस बात को व्यक्त किया- ''यथा नग्नक्षपणकादीणां शरीरानुवर्ती देहपरिमाणो जीव ईश्वरो वा पाषाणदार्वादिमात्रं इति एवम् एकस्मिन् कार्ये सक्तम्।'' अर्थात् जैसा कि नग्न

दिगंबर साधु सोचते हैं कि चूंकि आत्मा शरीर में निवास करती है, इसलिए शरीर और आत्मा में कोई अंतर नहीं है, और पत्थर या लकड़ी से बनी मूर्तियाँ मात्र ही भगवान् हैं – ऐसे चिंतन से युक्त ज्ञान तामस ज्ञान कहलाता है जो सदैव परित्याज्य है। इसीलिए भगवान् ने 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग सात्त्विक और राजस के लिए किया है, परंतु तामस के लिए नहीं।।२२।।

नियतं सङ्ग-रहितम् # अरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म # यत् तत् सात्त्विकम् उच्यते।।२३।।

अनुवादः– जो नियत कर्म कर्तापन के सम्बन्ध से रहित और बिना किसी फल प्राप्ति की इच्छा या आसक्ति के तथा बिना किसी राग-द्वेष के किया जाता है, वह कर्म सात्त्विक कहलाता है।।२३।।

यत् तु कामेप्सुना कर्म # साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुल आयासं # तत् राजसम् उदाहृतम्।।२४।।

अनुवादः– जो कर्म मन में फल की इच्छा रखकर बड़े परिश्रम और बड़े अहंकार से किया जाता है, वह कर्म राजस कहलाता है।।२४।।

अनुबन्धं क्षयं हिंसाम् # अनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहात् आरभ्यते कर्म # यत् तत् तामसम् उच्यते।।२५।।

अनुवादः– किसी कार्य को करने के दुष्परिणाम क्या होंगे, धर्म, धन, मान, परिश्रम आदि की किस प्रकार की हानि होगी, क्या स्वयं के जीवन की हानि होगी अथवा किसी पर अत्याचार या हिंसा की जायेगी, स्वयं की क्षमता क्या है - इन सब बातों का विचार किये बिना, मात्र भ्रमवश बिना सोचे विचारे जो कर्म किया जाता है, वह कर्म तामस कहलाता है।।२५।।

मुक्तसङ्गः अनहंबादी # धृति-उत्साह-समन्वितः।
सिद्धि-असिद्ध्योः निर्विकारः # कर्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

अनुवादः- जिसके हृदय में किसी विषय की कोई आकांक्षा या अभिलाषा नहीं है, जो कभी अहंकार नहीं करता और जो धैर्य और उत्साह से काम करता है, जो सफलता या असफलता के प्रति उदासीन रहता है, वह कर्ता सात्त्विक माना जाता है।।२६।।

रागी कर्मफल-प्रेप्सुः # लुब्धो हिंसात्मकः अशुचिः।
हर्ष-शोकान्वितः कर्ता # राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

अनुवादः- जो वस्तुओं में आसक्त है, जिसके हृदय में कर्म के फल की इच्छा है, जो लोभी है, जो दूसरों से ईर्ष्या करता है, जो आंतरिक और बाहरी शौच के लिए निर्धारित दैनिक शौचकर्म का पालन नहीं करता है, जो सफलता में खुशी मनाता है और असफलता में शोक मनाता है उसे राजस कर्ता माना जाता है।।२७।।

व्याख्याः- भगवान् ने इस श्लोक में सात्त्विक जीवन प्राप्त करने के लिए उचित प्रकार से शौचकर्म का पालन करने पर विशेष बल दिया है। दूसरे अध्याय के ६९वें श्लोक में 'संयम' की परिभाषा के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के शौचकर्म की चर्चा की गई है। शौचकर्म किसे कहते हैं इसका उल्लेख शास्त्रों में मिलता है-

अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः।
स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते।।

अर्थात् अभक्ष्य भोजन न करना, बुरे व्यक्तियों से मेल-मिलाप नहीं करना,

अपने धर्म में रहना - इन्हें शौच या शुद्धि कहा जाता है।

अब यह जानना जरूरी है कि अभक्ष्य क्या है और अभक्ष्य क्यों नहीं खाना चाहिए। उपभोग्य वस्तुएं जैसे शराब, मांस आदि अभक्ष्य है। भगवान् श्रीमद्भगवदगीता में कहते हैं कि वह वैश्वानर या जठराग्नि के रूप में सभी जीवित प्राणियों के शरीर में हमेशा मौजूद रहते हैं। कभी भी शराब, मांस आदि का सेवन करके मंदिर में नहीं जाना चाहिए। हमारा शरीर एक मंदिर है और उस मंदिर में भगवान् श्रीकृष्ण का निवास है जिनके पवित्र स्पर्श से वह शरीररूपी मंदिर एक पवित्र तीर्थ बन गया है। इसलिए शरीररूपी पवित्र मंदिर में शराब, मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का प्रवेश कदापि उचित नहीं है।

पवित्र शुद्ध भोजन लोगों को कितना लाभ पहुँचाता है, इसके बारे में छान्दोग्योपनिषद में कहा गया है -

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।।

अर्थात् शुद्ध भोजन मन को शुद्ध करता है, यदि मन शुद्ध है, तो अक्षय स्मृति प्राप्त होती है, यदि अक्षय स्मृति प्राप्त होती है, तो अतीत के सभी बंधन ढीले हो जाते हैं और शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होता है।।२७।।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः # शठो नैष्कृतिकः अलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च # कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

अनुवादः- जो व्यक्ति धर्म और शास्त्रोक्त कर्मों में आसक्त नहीं है, जो बिद्याहीन और अभद्र है, जिसमें विनम्रता की भावना नहीं है, जो शठ है, जो दूसरों का अपमान करता है, जो आलसी, विषादी, दीर्घसूत्री अर्थात् जो किसी कार्य को करने में अत्यधिक समय व्यतीत करता है वह कर्ता तामस माना जाता है।।२८।।

बुद्धेः भेदं धृतेः च एव # गुणतः त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानम् अशेषेण # पृथक्त्वेन धनंजय ।।२९।।

अनुवादः- हे धनंजय! मैं तुमसे सत्त्व, रज और तमोगुण के अनुसार बुद्धि और धृति के तीन प्रकार के भेदों का पूर्णतया अलग-अलग वर्णन कर रहा हूँ। तुम सुनो।।२९।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च # कार्य-अकार्ये भय-अभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति # बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

अनुवादः- हे पार्थ! जिस बुद्धि से मनुष्य धर्मयुक्त कर्मों में रुचि और गलत कर्मों में अरुचि महसूस करता है, वह कार्य करने से डरता है जो शास्त्र सम्मत नहीं है, निडर होकर शास्त्र-अनुमोदित अच्छे कर्म करता है, जान सकते हैं कि जीवन का बंधन क्या है और मोक्ष कैसे प्राप्त करें वह बुद्धि सात्त्विकी है।।३०।।

यया धर्मम् अधर्मं च # कार्यम् च अकार्यम् एव च।
अयथावत् प्रजानाति # बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

अनुवादः- जो बुद्धि ठीक से नहीं जानती कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है, क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, वह बुद्धि राजसी कहलाती है।।३१।।

अधर्मं धर्मम् इति या # मन्यते तमसा-आवृता।
सर्वार्थान् विपरीतान् च # बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

अनुवादः- हे पार्थ! जो बुद्धि अविद्या के अंधकार से ढकी हुई है जिसके कारण लोग अधर्म को धर्म और सभी अच्छे पदार्थों के विपरीत को सही

मानते हैं, वह बुद्धि तामसी कहलाती है।।३२।।

धृत्या यया धारयते # मनः-प्राण-इन्द्रिय-क्रियाः।
योगेन अव्यभिचारिण्या # धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

अनुवादः- हे पार्थ! जिस अविचल धृति अर्थात् धैर्य की सहायता से ध्यान के माध्यम से मन, आत्मा और इंद्रियों की सभी गतिविधियों को धारण यानी नियंतित किया जा सकता है, उसे सात्त्विकी धृति कहा जाता है।।३३।।

यया तु धर्म-काम-अर्थान् # धृत्या धारयते अर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी # धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

अनुवादः- हे अर्जुन! हे पार्थ! जिस धृति के द्वारा सकाम मनुष्य धर्म, अर्थ और काम के भोग में मदमस्त होकर इन सभी वस्तुओं के फल की आकांक्षा करता है, वह धृति राजसी कहलाती है।।३४।।

यया स्वप्नं भयं शोकं # विषादं मदम् एव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा # धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

अनुवाद :-जिस धृति के कारण दुर्बुद्धि मनुष्य स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद अर्थात् आत्म अहंकार नहीं छोड़ पाता, वह धृति तामसी कहलाती है।।३५।।

सुखं तु इदानीं त्रिविधं # शृणु मे भरत-ऋषभ।
अभ्यासात् रमते यत्र # दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

अनुवादः- हे भरतवंशश्रेष्ठ अर्जुन! अब आप मुझसे तीन प्रकार के सुखों को सुनिए जिनके अभ्यास मनुष्य को धीरे-धीरे आनंद की ओर ले

जाता हैं और उनका दु:ख समाप्त हो जाता है।।३६।।

व्याख्या:- भगवान् यहाँ कहते हैं कि जिस सुख के विषय में वे अब अर्जुन को बताने जा रहे हैं वह अभ्यास से प्राप्त होता है। भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि इस सुख के बारे में सुनकर ही उसे नहीं पाया जा सकता। जब कोई व्यक्ति इस लोक और परलोक के सभी अस्थायी सुखों को अपने हृदय से निकाल कर परमात्मा के स्वरूप का चिंतन करने की आदत विकसित कर लेता है, तब उसे परमात्मा की निकटता के रूप में परम सुख का अनुभव होता है और जैसे-जैसे उसके हृदय में इस प्रकार की प्रसन्नता बढ़ती जाएगी, वैसे-वैसे उसके हृदय से सभी दु:ख समाप्त हो जाएंगे और उसके हृदय में गहरी शांति छा जाएगी। परमात्मा की निकटता का आनंद केवल निरंतर अभ्यास से ही प्राप्त किया जा सकता है, किसी अन्य माध्यम से नहीं।।३६।।

यत् तत् अग्रे विषम् इव # परिणामे अमृतोपमम्।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् # आत्मबुद्धि- प्रसादजम्।।३७।।

अनुवाद:- जो सुख पहले तो विषके समान होता है, परंतु अंत में अमृत के समान होता है और जो निर्मल आत्मबुद्धि के प्रसाद यानी प्रसन्नता से उत्पन्न होता है, वह सुख सात्त्विक कहलाता है।।३७।।

व्याख्या :- एकाग्रचित्त होकर परमात्मा के ध्यान में लीन रहने का जो अभ्यास प्राप्त करनी है वह प्रथम अवस्था में अत्यंत कष्टदायक एवं विडम्बनापूर्ण प्रतीत होती है। इस अवस्था में योगी को अनंत कृच्छ्रसाधन से आगे बढ़ना होता है। जो लोग राजसिक और तामसिक सुखों के आदी हैं वे अधिक समय तक इस अवस्था में नहीं रह सकते। इसीलिए वे उस मार्ग को बीच में ही छोड़ देते हैं।।३७।।

विषय-इन्द्रिय-संयोगात् # यत् तत् अग्रे अमृतोपमम्।
परिणामे विषम् इव # तत् सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

अनुवादः- इंद्रियों का विषय के साथ सम्बन्ध होने से जो सुख उत्पन्न होता है और जो पहले तो अमृत के समान मीठा लगता है, परंतु परिणाम में विष के समान लगता है, वह सुख राजस कहलाता है।।३८।।

यत् अग्रे च अनुबन्धे च # सुखं मोहनम् आत्मनः।
निद्रा-आलस्य-प्रमाद-उत्थं # तत् तामसम् उदाहृतम्।।३९।।

अनुवादः- जो सुख भोगने के समय और अनुबन्ध अर्थात् भोगने के बाद आत्मा को मोहित करता है अर्थात् मूर्ख बनाता है और जो सुख निद्रा, आलस्य और प्रमाद इन तीन पदार्थों से उत्पन्न होता है, वह सुख तामस कहलाता है।।३९।।

न तत् अस्ति पृथिव्यां वा # दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैः मुक्तं # यत् एभिः स्यात् त्रिभिः गुणैः।।४०।।

अनुवादः- पृथ्वी या स्वर्ग में या देवताओं में से कोई भी ऐसा नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों से मुक्त हो।।४०।।

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां # शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि # स्वभावप्रभवैः गुणैः।।४१।।

अनुवादः- हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म उनके स्वभावजात गुणों के अनुसार विभाजित हैं।।४१।।

शमो दमः तपः शौचं # क्षान्तिः आर्जवम् एव च।

ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं # ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

अनुवादः- शम यानी बाह्य इंद्रियों का संयम, दम यानी अन्त:करण का संयम, तप यानी शास्त्रीय तपस्या, शौच यानी आंतरिक और बाहरी शुचिता, क्षांति यानी सहनशीलता, आर्जव यानी सरलता, आस्तिक्य यानी शास्त्रों में दृढ़ विश्वास आदि ब्राह्मणों के स्वभावजात कर्म हैं।।४२।।

शौर्यं तेजो धृतिः दाक्ष्यं # युद्धे च अपि अपलायनम्।
दानम् ईश्वरभावः च # क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

अनुवादः- शौर्य, पौरुष, धैर्य, कार्यकुशलता, युद्धभूमि से न भागना, दान देना, प्रजा पर शासन करना, ईश्वरभाव आदि क्षत्रियों के स्वभावजात कर्म हैं।।४३।।

कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यं # वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म # शूद्रस्य अपि स्वभावजम्।।४४।।

अनुवादः- वैश्यों का स्वभावजात कर्म हैं कृषि, गोपालन और व्यापार और शूद्रों का स्वभावजात कर्म है सेवा कार्य।।४४।।

व्याख्याः- इस श्लोक में वर्णित शूद्रों के विषय में यहाँ चर्चा करना आवश्यक है। आज के समाज में धर्मग्रंथों का सही अर्थ न समझ पाने के कारण लोग यह मानते हैं कि धर्मग्रंथों में 'शूद्र' कहे जाने वाले एक वर्ग को हेय दृष्टि से देखा गया है एवं शास्त्रों में कहा गया है कि शूद्रों का कर्तव्य केवल उच्च वर्ग के लोगों के पैरों के नीचे रहना है और इस प्रकार उनका घोर अपमान किया। परंतु वे धर्मग्रन्थों का वास्तविक अर्थ समझने में असफल रहे। जब कोई बंगाली में 'कला' (हिंदि में केला) शब्द का उच्चारण करते हैं तो कुछ सोचते हैं - एक रसदार फल और कुछ सोचते

हैं शिल्प। मनुष्य हर चीज का मूल्यांकन अपनी मानसिक स्थिति के अनुसार करता है। जब भी गीता का पाठ किया जाए तो मन से सभी स्थूल विचारों को निकाल देना चाहिए, अन्यथा गीता के मधुर अमृत का स्वाद लेना संभव नहीं होगा। हमें याद रखना होगा कि यहां शूद्रों के कर्तव्य निर्धारण किया हैं परम निष्पाप, परम पवित्र, सभी प्रकार असूयारहित, चिर-अमलीन मन वाला, शाश्वत, अविनाशी, सभी जीवों के प्रति समदर्शी, सभी जीवों के के प्रति सच्चा सम्मान रखने वाले, सभी जीवों से परम प्रेम करने वाले स्वयं परमात्मा, परब्रह्म, भगवान् श्रीकृष्ण जो समाज में कभी भी किसी को हेय दृष्टि से नहीं देख सकते। भगवान् का कहना है कि शूद्र का कर्तव्य है 'न अतिमानिता' (१६।३) अर्थात् अहंकार रहित होना, किसी से सम्मान की इच्छा न रखना, स्वयं को किसी से श्रेष्ठ न समझना बल्कि स्वयं को सभी से दीन समझना और दूसरों की सेवा करना। भगवान् के इस वचन का महत्त्व कितना गहरा, कितना व्यापक, उन्होंने अपनी इस वाणी से संपूर्ण मानव समाज को कितना महान उपदेश दिया है, यह सामान्य लोगों की समझ में नहीं आता। वस्तुत: स्वयं को सबसे बड़ा समझना वर्तमान समाज के लोगों की एक भयानक मानसिक बीमारी है जो मानव समाज को विनाश की ओर ले जा रही है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने शूद्रों को अभिमानहीन, अहंकाररहित मन रखकर दूसरों की सेवा करने का उपदेश देकर संपूर्ण मानव समाज को एक महान संदेश दिया है कि वे पुन: अभिमानहीन, अहंकाररहित मन के साथ परम पवित्र शूद्रभावसहित लोगों को प्रेम देने के लिए और मनुष्य समाज को उद्धार करने के लिए इस धरती पर अवतरित होंगे। इसीलिए भगवान् एक बार निमाई के रूप में नदिया की परम पवित्र भूमि पर आये। जनता ने देखा कि निमाई, एक परम विद्वान और एक ब्राह्मण की संतान होने के बावजूद,

एक पेड़ से भी अधिक सहनशील, तृण से भी अधिक विनम्र होकर अपने दिल में परम पवित्र शूद्रभाव के साथ, आद्विज चंडाल, म्लेच्छ सभी के पैर छुए, और परम आनंद के साथ वे शिवज्ञान में जीवसेवा की माहात्म्य का प्रचार करने लगे। वास्तव में, यदि हृदय शुद्ध पवित्र शूद्रभाव से नहीं भरा है, तो प्रभावी ढंग से दूसरों की सेवा करना कभी संभव नहीं है और सेवा ही परम धर्म है! इसीलिए शास्त्रों ने शूद्रों को कभी छोटा नहीं माना। बल्कि, एक पवित्रात्मा शूद्र के हृदय में मानव जीवन का सर्वोत्तम धर्म या विशेषता समाहित किया - अहंकार रहित मन और सेवा धर्म की सुगंध जिसका उल्लेख भगवान् कृष्ण आदरपूर्वक करते हैं। लोग शास्त्रों के वचन के सही अर्थ, उद्देश्य और महत्त्व को हृदयंगम करने में विफल रहे हैं। यह शास्त्रों का दोष नहीं है, यह अहंकारी, अज्ञानी लोगों का दोष है।।४४।।

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः # संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्म-निरतः सिद्धिं # यथा विन्दति तत् शृणु।।४५।।

अनुवादः- यदि कोई अपने काम में लगन से लगा रहे तो उसे सफलता मिलती है। मैं आपको बता रहा हूँ कि अगर कोइ समर्पित होकर अपने काम में लगे हैं तो सफलता कैसे हासिल किया जा सकता है। तुम सुनो।।४५।।

यतः प्रवृत्तिः भूतानां # येन सर्वम् इदं ततम्।
स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य # सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

अनुवादः- जिसने सब प्राणियों और उनके प्रयत्नों को उत्पन्न किया है और जो इस विश्व-ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है, यदि मनुष्य अपने कर्मों से उनकी पूजा करे तो सिद्धि प्राप्त कर सकता है।।४६।।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः # परधर्मात् सु-अनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म # कुर्वन् न आप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

अनुवादः- यदि दूसरे के धर्म यानी विशेषताएँ अर्थात् कर्तव्य अच्छे हों और अपने धर्म यानी विशेषताएँ अर्थात् कर्तव्य दोषपूर्ण हों तो भी दूसरे के धर्म को स्वीकार करने की अपेक्षा अपने शास्त्रोक्त कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक पालन करना सर्वथा श्रेष्ठ है। यदि कोई मनुष्य अपने स्वभावनियत शास्त्रविहित कर्तव्यों का भली-भांति पालन करता है तो वह पाप को नहीं प्राप्त होता।।४७।।

व्याख्याः- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र - इन चार वर्णों के लिए शास्त्रों ने कर्म निर्दिष्ट किया है और प्रत्येक वर्ण के लोगों को उस कर्म को करने के लिए नियुक्त किया है। ऐसा करना ही उनका धर्म है। अतः यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्म शास्त्रों के अनुसार ही करना चाहिए। चूंकि न्यायाधीश का कार्य दोषी को कानून द्वारा दंडित करना है। वह स्वेच्छा से ऐसा नहीं कर रहा है, कानून ने उन्हें इस कार्य के लिए नियुक्त किया है। इसलिए ऐसा करके वह कोई अपराध नहीं करेगा, परंतु यदि वह उस अपराधी पर दया करेगा और अपराधी को दंड नहीं देगा तो समाज में अपराधों की संख्या बढ़ जाएगी। परिणामस्वरूप, यदि न्यायाधीश कार्य नहीं करता है, तो उसका पाप अर्जित होगा। लेकिन यह कार्य करके वह कोई अपराध नहीं करेगा क्योंकि उन्होंने कानून द्वारा निर्धारित दंड दिया है। यही उसका कर्तव्य है, यही उसका धर्म है। इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि यदि वह अपने रिश्तेदारों की हत्या के बारे में सोचकर अपने क्षत्र धर्म को त्याग देता है और युद्ध छोड़ देता है और भिक्षा मांगकर अपनी आजीविका कमाने के बारे में निर्णय लेता है तो यह उसके लिए समाज के प्रति अपराध होगा, लेकिन यदि वह लड़ता है, तो वह कोई पाप नहीं करेगा क्योंकि शास्त्र ने ही उसका कर्तव्य निर्दिष्ट किया है। इसकी चर्चा तृतीय अध्याय में विस्तार से की गई है।

यहां यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि श्रीमद्भगवद्गीता में कहीं भी 'धर्म'

शब्द का प्रयोग तथाकथित Religion के संकीर्ण अर्थ में नहीं किया गया है। वस्तुत: भगवान् श्रीकृष्ण को अनेक धर्मों में से किसी एक धर्मविशेष के पक्ष में बोलने की कोई आवश्यकता या प्रश्न ही नहीं थी क्योंकि तब केवल एक ही धर्म अर्थात् सनातन धर्म प्रचलित था। सभी धर्म का एक बड़ा पहलू आचरण के कुछ विशिष्ट नियमों का पालन करना है। परिणामस्वरूप, चूंकि उस समय सनातन धर्म के अलावा किसी अन्य धर्म के अस्तित्व का कोई सबूत नहीं है, इसलिए यह माना जा सकता है कि उन्होंने समाज के प्रबंधन के व्यापक हित में, समाज में सभी को सनातन धर्म की अपनी-अपनी आचार संहिता को पालन करने के लीए प्रोत्साहित किया।

लेकिन, कालांतर में जब संसार में भिन्न-भिन्न धर्मों का उदय या स्थापना हुई तो इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश का निष्कर्ष निकालते हुए, यह कहा जा सकता है कि उन्होंने कहा है कि किसी को भी अपना धर्म छोड़कर दूसरे धर्म की आचार संहिता की ओर आकर्षित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। सभी अपने-अपने धर्म में खुश और संतुष्ट रहें। अपने धर्म के अंदर श्रद्धा और सम्मान के साथ रहना ही सभी के लिए अच्छा है।। ४७।।

सहजं कर्म कौन्तेय # सदोषम् अपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण # धूमेन अग्निः इव आवृता:।।४८।।

अनुवाद:- हे अर्जुन! सहज अर्थात् स्वभावजात यानी अपना स्वाभाविक कर्म, भले ही वह दोषपूर्ण हो, उसे छोड़ना नहीं चाहिए क्योंकि जिस प्रकार आग धुएं से ढकी रहती है, उसी प्रकार सभी कर्मों में कोई न कोई दोष रहता है।।४८।।

व्याख्या:- भगवान् कहते हैं कि सहज अर्थात् स्वभावजात यानी अपना

स्वाभाविक कर्म, भले ही वह दोषपूर्ण हो, उसे छोड़ना नहीं चाहिए क्योंकि सभी कर्मों में कुछ न कुछ दोष तो होता है। जैसे कि भूख मिटाने के लिए भोजन पकाना मनुष्य की स्वाभाविक क्रिया है। अगर यह कार्रवाई नहीं हुई तो लोगों की भूख नहीं मिटेगी। फिर, खाना पकाने के लिए आग की आवश्यकता होती है। लेकिन जब आग जलती है, तो चींटियों सहित कई कीड़ों की मृत्यु अवश्यंभावी है। इस विचार के कारण खाना पकाने के कार्य को त्यागने का अर्थ होगा मनुष्य के स्वाभाविक कार्यों को नकारना, जो व्यापक अर्थों में समीचीन नहीं होगा। इसी प्रकार सामाजिक सुरक्षा के व्यापक हित में क्षत्रियों के लिए लड़ना उनका स्वाभाविक कर्म है। युद्ध का परिणाम रक्तपात, मृत्यु आदि होता है। परंतु यदि अर्जुन यह सोचकर युद्ध छोड़ देता है तो यह उनके लिए अनुचित होगें क्योंकि यह उनके समाज के प्रति अपराध माना जाएगा। इसलिए भगवान् ने उनसे कहा कि किसी को भी अपने स्वाभाविक कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। उदाहरण के लिए, इस श्लोक में 'धर्म' शब्द का प्रयोग चारों वर्णों के लिए निर्दिष्ट कर्म के पालन अर्थ में किया गया है जैसे अर्जुन का धर्म है कि वे अपनी प्रजा की भलाई के लिए सही उद्देश्य के लिए युद्ध लड़े।। ४८।।

असक्त-बुद्धिः सर्वत्र # जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्य-सिद्धिं परामां # संन्यासेन अधिगच्छति।।४९।।

अनुवादः- जो सभी वस्तुओं से अनासक्त है, जिसने सभी प्रकार से मन को जीत लिया है, जिसके हृदय में किसी भी वस्तु की आकांक्षा नहीं है, वह कर्म के फल की इच्छा को त्याग कर परम श्रेष्ठ नैष्कर्म्य-सिद्धि अर्थात् कर्म के चक्र से मुक्ति प्राप्त करता है।।४९।।

व्याख्या :- यहाँ 'नैष्कर्म्य' शब्द की संक्षेप में व्याख्या करना आवश्यक

है। शास्त्रों में सभी वस्तुओं के प्रति आसक्ति छोड़कर तथा कर्म के फल की इच्छा छोड़कर कर्म को 'नैष्कर्म्य' कहा गया है। शंकराचार्य कहते हैं कि निष्क्रिय ब्रह्म ही आत्मा है। जब यह ज्ञान मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हो जाता है, तब उसका सर्वकर्म निवृत्त हो जाता है। तब उसे 'निष्कर्मी' कहा जाता है और 'निष्कर्मा' के भाव को 'नैष्कर्म्य' कहा जाता है और 'नैष्कम्य' की प्राप्ति को 'नैष्कर्म्यसिद्धि' कहा जाता है - यस्मात् निष्क्रियब्रह्मात्मसम्बोधात् स निष्कर्मा तस्य भावो नैष्कमर्यं नैष्कमर्यं च तत् सिद्धि: च सा नैष्कमर्यंसिद्धि:।।।४९।।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म # तथा आप्नोति निबोध मे।
समासेन एव कौन्तेय # निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

अनुवाद:- हे कौन्तेय! नैष्कमर्य अर्थात् कर्म के चक्र से मुक्ति प्राप्त करके ब्रह्म की प्राप्ति की जा सकती है। यही ज्ञान की चरम उपलब्धि है। इस प्रकार मैं तुम्हें संक्षेप में बताता हूँ कि ब्रह्म को कैसे प्राप्त किया जाए। तुम सुनो।।५०।।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो # धृत्या आत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा # रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।

(इस श्लोक का अर्थ प्रकट करने के लिए श्लोक संख्या ५३ से 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' अर्थात् 'ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव करने के योग्य बन सकता है' ये अंश लिया गया है।)

अनुवाद:- सात्त्विक बुद्धि से जुड़कर, धैर्य से मन को संयमित करके, शब्दों आदि पदार्थों का त्याग करके, हृदय से सभी वस्तुओं के प्रति राग या ईर्ष्या को दूर करके (पुरुष ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव करने के योग्य बन

सकता है)।।५१।।

विविक्तसेवी लघु-आशी # यत-वाक्-काय-मानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं # वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।

अनुवादः- एकांत स्थान में रहने वाला अल्प भोजन करने वाला, वाणी, शरीर और मन को संयमित करनेवाला, शारीरिक यात्रा के लिए आवश्यक से परे सभी सुखों का त्याग करनेवाला, वैराग्य का आश्रय करनेवाला, सदैव भगवान् के ध्यान में तल्लीन रहनेवाला (पुरुष ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव करने के योग्य बन सकता है)।।५२।।

अहङ्कारं बलं दर्पं # कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो # ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।

अनुवादः- अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, दानादि भौतिक वस्तुओं ग्रहणका त्याग कर, ममताविहीन अर्थात् आसक्ति रहित तथा शांत अर्थात् केवल आत्मानुभवकारी पुरुष ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव करने के योग्य बन सकता है ।।५३।।

व्याख्याः- हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता में कई शब्द वर्तमान में स्वीकृत अर्थ से थोड़े भिन्न हैं। तो यहाँ हमें अहंकार, बल और दर्प शब्दों का थोड़ा अलग अर्थ मिलता है। अहंकार शब्द से हमारा अभिप्राय सामान्यतः उस अभिमान से है जो मनुष्य के मन में अपने शरीर, यौवन, धन, संपत्ति आदि जैसी सांसारिक चीजों को लेकर रहता है। शंकराचार्य अहंकार, बल, दर्प इन तीन शब्दों का अर्थ बताते हुए कहते हैं कि शरीर आदि इंद्रियों में मनुष्य की आत्म-बुद्धि या अहंभाव को अहंकार

कहा जाता है - "अहङ्करणम् अहङ्कारो देहेन्द्रियादिषु।" इसी अहंकार के कारण लोगों के मन में कर्तापन उत्पन्न हो जाता है। वह सोचता है कि मन, बुद्धि और शरीर द्वारा किये जाने वाले सभी कार्य वास्तव में उसके द्वारा ही किये जाते हैं। इस देहाभिमान को सर्वथा त्यागना ही अहंकार त्यागना कहलाता है। भगवान् की करुणा पाने के लिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह इस देहाभिमान को पूरी तरह त्याग दे। 'बल' के बारे में शंकराचार्य कहते हैं कि इच्छा और आसक्ति से जुड़ी क्षमता को 'बल' कहा जाता है-"बलं सामर्थ्यं कामरागादियुक्तं।" भगवान् कहते हैं कि यह 'बल' सर्वथा वर्जित है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि शरीर की अंतरनिहित शक्ति को बल नहीं कहा जाता क्योंकि वह शक्ति शरीर का स्वाभाविक सामर्थ्य है। इस शक्ति को त्यागना कदापि उचित नहीं है। परंतु अनुचित रूप से कुछ प्राप्त करने के लिए मनुष्य दूसरों पर जो बल प्रयोग करता है वह अन्यायपूर्ण है और सर्वथा वर्जनीय है। शंकराचार्य कहते हैं कि जब कोई व्यक्ति अभिमान और अहंकार के कारण धर्म का उल्लंघन करता है, तो उस अहंकार को दर्प कहा जाता है - दर्पो नाम हर्षान्तरभावी धर्मातिक्रमहेतु।।५३।।

ब्रह्मभूतः प्रसन्न-आत्मा # न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु # मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

अनुवादः- जब कोई व्यक्ति ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है तो उसे मन की प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह किसी भी पार्थिव वस्तु के खो जाने पर शोक नहीं करता है और न ही किसी वस्तु को प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है, संसार के सभी प्राणियों को समान देखता है अर्थात् सभी प्राणियों में परमात्मा की उपस्थिति देखता है और मेरी (परमेश्वर परब्रह्म भगवान् कृष्ण)

परा यानी सबसे बड़ी भक्ति को प्राप्त करता है।।५४।।

व्याख्या:- भक्त भगवान् के प्रति परा यानी सबसे बड़ी भक्ति कब प्राप्त करता हैं? जो सबका ईश्वर है, संपूर्ण जगत् का सृष्टि, स्थिति और संहारका स्वामी हैं, सभी प्रकार के दोषों से संपर्कशून्य है, अपार, अनंत शुभ गुणों का भंडार है, लावण्यसुधा का पारावार, अनंत श्रीसंपन्न, कमल-नेत्र, जीवनवल्लभ उस भगवान् को जब भक्त अपने हृदय में सदा प्रेमभक्ति से महसूस करते हैं तब भक्त भगवान् के प्रति परा यानी सबसे बड़ी भक्ति प्राप्त करता हैं।।५४।।

भक्त्या माम् अभिजानाति # यावान् यः च अस्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा # विशते तदन्तरम्।।५५।।

अनुवाद:- यदि मेरे भक्त मेरे प्रति पराभक्ति प्राप्त करने में सक्षम है, तो वह तत्त्वतः समझ सकता है कि मैं कौन हूँ, मेरा रूप क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, मैं अपनी विभूति के कारण कितना विशाल हूँ और मेरे स्वरूप के बारे में यह सब ज्ञान प्राप्त करके मेरे भक्त मुझमें प्रवेश कर जाता है।।।५५।।

व्याख्या:- यहाँ भगवान् कहना चाहते हैं कि उनके रूप अनंत हैं अर्थात् निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, सगुण साकार, निराकार होकर भी साकार है और साकार होकर भी निराकार है प्रभृति। जब योगी को पराभक्ति प्राप्त हो जाती है, तो वह भगवान् के अद्वैत, अजर, अमर, अव्यय, अविनाशी सभी रूपों को सटीक रूप से जान सकता है। तब उसके हृदय में कोई भेदभाव नहीं रहता। उनकी दृष्टि में निर्गुण निराकार ब्रह्म, सगुण ब्रह्म सब मिलकर एक हो जाते हैं।।५५।।

सर्व-कर्माणि-अपि सदा # कुर्वाणो मद्-व्यपाश्रयः।

मत् प्रसादात् अवाप्नोति # शाश्वतं पदम् अव्ययम्।।५६।।

अनुवादः- मेरे परम भक्त मेरी शरण में आकर यद्यपि सभी कर्म करता है, फिर भी मेरी कृपा से वह मेरी अव्यय अक्षय अविनाशी परमपद को प्राप्त होता है।।५६।।

चेतसा सर्वकर्माणि # मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगम् उपाश्रित्य # मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

अनुवादः- मैं ही एकमात्र पुरुषार्थ हूँ, ऐसा जानकर सब कर्मों को मुझे अर्पण करके, अपने मन को मुझमें समाहित करके, बुद्धियोग को अपनाकर, अर्थात् मैं ही तेरा एकमात्र परम अवलंम्बन हूँ इह दृढ़ विचार के सहित अपने हृदय को मुझमें अर्पण करके अपने सब कर्म करें।।५७।।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि # मत्-प्रसादात् तरिष्यसि।
अथ चेत् त्वम् अहंकारात् # न श्रोष्यसि विङ्क्ष्यसि।।५८।।

अनुवादः- यदि तुम अपना मन मुझे समर्पित कर दोगे तो मेरी कृपा से तुम जीवन की सभी बाधाओं को पार कर जाओगे। परंतु यदि तुम अहंकारपूर्वक मेरी उपदेश की अवज्ञा करोगे तो विनष्ट हो जाओगे।।५८।।

यद् अहङ्कारम् आश्रित्य # न य्योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्या एषः व्यवसायः ते # प्रकृतिः तां नियोक्ष्यति।।५९।।

अनुवादः- यदि तुम अहंकार करके सोचते हो कि मैं युद्ध नहीं करूंगा तो जान लो कि यह तुम्हारा मिथ्या संकल्प है। न चाहो तो भी प्रकृति तुम्हें ये युद्ध लड़ने पर मजबूर कर देगी।।५९।।

स्वभावजेन कौन्तेय # निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं न इच्छसि यत् मोहात् # करिष्यसि अवशः अपि तत्।।६०।।

अनुवादः- हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभावज कर्मों से बंधा हुआ है। आप क्षत्रिय हो, आपका स्वभावज कर्म है लड़ना। परंतु आप मोह से अपने स्वाभाविक कर्मों को नकारते हैं और कहते हैं कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। परंतु अपने स्वभावज कार्यों से प्रेरित होकर और मेरे माया की प्रभाव से अवश होकर, तुम युद्ध करने के लिए बाध्य हो जाओगे।।६०।।

ईश्वरः सर्वभूतानां # हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि # यन्त्र-आरूढानि मायया।।६१।।

अनुवादः- हे अर्जुन! भगवान् सभी के हृदय में निवास करते हैं। वे माया के माध्यम से जीवात्मा को यंत्र के रूप में शरीर में स्थापित करते हैं और सभी को उनके कर्मों के अनुसार घुमा रहे हैं, यानी सभी कर्मे से जुड़ते हैं।।६१।।

तमेव शरणं गच्छ # सर्वभावेन भारत।
तत्-प्रसादात् परां शान्तिं # स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

अनुवादः- हे भारत! तुम भी पूरे मन से उस परमेश्वर की शरण में जाओ। उनकी कृपा से तुम्हें निश्चित ही परम शांति और परम आश्रय प्राप्त होगा।।६२।।

इति ते ज्ञानम् आख्यातं # गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्य एतत् अशेषेण # यथा इच्छसि तथा कुरु।।६३।।

अनुवाद:- इस प्रकार मैंने तुम्हें गुह्य से गुह्यतर ज्ञान समझाया है। अब तुम मेरी उपदेश पर विवेकपूर्वक विचार करके जो चाहो करो।।६३।।

व्याख्या:- हमें इस श्लोक में निहित आंतरिक तात्पर्य को सटीक ढंग से समझना चाहिए। कुछ कमबुद्धि वाले लोग हैं जो कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने भगवान् होते हुए भी अर्जुन को अपने रिश्तेदारों के खिलाफ अत्यधिक विनाशकारी युद्ध में धकेल दिया। लेकिन ये सोच बिल्कुल गलत है। वास्तविक सत्य का ज्ञान न रखने वाले लोग ही ऐसा सोच सकते हैं।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण का शिष्यत्व स्वीकार किया और श्रीकृष्ण से सलाह मांगी। इसलिए, अर्जुन के गुरुपद पर बैठकर, भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को केवल क्या सत्य है और क्या असत्य है इसकी पर्याप्त सलाह दी और सलाह के अंत में एक ज्ञानी और जिम्मेदार सच्चे गुरु की तरह शिष्य अर्जुन को ये बहुमूल्य संदेश दिया - मैंने आपके अनुरोध के अनुसार आपको आवश्यक उपदेश दे दी है। क्या सच है और क्या झूठ, मनुष्य को किस का पालन करना चाहिए और किस से बचना चाहिए ये सच्चाई अब पूरी तरह आपके सामने है। अब आप यह निर्णय लेने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र हैं कि आप क्या करेंगे या क्या नहीं करेंगे, आप कैसे और किस दिशा में आगे बढ़ेंगे यानी आप युद्ध में शामिल होंगे या युद्ध से बचेंगे।

तो यह स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने कभी भी किसी को अपने पंथ का पालन करने के लिए मजबूर नहीं किया, बल्कि चूंकि वे सर्वज्ञ हैं, इसलिए उन्होंने दुनिया को सही और गलत के बीच अंतर और इसके परिणाम के बारे में अपने शिष्य को बताना अपना पवित्र कर्तव्य माना। बिल्कुल इसी

कारण से उन्होंने कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को श्रीमद्भगवद्गीता के ये उपदेश दिए, किसी अपेक्षा से नहीं, क्योंकि उन्हें किसी भी चीज से कोई लगाव नहीं है, किसी चीज को पाने की कोई उम्मीद नहीं है, वे तीन गुणों सत्व, रजः और तम से पूरी तरह परे हैं ।।६३।।

सर्वगुह्यतमं भूयः # शृणु मे परमं वचः।
इष्टः असि मे दृढम् इति # ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

अनुवादः- तुम मेरे सबसे प्रिय हो। इसलिए अब मैं तुम्हें फिर से अपनी सबसे गोपनीय और तुम्हारी कल्याण के लिये सबसे हितकारक उपदेश देता हूँ । तुम सुनो।।६४।।

मन्मना भव मद्भक्तो # मद् याची मां नमस्कुरु।
माम् एव एष्यसि सत्यं ते # प्रतिजाने प्रियः असि मे।।६५।।

अनुवादः- अपना मन मुझमें लगाओ, मेरा भक्त बनो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो। तुम मेरा प्रिय है। इसलिये मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम मुझे पाओगे।।६५।।

व्याख्याः- भगवान् यहां अपने प्रिय शिष्य परम सखा अर्जुन को सत्य वचन देते हुए कह रहे हैं कि यदि भक्त इस प्रकार एकाग्रता और मन की पवित्रता के साथ उनके साधन, भजन, पूजन, आराधना में तल्लीन रहेगा, तो वह निश्चित रूप से उन्हें प्राप्त करेगा। ईश्वर के परम पद को प्राप्त करने के लिए केवल भगवान् को ही सर्वशक्तिमान, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वान्तरयामी, सर्वेश्बर, सर्वव्यापी, सर्व सौंदर्य, माधुर्य ओर ऐश्वर्यके आधार मानकर पूर्ण हृदय से उनके भजन, पूजन, साधन, आराधन में अपना संपूर्ण हृदय समर्पित करके, एक पल के लिए भी उन्हें भूले बिना ईश्वर ही मेरे एकमात्र पालनकर्ता,

स्वामी, रक्षक, परम गति और परम आश्रय है यह जानकर उनमें अपने आप को लीन करके, अपने स्वयं के व्यक्तिगत अस्तित्व का चिंता किये बिना हमेशा उन पर भरोसा करके, सभी परिस्थितियों में उनकी विधान को सत्य और सही मानकर उनके सामने नतमस्तक होकर, उनके सभी निर्देशों को पूर्ण निष्ठा से स्वीकार करके, हृदय का सारा प्रेम और भक्ति उन्हें समर्पित करके, संपूर्ण ब्रह्मांड के सभी जीवित प्राणियों के बीच उनकी उपस्थिति का एहसास करके और इन सभी के प्रति सम्मान, प्रेम, भक्ति, सेवा आदि जैसी विभिन्न गतिविधियों में संलग्न होने पर ही भक्त को ईश्वर की परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो सकता है और केवल तभी भक्त उनके परम पद यानी परम आश्रय को प्राप्त कर सकता है। वास्तव में, उन्हें प्राप्त करने का यही एकमात्र तरीका है। उन्हें किसी अन्य माध्यम से प्राप्त नहीं किया जा सकता। श्वेताश्वतर उपनिषद के मंत्र ३।८ में कहा गया है कि उनके वास्तविक स्वरूप को जानने के अलावा उनके परम पद को प्राप्त करने का कोई अन्य तरीका नहीं है - "नान्य: पन्था विद्यते अयनाय" ।।६५।।

सर्वधर्मान् परित्यज्य # मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्य: # मोक्षयिष्यामि मा शुच:।।६६।।

अनुवाद:- तुम सब धर्मों को त्यागकर मेरी ही शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से बचाऊंगा, शोक मत करो।।६६।।

व्याख्या :- सामान्यत:, धर्म से तात्पर्य उन कार्यों से है जो ईश्वर प्राप्ति, स्वर्ग प्राप्ति, पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं जैसे वेदोक्त धर्म, शास्त्रोक्त धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गार्हस्थ्य धर्म, संन्यास धर्म, राजधर्म, पातिव्रत धर्म, दान धर्म, अहिंसा धर्म। परंतु यहाँ 'धर्म' शब्द का प्रयोग उस अर्थ में नहीं किया गया है। यहां धर्म के अर्थ लोगों द्वारा किये गये

अच्छे-बुरे कर्मों का समुदाय है। अर्थात्, जो देवताओं की पूजा में संलग्न है, उसे देवताओं के पुजारी के रूप में अपना धर्म छोड़ देना चाहिए और अपना मन श्रीकृष्ण में समर्पित कर देना चाहिए, और यदि कोई चोरी का सहारा ले रहा है, तो उसे चोरी के रूप में अपना धर्म भी त्याग देना चाहिए और अपना मन श्रीकृष्ण में लगा देना चाहिए।

शंकराचार्य कहते हैं कि यहाँ धर्म शब्द से अधर्म का भी ग्रहण किया जाता है- ''धर्मशब्देन अत्र अधर्मः अपि गृह्यते।'' मनुष्य पूर्व जन्म के संस्कार के अनुसार जो कुछ भी करता है वही उसका धर्म है, चाहे वह अच्छा हो या बुरा। जीव का लक्ष्य भगवान् सच्चिदानंदघन परब्रह्म श्रीकृष्ण के चरणों में अंतिम शरण लेना है। अच्छे कर्मों में लगे हुए संत-स्वभाव के योगी अपने अच्छे कर्मों के आधार पर निश्चित रूप से उनके चरणों में शरण पाएंगे। लेकिन उन लोगों का क्या होगा जो पाप में लिप्त हैं? पापी का आश्रय उनके चरणों में नहीं हो सकता। तो रास्ता? पापी को तो अंत में भगवान् के चरणकमलों में आश्रय मिलना ही चाहिए! तो उसके मन की दबी इच्छा कैसे पूरी होगी? कठोपनिषद के मंत्र १।२।२४ में कहा गया है कि जब तक पापी पाप के मार्ग नहीं छोड़ेगा, वह भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता - "नाविरतो दुश्चरितात्।" अर्थात् यदि पापी पाप का मार्ग छोड़ दे तो वह उनकी दया का पात्र बन जाएगा और भगवान् कृष्ण ने पहले ही कहा है कि कोई भी कार्य यद्यपि अच्छा होता है फिर भी उसमें कोई न कोई दोष रह ही जाता है। इसीलिए साधु स्वभाव के लोग भी बिना जानकारी के कुछ पाप कर्मों में शामिल हो जाते हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण सबसे पहले सभी को सभी प्रकार के धर्म यानी कर्म को त्यागने और उनके चरणों में शरण लेने की सलाह देते हैं ताकि उनकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त और तेज हो सके।

वास्तव में परम पुरुष परब्रह्म सच्चिदानंदघन सर्वेश्वर सर्वज्ञ सर्वहृदयस्वामी सर्वव्यापक सर्वज्ञान-समाहृति सर्वजन-अभयाश्रय सर्व-स्रोत-परिणति परम दयालु

भगवान् श्रीकृष्ण के अक्षरों के रूप में अवतार श्रीमद्भगवद्गीता के महान उपदेश इस श्लोक के साथ समाप्त होते हैं। यहां हमें श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षाओं के सार का विश्लेषण करने की आवश्यकता है। हमने देखा है कि श्रीमद्भगवद्गीता का मुख्य संदेश यह है कि मानव जीवन का एकमात्र अंतिम लक्ष्य स्वर्ग तक सीमित नहीं बल्कि मोक्ष की प्राप्ति है और मनुष्य को उस मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

फिर, हमें इस मोक्ष की प्राप्ति के लिए भगवान् द्वारा बताए गए दो मार्गों यानी ज्ञान प्राप्ति और अनासक्ति कर्म के बारे में सोचना होगा - हमें इनमें से किसका अनुसरण करना चाहिए। हमारे दिलों में इस संदेह के पैदा होने का वाजिब कारण है। तेरहवें अध्याय के बारहवें श्लोक में भगवान् कहते हैं- "यत् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते" अर्थात् यदि आप उन्हें जान लें तो आपको अमृत यानी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है और इस अठारहवें अध्याय के पचपनवें श्लोक में भगवान् कहते हैं - "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदन्तरम्" – यदि कोई मुझे तत्वत: जानता है, तो वह मेरे भीतर प्रवेश कर सकता है। इन दोनों ही स्थितियों में भगवान् ने भक्त को मोक्ष के लिए ज्ञान योग का सहारा लेने को कहा है। फिर उन्होंने अर्जुन से कर्म करने के लिए कहा – योगस्थ: कुरु कर्माणि (२।४८) अर्थात् तुम योग में स्थित होकर अपना कर्तव्य करो, फिर कहते हैं कि निष्काम मन से काम करने से मनुष्य परम पद को प्राप्त कर सकता है - "असक्तो हि आचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुष:" (३।१९), पुन: कहा गया है कि कर्म करके ही जनकादि राजर्षियों ने सिद्धि प्राप्त की - कर्मणा एव हि संसिद्धिम् आस्थिता जनकादय:(३।२०)। परंतु भगवान् के इन दो कथनों से मन में ऐसी शंका उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है। भगवान् तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में कहते हैं - "ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।" अर्थात् सांख्यों के लिए ज्ञानयोग और योगीयोंके लिए कर्मयोग। अर्थात् उनका स्पष्ट कहना है कि ज्ञान और

कर्म से कोई भी पुरुष को मोक्ष की ओर ले जाता है। लेकिन यदि हम संपूर्ण गीता के तत्त्व को ध्यान से समझें तो पता चलता है कि भगवान् ने ज्ञान को ही मोक्ष का एकमात्र साधन बताया है। लेकिन यदि ऐसा कहा जाता है, तो लोगों के मन में निश्चित रूप से एक भ्रम पैदा हो जाएगा कि यदि भगवान् ने कहा है कि केवल ज्ञान ही मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र साधन है, तो उन्हें कर्म करने के पक्ष में इतने सारे तर्क देकर अर्जुन को भ्रमित करने की क्या आवश्यकता थी? परंतु यह प्रश्न मन में तभी उठेगा जब श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा कहे गए ज्ञान शब्द को व्यापक अर्थ में निर्णय न करके सीमित अर्थ में समझा जाएगा। 'ज्ञान' से भगवान् का तात्पर्य ब्रह्म के बारे में वैदिक ग्रंथों में पाए जाने वाले अनासक्त ज्ञान से है जो निश्चित रूप से योगी को मोक्ष देता है। इसके बारे में कोई संदेह नहीं है। लेकिन भगवान् ने जो कर्म की बात कही है उसमें भी ज्ञान की बात है। भगवान् कहते हैं कि यदि कोई आसक्ति के बिना, ममता के बिना, सुख-दुख, सर्दी-गर्मी, अनुकूल-प्रतिकूल भावनाओं के द्वंद्व के बिना, वैराग्यमय मन के साथ, सभी कार्यों के परिणामों को भगवान् को समर्पित करते हुए कार्य करता है तो वह कार्य उसे परमपद प्राप्त करने के योग्य बनाता है। इस प्रकार कार्य करने से कर्मयोगी के हृदय में गहरी शांति और परम ज्ञान उत्पन्न होता है। अविद्या के कारण ही आत्मा में कार्य, कारक और सकाम विवेक का भेदबुद्धि सदैव कार्यरत रहता है। अनादिकाल से अज्ञान के कारण ही लोगों के हृदय में ये अज्ञानपूर्ण विचार जन्म लेते रहे हैं कि 'कर्म मेरा है, मैं सभी कर्मों का कर्ता हूं, मैं फल के लिए कर्म करता हुँ' इत्यादि। लेकिन जब कोई व्यक्ति आसक्ति के बिना, विषयों के प्रति ममता के बिना, सुख और दुख, सर्दी और गर्मी, पसंद और नापसंद की भावनाओं के बीच द्वन्द्व के बिना, परिणाम की इच्छा के बिना, सभी कार्यों के परिणामों को परमेश्वर भगवान् को समर्पित करने की आदत विकसित करने में सक्षम हो जाता

है तब उससे अज्ञानता का अंधेरा दूर हो जाता है और उसके अंतर में आत्मतत्त्व का पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होता है। तब मनुष्य को धीरे-धीरे एहसास होता है कि वास्तव में वह स्वयं कुछ नहीं करता, जिस शरीर को वह अब तक 'मैं' समझता रहा था, वह वास्तव में 'वह' नहीं है, 'वह' उस नश्वर शरीर के भीतर विद्यमान शाश्वत अविनाशी आत्मा है, वह जो कुछ भी करता है वह वास्तव में आत्मा द्वारा किया जाता है जो सब कुछ करते हुए भी अकर्ता, क्रियाहीन, कर्मफल की आकांक्षारहित है और जिसका इस स्थूल शरीर से कोई संबंध नहीं है। तब उसके हृदय से कर्मप्रवृत्ति का भेदबुद्धि समाप्त हो जाता है और फिर इस परम ज्ञान के कारण वह ईश्वर के परम पद को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि केवल अर्जित ज्ञान ही एक योगी को मोक्ष के योग्य बनाता है, चाहे वह ज्ञान वेदादि शास्त्रों अध्ययन से प्राप्त किया गया हो या निष्काम कर्म के अभ्यास से।।६६।।

इदं ते न अतपस्काय # न अभक्ताय कदाचन।
न च अशुश्रूषवे वाच्यं # न च मां यः अभ्यसूयति।।६७।।

अनुवादः- जो तप रहित है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता, जो मेरी निंदा करता है ऐसे मनुष्य को मेरे यह गीतारूपी परम रहस्यमय उपदेश कभी भी कहना नहीं चाहिए।।६७।।

यः इदं परमं गुह्यं # मद्भक्तेषु अभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा # मामेव एष्यति असंशयः।।६८।।

अनुवादः- जो मेरे इस परम गुप्त तत्त्व को मेरे भक्तों को सुनाएगा, वह मुझमें परा भक्ति करके मुझे अवश्य प्राप्त करेगा।।६८।।

न च तस्मात् मनुष्येषु # कश्चित् मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मात् # अन्यः प्रियतरः भुवि।।६९।।

अनुवादः- (मेरे इस परम गोपनीय तत्त्व को मेरे भक्तों को जो सुनायेगा) इस संसार में उससे बढ़कर मेरा कोई प्रिय नहीं हुया है और भविष्य में भी दुसरा कोई नहीं होगा।।६९।।

अध्येष्यते च य इमं # धर्म्यं संवादम् आवयोः।
ज्ञान-यज्ञेन तेन अहम् # इष्टः स्याम इति मे मतिः।।७०।।

अनुवादः- मेरी मति है कि यदि कोई हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन कर ले तो उसकी ओर से ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरी पूजा होगी।।७०।।

व्याख्याः- भगवान् श्रीकृष्ण ने यहां भक्तों को स्पष्ट संदेश दिया है कि भक्तों को उनकी पूजा करने के लिए कुछ और करने की कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता का श्रद्धा और भक्तिपूर्वक नियमित पाठ करना और अन्य भक्तों को समझाना भी भगवान् श्रीकृष्ण की विधिवत् पूजा करने के बराबर माना जाएगा।।७०।।

श्रद्धावान् अनसूयः च # शृणुयात् अपि यो नरः।
सः अपि मुक्तः शुभान् लोकान् # प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

अनुवादः- कोइ व्यक्ति ईर्षारहित होकर यदि श्रद्धापूर्वक केवल गीता का श्रवण करे तो वह पाप से मुक्त होकर अन्य सभी पुण्यात्माओं की भाँति पुण्यलोकों को प्राप्त कर सकता है।।७१।।

कच्चित् एतं श्रुतं पार्थ # त्वया एकाग्रेण चेतसा।
कच्चित् अज्ञान- संमोहः # प्रनष्टः ते धनंजय।।७२।।

अनुवादः-हे अर्जुन! क्या आप एकाग्रचित्त से मेरी बात सुनी है? धनंजय! क्या इससे अब आपके मन से अज्ञान का भ्रम दूर हो गया है?।।७२।।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिः लब्धा # त्वत्प्रसादात् मया अच्युत।
स्थितः अस्मि गतसन्देहः # करिष्ये वचनं तव।।७३।।

अनुवादः-अर्जुन ने कहा - हे अच्युत! आपकी असीम कृपा से मेरे सारे भ्रम दूर हो गये, मेरी स्मृति पुनः प्राप्त हो गयी (अर्थात् मैं भूल गया था कि मैं क्षत्रिय हूँ और मेरा कर्तव्य अन्याय के विरुद्ध लड़ना है। मुझे अपना वह खोया हुआ ज्ञान पुनः प्राप्त हो गया)। मेरे सारे संदेह दूर हो गये, मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा अर्थात् अब मैं युद्ध करने को तैयार हूँ ।।७३।।

संजय उवाच

इति अहं वासुदेवस्य # पार्थस्य च महात्मनः।
संवादम् इमम् अश्रौषम् # अद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

अनुवादः-संजय ने कहा - इस प्रकार महात्मा वासुदेव और अर्जुन के मुख से मैंने ये विचित्र रोमांचकारी संवाद सुना।।७४।।

व्यासप्रसादात् श्रुतवान् # एतत् गुह्यम् अहं परम्।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् # साक्षात् कथयतः स्वयम्।।७५।।

अनुवादः- व्यासदेवजी की कृपा से आज मैंने इस परम रहस्य योग को स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से सुना।।७५।।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य # संवादम् इमम् अद्भुतम्।
केशव-अर्जुनयोः पुण्यं # हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

अनुवादः- हे राजन्! केशव और अर्जुन से इन विचित्र पुण्यमय संवाद को बार-बार स्मरण करके मेरा शरीर प्रतिक्षण हर्षित हो रहा है।।७६।।

तत् च संस्मृत्य संस्मृत्य # रूपम् अति-अद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् # हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७७।।

अनुवादः- हे राजन्! मैं भगवान् श्रीहरि के उस विचित्र अति अद्भुत विश्वरूप को स्मरण कर के अत्यंत आश्चर्यचकित और पुनः पुनः रोमांचित हो रहा हूँ ।।७७।।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो # यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीः विजयो भूतिः # ध्रुवा नीतिः मतिः मम।।७८।।

अनुवादः- मेरा मत है कि जहाँ योगेश्वर कृष्ण और धुनुर्धर अर्जुन होते हैं, वहाँ श्री, विजय और नीति अटूट अक्षुण्ण रहते हैं।।७८।।

व्याख्याः- श्रीमद्भगवद्गीता के अंतिम श्लोक के माध्यम से राजा धृतराष्ट्र के सारथी संजय धृतराष्ट्र को स्पष्ट रूप से बताना चाहते हैं कि इस युद्ध में कौरवों की हार निश्चित है। अतः यदि वे अपने पुत्रों का कल्याण चाहते हैं तो उन्हें जड़ता त्याग कर समय रहते स्थिति पर नियंत्रण कर लेना चाहिए ताकि उनके पुत्रों युद्ध में हार के कारण आसन्न विनाश से बच सकें।

अंत में दो और बिंदुओं पर चर्चा के बिना आलोचना अधूरा रह जायेगा। सबसे पहले उस महत्त्वपूर्ण संदेश की संक्षेप में चर्चा करना आवश्यक है जो महान ग्रंथ श्रीमद्भगवद्गीता ने विश्व के संपूर्ण मानव समाज को दिया है। भगवान् इस पुस्तक में कहते हैं कि सत्त्व, रजः और तमः प्रकृति के तीन गुण हैं। इन तीन गुणों से छुटकारा पाना बहुत कठिन है। सत्त्वगुण मनुष्य को पवित्र और स [illegible] ता है और रजः और

श्रीमद्भगवद्गीता
समाप्त

तमोगुण मनुष्य के विवेक को नष्ट करके उसे नरकगामी बना देता है। समाज में सदैव पापी और धर्मात्मा लोग रहेंगे। लेकिन लोगों को कभी भी पापी या पाप के मार्ग का अनुसरण या समर्थन नहीं करना चाहिए। पापी का विनाश अवश्यंभावी है। दुष्ट को उसके पाप के मार्ग से हटाने के लिए हर संभव प्रयास करना चाहिए। यदि सर्वोत्तम शांतिपूर्ण प्रयास बिल्कुल फलदायी नहीं होते तो समाज के व्यापक हित में उसे दबाने की जरूरत है।

दूसरे, श्रीमद्भगवद्गीता के अंतिम श्लोक में व्यासदेव ने संजय के मुख से संपूर्ण मानव समाज को एक और महान महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है कि मानव जीवन का अंतिम आधार एकमात्र परमपुरुष परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, वह ही मनुष्य की परम गति, परम ज्ञान, परम आश्रय हैं - जहाँ सत्य है, वहाँ कृष्ण हैं, वहाँ विजय है।।७८।।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता माहात्म्य

सर्वशास्त्रमयी गीता # सर्वदेवमयो हरिः।
सर्व तीर्थमयी गङ्गा # सर्ववेदमयो मनुः।।
गीता सुगीता कर्तव्या # किमनैः शास्त्र-विस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभाय # मुखपद्म-विनिसृता।।
मलनिर्मोचनं पुंसां # गङ्गास्नानं दिने दिने।
सकृत् गीता-अम्भसि स्नानं # संसारमल-नाशनम्।।
संसारसागरं घोरं # तर्तुम् इच्छति यो नरः।
गीतानावं सामासाद्य # पारं याति सुखेन सः।।
यत्र गीता विचारश्च # पठनं पाठनं तथा।
मोदते तत्र श्रीकृष्णो # भगवान् राधया सह।।
गीता इति उच्चार-संयुक्तो # म्रियमाणो गतिं लभेत्।
यद् यत् कर्म च सर्वत्र # गीतापाठ प्रकीर्तिमत्।
तत्तत् कर्म च निर्दोषं # भूत्वा पूर्तम् आप्नुयात्।।

भगवान् श्रीकृष्ण उवाच—

गीता मे हृदयं पार्थ # गीता मे सारम् उत्तमम्।
गीता मे ज्ञानम् अत्युग्रं # गीता मे ज्ञानम् अव्ययम्।।
गीता मे च उत्तमं स्थानं # गीता मे परमं पदम्।
गीता मे परमं गुह्यं # गीता मे परमो गुरुः।।
गीता आश्रये अहं तिष्ठामि # गीता मे परमं गृहम्।
गीताज्ञानं समाश्रित्य # त्रिलोकीं पालयामि अहम्।।

श्लोकों की तालिका

	अध्याय	श्लोक
अ		
अकीर्तिञ्चापि भूतानि	२	३४
अक्षरं ब्रह्म परमं	८	३
अक्षराणाम् अकार अस्मि	१०	३३
अग्निर्ज्योतिरह: शुक्ल:	८	२४
अच्छेद्यो अयम् अदाह्य अयम्	२	२४
अजोपि सन्नव्ययात्मा	४	६
अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च	४	४०
अत्र शूरा महेष्वासा:	१	४
अथ केन प्रयुक्तोऽयम्	३	३६
अथ चित्तं समाधातुं	१२	९
अथ चेत त्वमिमं धर्म्यम्	२	३३
अथ चैनं नित्यजातम्	२	२६
अथवा योगिनामेव	६	४२
अथवा बहुनैतेन	१०	४२
अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा	१	२०
अथैतदप्यशक्तोऽसि	१२	११
अदृष्टपूर्वं हृषितोस्मि	११	४५
अदेशकाले यद्दानम्	१७	२२
अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्	१२	१३
अधर्मं धर्ममिति या	१८	३२
अधर्माभिभवात् कृष्ण	१	४०
अधश्चोर्ध्वं प्रसृता:	१५	२
अधिभूतं क्षरो भाव:	८	४
अधियज्ञ: कथं कोत्र	८	२
अधिष्ठानं तथा कर्ता	१८	१४
अध्यात्मज्ञान-नित्यत्वं	१३	११
अध्येष्यते च य इमं	१८	७०
अनन्तविजयं राजा	१	१६
अनन्तश्चामि नागानाम्	१०	२९
अनन्यचेता: सततम्	८	१४
अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्	९	२२
अनपेक्ष: शुचिर्दक्ष:	१२	१६
अनादित्वात् निर्गुणत्वात्	१३	३१
अनादिमध्यान्तमनन्तबीर्यम्	११	१९
अनाश्रित: कर्मफलम्	६	१
अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च	१८	१२
अनुद्वेगकरं वाक्यम्	१७	१५
अनुबन्धं क्षयं हिंसाम्	१८	२५
अनेकचित्तविभ्रान्ता:	१६	१६
अनेकवक्त्रनयनम्	११	१०
अनेकबाहुदरवक्त्रनेत्रम्	११	१६
अन्तकाले च मामेव	८	५
अन्तवत्तु फलं तेषाम्	७	२३
अन्तवन्त इमे देहा:	२	१८
अन्नाद्भवति भूतानि	३	१४
अन्ये च बहव: शूरा:	१	९
अन्ये त्वेवमजानन्त:	१३	२५
अपरं भवतो जन्म	४	४
अपरे नियतहारा:	४	२९

	अध्याय	श्लोक
अपरेयमितस्तन्यां	७	५
अपर्याप्तं तदास्माकम्	१	१०
अपाने जुह्वति प्राणं	४	२९
अपि चेत सुदुराचारो	९	३०
अपि चेदसि पापेभ्य	४	३६
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य	१	३५
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च	१४	१३
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो	१७	११
अभयं सत्त्वसंशुद्धि:	१६	१
अभिसन्धाय तु फलम्	१७	१२
अभ्यासयोगयुक्तेन	८	८
अभ्यासेप्यऽसमर्थोसि	१२	१०
अमानित्वमदम्भितम्	१३	७
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य	११	२६
अमी हि त्वां सुरसङ्घा:	११	२१
अयति: श्रद्धयोपेतो	६	३७
अयनेषु च सर्वेषु	१	११
अयुक्त: प्राकृत: स्तब्ध:	१८	२८
अवजानन्ति मां मूढा	९	११
अवाच्यवादांश्च बहून्	२	३६
अविनाशि तु तद् विद्धि	२	१७
अविभक्तञ्च भूतेषु	१३	१६
अव्यक्तादीनि भूतानि	२	२८
अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वा:	८	१८
अव्यक्तोक्षर इत्युक्त:	८	२१
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्	२	२५
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं	७	२४
अशास्त्रविहितं घोरं	१७	५

	अध्याय	श्लोक
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं	२	११
अश्रद्दधाना: पुरुषा:	९	३
अश्रद्धया हुतं दत्तं	१७	२८
अश्वत्थ: सर्ववृक्षाणां	१०	२६
असक्तबुद्धि: सर्वत्र	१८	४९
असक्तिरनभिषङ्ग:	१३	९
असत्यमप्रतिष्ठं ते	१६	८
असौ मया हत: शत्रु:	१६	१४
असंयतात्मना योगा	६	३६
असंशयं महाबाहो	६	३५
अस्माकं तु विशिष्टा ये	१	७
अहङ्कारं बलं संश्रिता:	१६	१८
अहङ्कारं बलं परिग्रहम्	१८	५३
अहं क्रतुरहं यज्ञ:	९	१६
अहमात्मा गुडाकेश	१०	२०
अहं वैश्वानरो भूत्वा	१५	१४
अहं सर्वस्य प्रभव:	१०	८
अहं हि सर्वयज्ञानां	९	२४
अहिंसासत्यमक्रोध:	१६	२
अहिंसा समता तुष्टि:	१०	५
अहोवत महत पापं	१	४४

आ

आख्याहि मे को भवान्	११	३१
आढ्योऽभिजनवानस्मि	१६	१५
आत्मसम्भाविता: स्तब्धा:	१६	१७
आत्म्यौपम्येन सर्वत्र	६	३२
आदित्यानामहं विष्णु:	१०	२१

	अध्याय	श्लोक
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं	२	७०
आब्रह्मभुवनाल्लोका:	८	१६
आयुधानामहं वज्रं	१०	२८
आयु:सत्त्वबलारोग्य	१७	८
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं	६	३
आवृतं ज्ञानमेतेन	३	३९
आशापाशशतैर्बद्धा:	१६	१२
आश्चर्यवत् पश्यति	२	२९
आसुरीं योनिमापन्ना:	१६	२०
आहारस्त्वपि सर्वस्य	१७	७
आहुस्त्वामृषय: सर्वे	१०	१३

इ

इच्छाद्वेषसमुत्थेन	७	२७
इच्छा द्वेष: सुखं दु:खं	१३	६
इति गुह्यतमं शास्त्रं	१५	२०
इति ते ज्ञानमाख्यातं	१८	६३
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं	१३	१८
इत्यर्जुनं वासुदेव:	११	५०
इत्यहं वासुदेवस्य	१८	७४
इदन्तु ते गुह्यतमं	९	१
इदं ते नातपस्काय	१८	६७
इदमद्य मया लब्धं	१६	१३
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य	१४	२
इदं शरीरं कौन्तेय	१३	१
इन्द्रियस्येनाद्रयस्यार्थे	३	३४
इन्द्रियाणां हि चरतां	२	६७
इन्द्रियाणि पराण्याहु:	३	४२
इन्द्रियाणि मनोबुद्धि:	३	४०
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं	१३	८
इमं विवस्वते योगं	४	१
इष्टान् भोगान् हि	३	१२
इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं	११	७
इहैव तैर्जित: सर्गो	५	१९

ई

ईश्वर: सर्वभूतानां	१८	६१

उ

उच्चै:श्रवसमश्वानां	१०	२७
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि	१५	१०
उत्तम: पुरुषस्त्वन्य:	१५	१७
उत्सन्नकुलधर्माणां	१	४३
उत्सीदेयुरिमे लोका:	३	२४
उदारा: सर्व एवैते	७	१८
उदासीनवदासीनो	१४	२३
उद्धरेदात्मनात्मानं	६	५
उपद्रष्टानुमन्ता च	१३	२२

ऊ

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था:	१४	१८
ऊधवमूलमध:शाखम्	१५	१

ऋ

ऋषिभिर्बहुधा गीतम्	१३	४

	अध्याय	श्लोक
ए		
एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य	११	३५
एतद् योनीनि भूतानि	७	६
एतन्मे संशयं कृष्ण	६	३९
एतान्यपि तु कर्माणि	१८	६
एतां दृष्टिमवष्टभ्य	१६	९
एतां विभूतिं योगञ्च	१०	७
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय	१६	२२
एवमुक्तो हृषिकेशो	१	२४
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये	१	४६
एवमुक्त्वा ततो राजन्	११	९
एवमुक्त्वा हृषीकेशं	२	९
एवमेतद् यथात्थ त्वम्	११	३
एवं परपम्पराप्राप्तम्	४	२
एवं प्रवर्तितं चक्रं	३	१६
एवं बहुविधा यज्ञा	४	३२
एवं बुद्धेः परं बुद्धा	३	४३
एवं सततयुक्ता ये	१२	१
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म	४	१५
एषा तेभिहिता सांख्ये	२	३९
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ	२	७२
ओ		
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म	८	१३
ओं तत्सदिति निर्देशः	१७	२३
क		
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ	१८	७२
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टः	६	३८
कट्वम्ललवणात्युष्ण	१७	९
कथं न ज्ञेयमस्माभिः	१	३८
कथं भीष्ममहं संख्ये	२	४
कथं विद्यामहं योगिन्	१०	१७
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि	२	५१
कर्मणः सुकृतस्याहुः	१४	१६
कर्मणैव हि संसिद्धिम्	३	२०
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम्	४	१७
कर्मण्यकर्म यः पश्येत्	४	१८
कर्मण्येवाधिकारस्ते	२	४७
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि	३	१५
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य	३	६
कर्शयन्तः शरीरस्थम्	१७	६
कविं पुराणम्	८	९
कस्माच्च ते न नमेरन्	११	३७
क्ङक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं	४	१२
काम एष क्रोध एषः	३	३७
कामक्रोधवियुक्तानां	५	२६
काममाश्रित्य दुष्पुरं	१६	१०
कामात्मानः स्वर्गपराः	२	४३
कामैस्तैस्तैहृतज्ञानाः	७	२०
काम्यानां कर्मणां न्यासं	१८	२
कायेन मनसा बुया	५	११

	अध्याय	श्लोक
कार्पण्यदोषोपहस्वभाव:	२	७
कार्यकारणकर्तृत्वे	१३	२०
कार्यमित्येव यत कर्म	१८	९
कालस्मि लोकक्षयकृत्	११	३२
काश्यश्च परमेष्वास:	१	१७
किं कर्म किमकर्मेति	४	१६
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मम्	८	१
किं नो राज्येन	१	३२
किं पुनर्ब्राह्मणा: पुण्या:	९	३३
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्	११	४६
किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च	११	१७
कुतस्ताकस्मलमिदम्	२	२
कुलक्षये प्रणश्यन्ति	१	३९
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम्	१८	४४
कैर्लिङ्गैस्त्रीन गुणानेतान्	१४	२१
क्रोधाद्भवति संमोह:	२	६३
क्लेशोधिकतरस्तेषाम्	१२	५
क्लैब्यं मास्म गम: पार्थ	२	३
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा	९	३१
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवम्	१३	३४
क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि	१३	२

ग

	अध्याय	श्लोक
गतसङ्गस्य मुक्तस्य	४	२३
गतिर्भर्ता प्रभु: साक्षी	९	१८
गामाविश्य च भूतानि	१५	१३
गुणानेतानतीत्य त्रीन्	१४	२०
गुरूनहत्वा महानुभावान्	२	५

च

	अध्याय	श्लोक
चञ्चलं हि मन: कृष्ण	६	३४
चतुर्विधा भजन्ते माम्	७	१६
चातुर्वण्यं मया सृष्टम्	४	१३
चिन्तामपरिमेयाञ्च	१६	११
चेतसा सर्वकर्माणि	१८	५७

ज

	अध्याय	श्लोक
जन्मकर्म च मे दिव्यम्	४	९
जरामरणमोक्षाय	७	२९
जातस्य हि धरुवो मृत्यु:	२	२७
जितात्मन: प्रशान्तस्य	६	७
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ते	९	१५
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा	६	८
ज्ञानं कर्म च कर्ता च	१८	१९
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता	१८	१८
ज्ञानं तेहं सविज्ञानम्	७	२
ज्ञानेन तु तदज्ञानम्	५	१६
ज्ञेयं यत्तु प्रवक्ष्यामि	१३	१२
ज्ञेय: स नित्यसन्न्यासा	५	३
ज्यायसी चेत कर्मणस्ते	३	१
ज्योतिषामपि तज्ज्योति:	१३	१७

त

	अध्याय	श्लोक
त इमे अवस्थिता युद्धे	१	३३
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य	१८	७७
तत: पदं तत्परिमार्गितव्यम्	१५	४

	अध्याय	श्लोक
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च	१	१३
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते	१	१४
ततः स विस्मयाविष्टो	११	१४
तत क्षेत्रं यच्च यादृक च	१३	३
तत्त्ववित्तु महाबाहो	३	२८
तत्र तं बुद्धिसंयोगं	६	४३
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्	१४	६
तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः	१	२६
तत्रैकस्थं जगत् कृष्णम्	११	१३
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा	६	१२
तत्रैवं सति कर्तारं	१८	१६
तदित्यनभिसन्धाय	१७	२५
तद् विद्धि प्रणिपातेन	४	३४
तद् बुद्धयस्तदात्मनः	५	१७
तपस्विभ्योधिको योगी	६	४६
तपाम्यहमहं वर्षं	९	१९
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि	१४	८
तमुवाच ऋषिकेशः	२	१०
तमेव शरणं गच्छ	१८	६२
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते	१६	२४
तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय	११	४४
तस्मात्त्वमिनाद्रयाण्यादौ	३	४१
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व	११	३३
तस्मात् सर्वेषु कालेषु	८	७
तस्मादज्ञानसम्भूतं	४	४२
तस्मादसक्तः सततं	३	१९
तस्मादेवं विदित्वैनं	२	२५
तस्मादोमितुदाहृत्य	१७	२४
तस्माद् यस्य महाबाहो	२	६८
तस्य संजनयन् हर्षं	१	१२
तं तथा कृपयाविष्टम्	२	१
तं विद्याद्दुःखसंयोग	६	२३
तानहं द्विषतः क्रुरान्	१६	१९
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः	१	२७
तानि सर्वाणि संयम्य	२	६१
तुल्यनिन्दास्तुतिमौना	१२	१९
तेजः क्षमा धृतिः शौचम्	१६	३
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं	९	२१
तेषामहं समुद्धर्ता	१२	७
तेषामेवानुकम्पार्थम्	१०	११
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः	१०	११
तेषां सततयुक्तानां	७	१७
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं	४	२०
त्याज्यं दोषवदित्येके	१८	३
त्रिभिर्गुणमयैर्भावः	७	१३
त्रिविधं नरकस्येदम्	१६	२१
त्रिविधा भवति श्रद्धा	१७	२
त्रैगुण्यविषया वेदाः	२	४५
त्रैविद्या मां सोमपाः	९	२०
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्	११	१८
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः	११	८

	अध्याय	श्लोक
द		
दण्डो दमयतामस्मि	१०	३८
दम्भो दर्पोभिमानश्च	१६	४
दंष्ट्राकरालानि च ते	११	२५
दातव्यमिति यद्दानं	१७	२०
दिवि सूर्यसहस्रस्य	११	१२
दिव्यमाल्याम्बरधरं	११	११
दु:खमित्येव यत् कर्म	१८	८
दु:खेष्वनुद्विग्नमना:	२	५६
दूरेणह्यवरं कर्म	२	४९
दृष्ट्वा तु पाण्डबानीकं	१	२
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं	११	५१
दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण	१	२८
देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ	१७	१४
देवान् भावयतानेन	३	११
देहिनोस्मिन यथा देहे	२	१३
देही नित्यमबध्योयं	२	३०
दैवमेवापरे यज्ञं	४	२५
दैवीसम्पद विमोक्षाय	१६	५
दैवी ह्येषा गुणमयी	७	१४
दोषैरेतै: कूलघ्नानां	१	४२
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं	११	२०
द्यूतं छलयतामस्मि	१०	३६
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा:	४	२८
द्रूपदो द्रौपदेयाश्च	१	१८
द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च	११	३४
द्वाविमौ पुरुषौ लोके	१५	१६
द्वौ भूतसर्गौ लोके	१६	६

	अध्याय	श्लोक
ध		
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे	१	१
धूमेनाव्रियते वह्नि:	३	३८
धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण:	८	२५
धृत्या यया धारयते	१८	३३
धृष्टकेतुश्चेकितान:	१	५
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति	१३	२४
ध्यायतो विषयान पुंस:	२	६२
न		
न कर्तृत्वं न कर्माणि	५	१४
न कर्मणामनारम्भात	३	४
न च तस्मान्मनुष्येषु	१८	६९
न च मत्स्थानि भूतानि	९	५
न च मां तानि कर्माणि	९	९
न च शक्नोम्यवस्थातुं	१	३०
न च श्रेयोनुपश्यामि	१	३१
न चैतदविद्म: कतरन्नो	२	६
न च जायते म्रियते वा	२	२०
न तदस्ति पृथिव्यां वा	१८	४०
न तद् भासयते सूर्यो	१५	६
न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्	११	८
न त्वेवाहं जातु नासं	२	१२
न द्वेष्टाकुशलं कर्म	१८	१०
न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य	५	२०
न बुद्धिभेदं जनयेत्	३	२६
नभ:स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं	११	२४

	अध्याय	श्लोक
नम: पुरस्तादथ पृष्टतस्ते	११	४०
न मां कर्माणि लिम्पन्ति	४	१४
न मां दुष्कृतिनो: मूढा:	७	१५
न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्	३	२२
न मे विदु: सुरगणा:	१०	२
न रूपमेस्येह तथोपलभ्यते	१५	३
न वेदयज्ञाध्ययनै:	११	४८
नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा	१८	७३
न हि कश्चित् क्षणमपि	३	५
न हि ज्ञानेन सदृशं	४	३८
न हि देहभृता शक्यं	१८	११
न हि प्रपश्यामि मम	२	८
नात्यश्नतस्तु योगस्ति	६	१६
नादत्ते कस्यचित् पापं	५	१५
नास्तोस्ति मम दिव्यानां	१०	४०
नान्यं गुणेभ्य: कर्तारं	१४	१९
नायं लोकोस्त्ययज्ञस्य	४	३१
नासतो विद्यते भाव:	२	१६
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य	२	६६
नाहं प्रकाश: सर्वस्य	७	२५
नाहं वेदैर्न तपसा	११	५
नियतस्य तु सन्न्यास:	१८	७
नियतं कुरु कर्म त्वं	३	८
नियतं सङ्गरहितं	१८	२३
निराशीर्यतचित्तात्मा	४	२१
निर्माणमोहा जितसङ्गदोषा	१५	५
निश्चयं शृणु मे तत्र	१८	४
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति	२	४०
नैते स्मृती पार्थ जानन्	८	२७
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि	२	२३
नैव किञ्चित् करोमीति	५	८
नैव तस्य कृतेनार्थो	३	१८

प

	अध्याय	श्लोक
पञ्चेमानि महाबाहो	१८	१३
पत्रं पुष्पं फलं तोयं	९	२६
परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो	८	२०
परं ब्रह्म परं धाम	१०	१२
परं भूय: प्रवक्ष्यामि	१४	१
परित्राणाय साधूनां	४	८
पवन: पवतामस्मि	१०	३१
पश्य मे पार्थ रूपाणि	११	५
पश्यादित्यान् वसून्	११	६
पश्यामि देवांस्तव देव	११	१५
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणां	१	३
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो	१	१५
पापमेवाश्रयेदस्मान्	१	३६
पार्थ नैवेह नामुत्र	६	४०
पितासि लोकस्य	११	४३
पिताहमस्य जगतो	९	१७
पुण्यो गन्ध: पृथिव्यां च	७	९
पुरुष: प्रकृतिस्थो हि	१३	२१
पुरुष: स पर: पार्थ	८	२२

	अध्याय	श्लोक
पुरोधसाञ्च मूख्यं माम्	१०	२४
पूर्वाभ्यासेन तेनैव	६	४४
पृथकत्वेन तु यज ज्ञानं	१८	२१
प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च	१४	२२
प्रकृतिं पुरुषञ्चैव	१३	१९
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य	९	८
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः	३	२९
प्रकृतेः क्रियमाणानि	३	२७
प्रकृत्यैव च कर्माणि	१३	२९
प्रजहाति यदा कामान्	२	५५
प्रयत्नाद् यतमानस्तु	६	४५
प्रयाणकाले मनसाचलेन	८	१०
प्रलेपन् विसृजन् गृह्णन्	५	९
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना	१६	७
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये	१८	३०
प्रसान्तमनसं ह्येनं	६	२७
प्रशान्तात्मा विगतभीः	६	१४
प्रसादे सर्वदुःखानां	२	६५
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां	१०	३०
प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्	६	४१

ब

बलं बलवतामस्मि	७	११
बहिरन्तश्च भूतानां	१३	१५
बहूनां जन्मनामन्ते	७	१९
बहूनि मे व्यतीतानि	४	५
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य	६	६
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा	५	२१
बीजं मां सर्वभूतानां	७	१०
बुद्धियूक्तो जहातीह	२	५०
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोह	१०	४
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव	१८	२९
बुद्धा विशुद्धया युक्तः	१८	५१
बृहत्साम तथा साम्नां	१०	३५
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्	१४	२७
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि	५	१०
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा	१८	५४
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः	४	२४
ब्राह्मणक्षत्रियविशां	१८	४१

भ

भक्त्या त्वनन्यया शक्य	११	५४
भक्त्या मामभिजानाति	१८	५५
भयाद्रणादुपरतं	२	३५
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च	१	८
भवाप्ययौ हि भूतानां	११	२
भीष्मद्रोनणप्रमुखतः	१	२५
भूतग्रामः स एवायं	८	१९
भूमिरापोनलो वायुः	७	४
भूय एव महाबाहो	१०	१
भोक्तारं यज्ञतपसां	५	२९
भोगैश्वर्य प्रसक्तानां	२	४४

	अध्याय	श्लोक
म		
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि	१८	५८
मच्चित्ता मद्गतप्राणाः	१०	९
मत्कर्मकृन्मत्परमो	११	५५
मत्तः परतरं नान्यत्	७	७
मदनुग्राहाय परमं	११	१
मनःप्रसादः सौम्यत्वं	१७	१६
मनुष्याणां सहस्रेषु	७	३
मन्मना भव मत्परायणः	९	३४
मन्मना भव प्रियोसि मे	१८	६५
मन्यसे यदि तच्छक्यं	११	४
मम योनिर्महद् ब्रह्म	१४	३
ममैवांशो जीवलोके	१५	७
मया ततमिदं सर्वं	९	४
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः	९	१०
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं	११	४७
मयि चानन्ययोगेन	१३	१०
मयि सर्वाणि कर्माणि	३	३०
मय्यावेश्य मनो ये मां	१२	२
मय्यासक्तमनाः पार्थ	७	१
मय्येव मन आधत्स्व	१२	८
महर्षः सप्त पूर्वे	१०	६
महर्षीणां भृगुरहं	१०	२५
महात्मानस्तु मां पार्थ	९	१३
महाभूतान्यङ्कारो	१३	५
माञ्च योव्यभिचारेण	१४	२६
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः	१	३४
मा ते व्यथा मा च विमूढ	११	४९
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय	२	१४
मानापमानयोस्तुलाः	१४	२५
मामुपेत्य पुनर्जन्म	८	१५
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य	९	३२
मुक्तोसङ्गोनहंवादी	१८	२६
मूढग्राहेणात्मनो यत्	१७	१९
मृत्युः सर्वहरश्चाहम्	१०	३४
मोघाशा मोघकर्माणो	९	१२
य		
य इदं परमं गुह्यं	१८	६८
य एनं वेत्ति हन्तारं	२	१९
य एवं वेत्ति पुरुषं	१३	२३
यच्चापि सर्वभूतानां	१०	३९
यच्चावहासार्थमसत्कृतोसि	११	४२
यजन्ते सात्त्विका देवान्	१७	४
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्	४	३५
यततो ह्यपि कौन्तेय	२	६०
यतन्तो योगिनश्चैनं	१५	११
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां	१८	४६
यतेन्द्रियमनोबुद्धिः	५	२८
यतो यतो निश्चरति	६	२६
यत् करोषि यदश्नासि	९	२७
यत्तदग्रे विषमिव	१८	३७
यत्तु कामेप्सुन कर्म	१८	२४
यत तु कृत्स्नवदेकस्मिन	१८	२२

	अध्याय	श्लोक
यत्तु प्रत्युपकारार्थं	१७	२१
यत्र काले त्वनावृत्तिम्	८	२३
यत्र योगेश्वर: कृष्ण:	१८	७८
यत्रोपरमते चित्तं	६	२०
यत् सांख्यै: प्राप्यते	५	५
यथाकाशस्थितो नित्यं	९	६
यथा दीपो निवातस्थो	६	१९
यथा नदीनां बहवोम्बु	११	२८
यथा प्रकाशयत्येक:	१३	३३
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं	११	२९
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यात्	१३	३२
यथैधांसि समिद्धोग्नि:	४	३७
यदक्षरं वेद विदो वदन्ति	८	११
यदग्रे चानुबन्धे च	१८	३९
यदहङ्कारमाश्रित्य	१८	५९
यदा ते मोहकलिलं	२	५२
यदादित्यगतं तेज:	१५	१२
यदा भूतपृथग् भावम्	१३	३०
यदा यदा हि धर्मस्य	४	७
यदा विनियतं चित्तं	६	१८
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु	१४	१४
यदा संहरते चायं	२	५८
यदा हि नेनाद्रयार्थेषु	६	४
यदि मामप्रतीकारं	१	४५
यदि ह्यहं न वर्तेयं	३	२३
यदृच्छया चोपपन्नं	२	३२
यदृच्छालाभसन्तुष्टो	४	२२
यद् यदाचरति श्रेष्ठ:	३	२१
यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वम्	१०	४१
यद्यप्येते न पश्यन्ति	१	३७
यया स्वप्नं भयं शोकं	१८	३५
यं यं वापि स्मरन् भावं	८	६
यया तु धर्मकामार्थान्	१८	३४
यया धर्ममधर्मञ्च	१८	३१
यं लब्ध्वा चापरं लाभं	६	२२
यं सन्न्यासमिति प्राहु:	६	२
यं हि न व्यथयन्त्येते	२	१५
य: शास्त्र विधिमुत्सृज्य	१६	२३
य: सर्वत्रानभिस्नेह:	२	५७
यज्ञदानतप: कर्म:	१८	५
यज्ञशिष्टाशिन: सन्तो	३	१३
यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र	३	९
यज्ञे तपसि दाने च	१७	२७
यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्	३	१७
यसात्वनाद्रयाणि मनसा	३	७
यस्मात् क्षरमतीतोहं	१५	१८
यस्मान्नोद्विजते लोको	१२	१५
यस्य नाहंकृतो भावो	१८	१७
यस्य सर्वे समारम्भा:	४	१९
यातयामं गतरसं	१७	१०
या निशा सर्वभूतानां	२	६९
यामिमां पुष्पितां वाचं	२	४२
यावत् संजायते किञ्चित्	१३	२६
यावदेतान् निरीक्षेहं	१	२१
यावानर्थ उद्पाने	२	४६
यान्ति देवव्रता देवान्	९	२५
युक्त: कर्मफलं त्यक्त्वा	५	१२
युक्ताहारविहारस्य	६	१७

	अध्याय	श्लोक
युञ्जन्नेवं . नियतमानस:	६	१५
युञ्जन्नेवं . विगतकल्मष:	६	२८
युधामन्युश्च विक्रान्त:	१	६
ये चैव सात्त्विका भावा:	७	१२
ये तु धर्मामृतमिदं	१२	२०
ये तु सर्वाणि कर्माणि	१२	६
ये त्वक्षरमनिर्देश्यं	१२	३
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो	३	३२
येप्यन्यदेवताभक्ता:	९	२३
ये मे मतमिदं नित्यम्	३	३१
ये यथा मां प्रपद्यन्ते	४	११
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य	१७	१
येषां त्वन्तगतं पापं	७	२८
ये हि संस्पर्शजा भोगा	५	२२
योऽन्त:सुखोन्तराराम:	५	२४
योगयुक्तो विशुद्धात्मा	५	७
योगसंन्यस्तकर्माणां	४	४१
योगस्थ: कुरु कर्माणि	२	४८
योगिनामपि सर्वेषां	६	४७
योगी युञ्जीत सततं	६	१०
योत्स्यमानानवेक्षेहं	१	२३
यो न हृष्यति न द्वेष्टि	१२	१७
यो मामजमनादिञ्च	१०	३
यो मामेवमसंमूढो	१५	१९
यो मां पश्यति सर्वत्र	६	३०
यो यो यां यां तनुं	७	२१
योयं योगस्त्वया प्रोक्त:	६	३३

	अध्याय	श्लोक
र		
रजसि प्रलयं गत्वा	१४	१५
रजस्तमश्चाभिभूय	१४	१०
रसोहमप्सु कौन्तेय	७	८
रागद्वेषविमुक्तैस्तु	२	६४
रजो रागात्मकं विद्धि	१४	७
रागी कर्मफलप्रेप्सु	१८	२७
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य	१८	७६
राजविद्या राजगुह्यम्	९	२
रुद्राणां शङ्करश्चास्मि	१०	२३
रुद्रादित्या वसवो ये च	११	२२
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं	११	२३
ल		
लभन्ते ब्रह्मनिर्बाणं	५	२५
लेलिह्यसे ग्रसमान:	११	३०
लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा	३	३
लोभ: प्रवृत्तिरारम्भ:	१४	१२
व		
वक्तुमर्हस्यशेषेण	१०	१६
वक्त्राणि ते त्वरमाणा	११	२७
वहिरन्तश्च भूतानां	१३	१५
वायुर्यमोग्निर्वरुण:	११	३९
वासांसि जीर्णानि यथा	२	२२
विद्याविनयसम्पन्ने	५	१८
विधिहीनमसृष्टान्नं	१७	१३
विविक्तसेवी लघ्वाशी	१८	५२

	अध्याय	श्लोक
विषया विनिवर्तन्ते	२	५९
विषयेन्द्रियसंयोगात	१८	३८
विस्तरेणात्मनो योगं	१०	१८
विहाय कामान् यः सर्वान्	२	७१
बीजं मां सर्वभूतानां	७	१०
वीतरागभयक्रोधाः	४	१०
वृष्णीणां वासुदेवोस्मि	१०	३७
वेदानां सामवेदोस्मि	१०	२२
वेदाविनाशिनं नित्यं	२	२१
वेदाहं समतीतानि	७	२६
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु	८	२८
वेपथुश्च शरीरे मे	१	२९
व्यवसायात्मिका बुद्धिः	२	४१
व्यामिश्रेणेव वक्येन	३	२
व्यासप्रसादात् श्रुतवान्	१८	७५
श		
शक्नोतीहैव यः सोढुं	५	२३
शनैः शनैरुपरमेद्	६	२५
शमो दमस्तपःशोचं	१८	४२
शरीरवाङ्मनोभिर्यत	१८	१५
शरीरं यदवाप्नोति	१५	८
शुक्लकृष्णे गति ह्येते	८	२६
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य	६	११
शुभाशुभफलैरेवं	९	२८
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं	१८	४३
श्रद्धया परया तप्तं	१७	१७
श्रद्धावाननसूयश्च	१८	७१

	अध्याय	श्लोक
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं	४	३९
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते	२	५३
श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात्	४	३३
श्रेयान् स्वधर्मो भयावहः	३	३५
श्रेयान् स्वधर्मो किल्विषम्	१८	४७
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज	१२	१२
श्रोत्रादीनीन्द्रयाण्यन्ये	४	२६
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनञ्च	१५	९
स		
स एवायं मया तेद्य	४	३
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो	३	२५
सखेति मत्वा प्रसभं	११	४१
स घोषो धार्तराष्ट्राणां	१	१९
सङ्करो नरकायैव	१	४१
सङ्कल्पप्रभवान् कामान्	६	२४
सततं कीर्तयन्तो मां	९	१४
स तया श्रद्धया युक्तः	७	२२
सत्कारमानपूजार्थं	१७	१८
सत्त्वं रजस्तम इति	१४	५
सत्त्वं सुखे सञ्जयति	१४	९
सत्त्वात् संजायते ज्ञानं	१४	१७
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य	१७	३
सदृशं चेष्टते स्वस्याः	३	३३
सद्भावे साधुभावे च	१७	६
सन्तुष्टः सततं योगा	१२	१४
सन्न्यासस्तु महाबाहो	५	६
सन्न्यासस्य महाबाहो	१८	१
सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण	५	१

	अध्याय	श्लोक
सन्न्यास: कर्मयोगश्च	५	२
समदु:खसुख: स्वस्थ:	१४	२४
समं कायशिरोग्रीवं	६	१३
समं पश्यन् हि सर्वत्र	१३	२८
समं सर्वेषु भूतेषु	१३	२७
सम: शत्रौ च मित्रे च	१२	१८
समोहं सर्वभूतेषु	९	२९
सर्गाणामादिरन्तश्च	१०	३२
सर्वकर्माणि मनसा	५	१३
सर्वकर्माण्यपि सदा	१८	५६
सर्वगुह्यतमं भूय:	१८	६४
सर्वत: पाणिपादं तत्	१३	१३
सर्वद्वाराणि संयम्य	८	१२
सर्वद्वारेषु देहेस्मिन्	१४	११
सर्वधर्मान् परित्यज्य	१८	६६
सर्वभूतस्थमात्मानं	६	२९
सर्वभूतस्थितं यो मां	६	३१
सर्वभूतानि कौन्तेय	९	७
सर्वभूतेषु येनैकं	१८	२०
सर्वमेतदृतं मन्ये	१०	१४
सर्वयोनिषु कौन्तेय	१४	४
सर्वस्य चाहं हृदि	१५	१५
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि	४	२७
सर्वेन्द्रियगुणाभासं	१३	१४

	अध्याय	श्लोक
सर्वेप्येते यज्ञविदो	४	३०
सहजं कर्म कौन्तेय	१८	४८
सहयज्ञा: प्रजा: सृष्ट्वा	३	१०
सहस्रयुगपर्यन्तम्	८	१७
संनियमोन्द्रियग्रामं	१२	४
साधिभूताधिदैवं मां	७	३०
सांख्ययोगौ पृथग् बाला:	५	४
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म	१८	५०
सुखेदु:खे समे कृत्वा	२	३८
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्	६	२१
सुखं त्विदानीं त्रिविधं	१८	३६
सुदुर्दर्शमिदं रूपं	११	५२
सुहिन्मित्रार्युदासीन्	६	९
सेनयोरुभयोर्मध्ये	१	२१
स्थाने हृषीकेश तव	११	३६
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा	२	५४
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्	५	७
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य	२	३१
स्वभावजेन कौन्तेय	१८	६०
स्वयमेवात्मनात्मानं	१०	१५
स्वे स्वे कर्मण्यभिरत:	१८	४५

ह

	अध्याय	श्लोक
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं	२	३७
हन्तु ते कथयिष्यामि	१०	१९